हिन्दी
वार्षिकी
प्रधान सम्पादक
डा॰ नगेन्द्र
८०५
नगे/हि-१

हिन्दी-वार्षिकी : १९६०

(हिन्दी-साहित्य की वार्षिक प्रगति का मूल्यांकन करनेवाली पुस्तक-पत्रिका)

प्रधान सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

भारती साहित्य मन्दिर

(एस० चन्द एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध)

फव्वारा - दिल्ली

विषय-क्रम

३. शोध-कार्य

सम्पादकीय

वार्षिकी के इस प्रथम अंक में १ जनवरी '६० से लेकर ३१ दिसम्बर ६० तक प्रकाशित हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। यह ठीक है कि हिन्दी जैसी समृद्ध और व्यापक भाषा के साहित्य की प्रगति को एक वर्ष की सीमा में बांधकर देखने की योजना साहित्यिक या ऐतिहासिक—किसी भी दृष्टि से परिपूर्ण नहीं मानी जा सकती, किन्तु वर्ष ही तो मिलकर युग का निर्माण करते हैं और खण्ड का परिप्रेक्षण भी पूर्ण को समझने में सहायक हो सकता है यदि परिप्रेक्ष्य स्पष्ट एवं अविकल है। इस दृष्टि से हमारा विश्वास है कि वार्षिकी का महत्त्व सामयिक रहकर भी स्थायी हो सकेगा।

साहित्य के विषय में हमारी अपनी मान्यताएँ हैं जो पिछले पच्चीस वर्षों के चिन्तन-अभ्यास से बहुत-कुछ स्थिर एवं बद्धमूल हो चुकी हैं। परन्तु वार्षिकी के सम्पादन में हमने अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं का, कम-से-कम प्रत्यक्ष रूप में, आरोपण नहीं होने दिया। हमारे सहयोगियों का वृत्त व्यापक है—हमने आज के ऐसे अनेक जागरूक विचारकों और आलोचकों को सादर आमन्त्रित किया है जिनके दृष्टिकोण न केवल हमारे दृष्टिकोण से भिन्न हैं वरन् परस्पर भी भिन्न हैं।

परिवर्तन का महत्त्व होने पर भी जीवन और साहित्य में कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो परिवर्तन के बीच भी प्रकारान्तर से विद्यमान रहते हैं। रागतत्त्व और ज्ञान के साहित्य में बुद्धितत्त्व के विकास द्वारा चेतना का परिष्कार किसी-न-किसी रूप में, किसी-न-किसी प्रकार से, साहित्य को करना पड़ता है—इसे चाहे रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना कहिये, या कल्पना का रंजन, या चेतना का उन्नयन। आलोचना विविध मार्गों से इसी तत्त्व के अनुसन्धान में प्रवृत्त होती है और इसी के आधार पर सदसत् का निर्णय करती है। आलोच्य ग्रन्थों के चयन में वार्षिकी के सामने यही आदर्श रहा है, यद्यपि समीक्षा में हमने अपने समीक्षक-मण्डल को मताभिव्यक्ति के लिए पूरी स्वतन्त्रता दी है। सम्पादक-समिति ने वहीं हस्तक्षेप किया है जहाँ उसे समीक्षा में निर्माण के स्थान पर संहार की प्रवृत्ति उभरती दिखाई दी है। एक वाक्य में वार्षिकी का दृष्टिकोण मूलतः साहित्यिक एवं रचनात्मक रहा है और रहेगा।

× × × ×

वर्ष १९६० को, जो काल के अनन्त प्रसार में पूरी शक्ति के साथ वर्तमान रहकर अतीत का अंग बन गया, हिन्दी साहित्य का अध्येता किस लिए याद करेगा?

गति और सक्रियता की दृष्टि से यह वर्ष अन्य वर्षों की अपेक्षा पीछे नहीं रहा । रस के साहित्य और ज्ञान के साहित्य—दोनों ही क्षेत्रों में—हिन्दी में प्रभूत प्रकाशन हुआ जो न केवल परिमाण वरन् गुण की दृष्टि से भी हिन्दी-विरोधियों के भ्रम-निवारण के लिए पर्याप्त है । वास्तव में स्वतन्त्रता के बाद भारत की शक्ति संगठित होकर इतने उत्साह से योजना और निर्माण के कार्य में संलग्न है कि भारतीय साहित्यकार को सर्जना के लिए अपेक्षित आत्म-विस्मरण की सुविधा पहले से आज कम है । इसीलिए इस युग में रचनात्मक-साहित्य का जितना विकास हुआ है उतना सर्जनात्मक साहित्य का नहीं । आलोच्य वर्ष भी इसका अपवाद नहीं है—ज्ञान के क्षेत्र में जहाँ हिन्दी विश्वकोष भाग १', 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १६' प्रकाशित हुए, आलोचना के क्षेत्र में जहाँ 'अभिनवभारती' जैसे दुर्लभ ग्रन्थ का सम्पादन तथा हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत हुआ, वहाँ रस के साहित्य में कदाचित् इस कोटि की उपलब्धियाँ विरल ही रहीं । कविता का रसिक तो १९६० को शायद बहुत चाव से याद न करे, किन्तु कथा-साहित्य के विकास में 'झूठा सच' और सुहाग के नूपुर' के द्वारा प्रस्तुत वर्ष ने स्थायी योगदान किया है और हिन्दी कहानी की गति भी नहीं रुकी । नाटक के क्षेत्र में कोई स्मरणीय कृति या कृतित्व सामने नहीं आया, किन्तु हिन्दी नाटक की रंगमंच के साथ घनिष्ठता बढ़ी है, यह शुभ लक्षण है ।

हमें विश्वास है कि सब मिलाकर वर्द्धमान हिन्दी साहित्य का भविष्य १९६० के योगदान को साभार स्वीकार करेगा ।

—नगेन्द्र

हिन्दी साहित्य की प्रगति

हिन्दी कविता : १९६०

श्री० भारतभूषण अग्रवाल

हिन्दी कविता के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि कवियों का अनेक पीढ़ियाँ एक साथ उसे समृद्ध करने में निरत हैं। आधुनिक हिन्दी कविता को सर्वप्रथम सार्थकता प्रदान करने वाले कवि-कुल-गुरु मैथिलीशरण गुप्त से लेकर आग्नेय और कैलाश वाजपेयी तक—आज की हिन्दी कविता को विविध शैली, विविध प्रकार और विविध अनुभूति के अनेकानेक कवियों का सहयोग प्राप्त है। नाना स्तरों पर एक साथ प्रवाहित हिन्दी की यह काव्य-धारा अपनी समष्टि में आज के जटिल जीवन के विचित्र वैविध्य को अपूर्व अभिव्यक्ति प्रदान कर रही है। सांस्कृतिक परम्पराएँ और अभिनव जीवन की समस्याएँ दोनों के प्रति हिन्दी का कवि सचेत है, कवि-विशेष की रचना में उनका अनुपात कुछ भी क्यों न हो। भिन्न-भिन्न धाराओं अथवा वादों की रचनाओं का पृथक्-पृथक् अध्ययन हमें चाहे आशान्वित न भी करे समस्त कविता के प्रति यह समग्र दृष्टि हमें यह आश्वासन देती है कि जीवन को स्वर देने में और उसको सँवारने में हिन्दी का कवि आज किसी से पीछे नहीं है।

हिन्दी कविता में नाना रूप-धाराओं के इस समानान्तर प्रकार का एक प्रसन्न पक्ष और भी है। एक शैली अथवा रूप की परिसमाप्ति और दूसरे का उद्भव न तो उस व्यग्रता को जन्म दे सकता है, न उन साधनों को प्रस्तुत कर सकता है, जो पूर्ण कवि के उदय के लिए आवश्यक हैं। आज के हिन्दी कवि के समक्ष जितनी विधाओं की सफलता-असफलता प्रत्यक्ष है, उतनी शायद ही कभी किसी कवि ने देखी हो। यह परिस्थिति कवि को अपने कर्म के प्रति अधिक उद्बुद्ध और ज़िम्मेदार बनाती है, एवं अपनी रचना में पूर्णता प्राप्त करने की प्रेरणा देती है।

सन् १९६० में प्रकाशित हिन्दी-काव्य में भी यही बहुरूपता स्पष्ट दिखाई देती है। यद्यपि इस वर्ष मैथिलीशरण, सियारामशरण, बच्चन, दिनकर अथवा अज्ञेय की कोई रचना पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुई है, फिर भी इस वर्ष के काव्य-संकलनों और कविता-ग्रंथों में नाना रूप नाना स्तर का यथेष्ट समावेश मिलता है। राष्ट्रीयता और प्रतीकात्मकता के प्रतिनिधि कवि माखनलाल चतुर्वेदी के नए काव्य-संग्रह से लेकर केदारनाथसिंह के काव्य-संग्रह तक विस्तृत हिन्दी कविता का यह

रंग-बिरंगा प्रसार सन् १९६० को महत्त्वपूर्ण बनाता है। यह तो स्वाभाविक ही है कि परम्परागत कविता की धारा मंथर हो, और नवोदित धारा की गति वेगवती, पर प्रत्येक धारा में इतिहास का एक विशिष्ट अनुभूति-रस और जीवन का एक विशिष्ट आयाम प्रतिबिम्बित है जो सम्पूर्ण चित्र को संश्लेष देता है।

परिचित स्वर के काव्य-ग्रंथों में इस वर्ष 'वेणु लो गूंजे धरा' और 'द्रौपदी' उल्लेखनीय हैं। 'वेणु लो गूंजे धरा' माखनलाल चतुर्वेदी की स्फुट रचनाओं का संग्रह है जिनमें से अधिकांश नई हैं। पर नई होने पर भी वे हमें वही आनन्द और रस देती हैं जो चतुर्वेदी जी की रचनाओं से हमें सदा मिलता रहा है। पाठक यह देखकर प्रसन्न होता है कि चतुर्वेदी जी के स्वर में वही मिठास और कम्पन बना हुआ है, उसमें अब भी कोई शैथिल्य या भरहिट नहीं है। प्राकृतिक सुषमा के प्रति एक अतिचारी दृष्टि, गूढ़ भावों को सहज ढंग से प्रकट करने की एक बांकी भंगिमा और धरती के सीधे स्पर्श से बसी हुई भाषा की निराली अनगढ़ता—चतुर्वेदी जी के ये सभी विशिष्ट गुण इस संग्रह में भी हमें प्रभावित करते हैं। यह ठीक है कि इन रचनाओं के पीछे जो जीवन-दर्शन है वह अब हमें परितोष नहीं देता, उनका स्वर धीरे-धीरे एक दूर की अनुगूंज बनता जा रहा है, पर उनमें सौन्दर्य के जो चित्र बन्द हैं, वे अब भी मुग्ध करते हैं। यदि—

धीरज को यह लाज आ गई, कैसा मधुर त्रिकोण बन गया
बहुत बोलता हुआ पराजय, सहते-सहते मौन बन गया

—जैसी पंक्तियाँ हमें छायावादी कुहेलिका और लक्षणा का ही एक भदरंग चित्र देती हैं, तो—

सूरज की किरणें हिम-नग पर
उतर-उतर चरती हैं जाड़ा

और

मधुर ! बादल, और बादल, और बादल आ रहे हैं
और सन्देशा तुम्हारा वह उठा है, ला रहे हैं

—की कोमलता और पुलक हमें अब भी कहीं गहरे में छूने की क्षमता रखती है।

'द्रौपदी' महाभारत की कथा पर आधारित छोटा-सा काव्य है। कलेवर में छोटा होने पर भी वह काफी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह प्रसिद्ध प्रगीत-कवि नरेन्द्र शर्मा के प्रबन्धात्मकता की ओर बढ़ने का परिचय देता है, और महाभारत के बहु-चर्चित चरित्र को नूतन गरिमा से मण्डित करने का प्रयत्न करता है। रामायण के उपेक्षित चरित्र उर्मिला और तिरस्कृत चरित्र कैकेयी को नये आलोक में देखा-परखा जा चुका

था, महाभारत की अभागी माँ कुन्ती पर भी आधुनिक कवि अपनी सहानुभूति की वर्षा कर चुका था, पर द्रौपदी पर अभी कवि का ध्यान न गया था। नरेन्द्र शर्मा ने इस काव्य की रचना कर यह कमी तो पूरी की ही है, अपनी परम्परा को पुनरुपलब्ध करने का भी स्तुत्य कार्य किया है। काव्य की अर्वाचीन धारा कितने ही नए क्षेत्रों की ओर क्यों न मुड़ जाय, उसे अपने शक्ति और रस के स्रोत परम्परागत काव्य-वैभव से सम्बन्ध बनाए ही रहना पड़ता है। यदि आज का कवि यह न करे तो उसे वह गहराई और अर्थवत्ता प्राप्त नहीं हो सकती जो जीवन को समग्रता में देखने के लिए आवश्यक है। द्रौपदी को अनल-जा जीवनी-शक्ति मानकर उसे पंच तत्त्व रूप पाण्डवों की प्रेरणा बताकर कवि ने कर्म और सत्य की नई, अधिक संगत और अधिक समीचीन व्याख्या करने की चेष्टा की है। यही भावनात्मक सत्य कवि का अभीष्ट है, महाभारत की स्थूल कथा का पुनराख्यान नहीं। इसीलिए कवि कथा को केवल छूता भर चला है, काव्य की प्रधान-वस्तु कथा से उत्पन्न चिन्तन है, कथा नहीं। यही कारण है कि नरेन्द्र ने प्रबन्ध की शैली को प्रगीत के ही निकट रक्खा है। भाषा और अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता में यह रचना सहज ही कामायनी के कुछ अंशों की याद दिला देती है। जिन घटनाओं को कवि अपने कथन के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं मानता, अथवा जिन स्थलों में कवि रमना नहीं चाहता, उनको समेटने में वह एक प्रसन्न लाघव का परिचय देता है, यथा :

राजसूय समाज में थे सकल नृप-भूपाल
चक्रवर्ती थे युधिष्ठिर, चक्रहत शिशुपाल

फिर भी हमें यह कहना ही होगा कि 'द्रौपदी' हमें निराश करती है। उसमें नरेन्द्रोचित उपलब्धि का अभाव है। खण्ड-सौन्दर्य से तो यह काव्य प्रचुर मात्रा में भरा पड़ा है, पर अपनी सम्पूर्णता में वह कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ता। नारी की स्तुति चरित्र-चित्रण के अभाव में बड़ी खोखली लगती है। आधुनिक कवि के अनुरूप तो यह था कि वह महाभारतकालीन रूढ़ियों एवं विवशताओं में छटपटाती नारी को मुक्ति प्रदान करता, यहाँ तो कवि ने बरबस उससे उन्हीं विवशताओं को आदर्श रूप में स्वीकृत कराया है। यही कारण तो नहीं है कि द्रौपदी लगभग पूरे काव्य में मौन ही रहती है, उसकी ओर से सदा कवि ही बोलता है? फिर, सबल घोषणा के बावजूद कवि यह सिद्ध नहीं कर सका है कि द्रौपदी ही महाभारत की केन्द्र थी। न कवि ने कथानक को ही इस पहलू से संयोजित किया है। फलतः यह काव्य महाभारत का ही लघुसंस्करण हो गया है, द्रौपदी शीर्षक में ही प्रधानता पा सकी है। पाँच पतियों की सेवा की विडम्बना, भरी सभा में अपमान सहने की विवशता, वन-वन भटकने का कष्ट और खोखली विजय की परिणति—ये ऐसे स्थल थे जहाँ कवि द्रौपदी की प्रतिष्ठा का यथेष्ट अवसर पा सकता था, पर इन स्थलों को उसने

एक ऐसे आदर्श के आवरण से ढाँक दिया है, जिसका आश्रय महाभारतकार ने भी न लिया था। इसी के आनुषंगिक रूप में कवि ने दुर्योधन और दुःशासन के चरित्रों को ऐसे सूचीभेद्य कलुष से आवृत कर दिया है कि वे एकदम अविश्वसनीय हो उठे हैं। ऐतिहासिक वैज्ञानिक दृष्टि के ऐसे अभाव में यह उत्कृष्ट प्रयत्न कुछ स्थलों पर व्यक्त कवि-कौशल के प्रमाणों की शृंखला-मात्र रह गया है। भाषा और शैली में भी स्थल-स्थल पर ऐसी क्लिष्टता आ गई है जो काव्य-तत्त्व को विरल कर देती है। ज्योतिष के आधार पर यह वर्णन इसका प्रमाण है :

> जीव अतिचारी हुआ, नक्षत्र श्रवण के निकट !
> चरमराने लगा बोझिल मंद से रोहिणि-शकट !
> सिंह-मुख में अग्नि-सा कुज मघा पर वक्री हुआ;
> पुष्य को आक्रान्त करने लगा धूमायत विकट !
> केतु चित्रा पर उदित हो, इन्दु को ग्रसने लगे !
> सिंहिका-सुत अदिति-सुत को निगल कर हँसने लगा !
> पड़ गए दो ग्रहण तेरह दिनों के व्यवधान में ;
> काल-व्याल विशाल अपनी कुण्डली कसने लगा !

पर ऐसी घटाटोप क्लिष्टता कहीं-कहीं ही है। ऐसे स्थल भी 'द्रौपदी' में यथेष्ट हैं जो रस से सिक्त हैं और काव्य को प्रखरता से दीप्त करते हैं। विशेष रूप से अन्त में महाभारत की सभी अवशिष्ट पात्रियों के शोक का चित्र बड़ी करुणा उपजाता है। नारी की विवशता की व्यंजना यहाँ बड़ी मार्मिक है :

> सुबला, द्रुपदा, पृथा, सुभद्रा, सबने भेंट चढ़ाई,
> रणचण्डी से तब जेता ने विजय-प्रसादी पाई !
> नर की हार-जीत का जग में मूल्य चुकाती नारी !
> बात मर्म की धर्मराज को आज समझ में आई !

और प्रबन्धात्मकता के प्रयत्न की दृष्टि से तो "द्रौपदी" सन् १९६० की विशिष्ट रचना है ही।

छायावादोत्तरकालीन रोमाण्टिक कवियों में से डॉ० देवराज और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी इस वर्ष अपनी स्फुट कविताओं के संग्रह प्रकाशित किये है। 'अश्क' के संग्रह 'सड़कों पे ढले साये' का विशिष्ट महत्त्व इस बात में है कि उसके माध्यम से 'अश्क' बरसों तक अन्य साहित्यिक माध्यमों में उपलब्धियाँ प्राप्त कर एक बार फिर काव्य की ओर मुड़े हैं। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस संग्रह की

कविताएँ नई ही नहीं हैं, वे आज की नवीनतम कविता की अनुवर्तिनी हैं, और आधुनिक जीवन को आधुनिक अभिव्यक्ति प्रदान करती है। केवल यही नहीं कि इन कविताओं में 'अश्क' ने रूप-गत नवीनता प्राप्त की है—ऐसा तो वे 'दीप जलेगा' में भी कर चुके थे—पर इन कविताओं की आत्मा भी आधुनिक है। उनमें आज की विषमताओं और जटिलताओं में साँसें लेते प्रबुद्ध भावुक की अनुभूतियाँ हैं जिनमें विस्मय-भरी ताज़गी और सहजता है। यदि प्राकृतिक चित्रों में रंग-वैविध्य और घनिष्ठ विवरण हमें अज्ञेय की याद दिलाते हैं, तो इन कविताओं में बंद व्यंग्य, आत्म-व्यंग्य और भविष्य के प्रति आस्था अन्य नए कवियों का साथ देती जान पड़ती है। इस प्रकार यह संग्रह कवि 'अश्क' के विकास की एक नई सीढ़ी बन गया है, और वे बरसों के अन्तराल को पार करने में सहज ही सफल हो गए हैं। प्राकृतिक रम्य-स्थलों में शैल के जो रंगीन चित्र उन्होंने दिए हैं वे विशेषरूप से आकर्षक हैं। एक टुकड़ा देखिए :

बहुत दिनों के बाद खिला दिन—
जमी बर्फ़ शिखरों पर गिरिवर धवलधार के।
मेरे मन का जमा हुआ हिम लेकिन पिघला,
जी होता है गाऊँ जी-भर गीत प्यार के।

शिखरों पर घूमूं आवारा !
खड्डों में उतरूँ !
नद, नदियाँ, नाले लाँघूं !
ठीकरियाँ फेंकूँ सर के निथरे पानी पर !
पनचक्की का गीत सुनूं, छिदरी छाया में पेड़ों की,
टुक बैठ सीटियाँ भरूँ हवा-सी ;
मुक्त हुए मन को छोड़ूं उन्मुक्त धरा पर !
फूलों का रस लूं, रस दूं,
बन मिट्टी जीवन नया जगा दूँ।

(खिला दिन)

इसी प्रकार 'मिडियाकरों का गीत', 'ज़हर जो कि अमृत है', 'क्षमा करना' आदि का व्यंग्य भी बड़ा सशक्त और सम-सामयिक जीवन की दैनंदिन अनुभूतियों को उनके सही दृष्टिक्रम में प्रस्तुत करता है। 'वयस का कार्तिक' में एक साथ दो स्तरों पर रूप-प्रभाव की अभिव्यक्ति और 'क्षमा करना' में यांत्रिक जीवन की व्यस्तता की व्यंजना भी कवि की सफलता का प्रमाण है। नये जीवन को आत्मसात् कर उसे ऐसी अर्थवत्ता प्रदान करने वाली रचनाओं के साथ 'अश्क' ने संग्रह में जो मुँह

एक ऐसे आदर्श के आवरण से ढाँक दिया है, जिसका आश्रय महाभारतकार ने भी न लिया था। इसी के आनुषंगिक रूप में कवि ने दुर्योधन और दुःशासन के चरित्रों को ऐसे सूचीभेद्य कलुष से आवृत कर दिया है कि वे एकदम अविश्वसनीय हो उठे हैं। ऐतिहासिक वैज्ञानिक दृष्टि के ऐसे अभाव में यह उत्कृष्ट प्रयत्न कुछ स्थलों पर व्यक्त कवि-कौशल के प्रमाणों की शृंखला-मात्र रह गया है। भाषा और शैली में भी स्थल-स्थल पर ऐसी क्लिष्टता आ गई है जो काव्य-तत्त्व को विरल कर देती है। ज्योतिष के आधार पर यह वर्णन इसका प्रमाण है :

> जीव अतिचारी हुआ, नक्षत्र श्रवण के निकट !
> चरमराने लगा बोझिल मंद से रोहिणि-शकट !
> सिंह-मुख में अग्नि-सा कुज मघा पर वक्री हुआ;
> पुष्य को आक्रान्त करने लगा धूमायत विकट !
> केतु चित्रा पर उदित हो, इन्दु को ग्रसने लगे !
> सिंहिका-सुत अदिति-सुत को निगल कर हँसने लगा !
> पड़ गए दो ग्रहण तेरह दिनों के व्यवधान में ;
> काल-व्याल विशाल अपनी कुण्डली कसने लगा !

पर ऐसी घटाटोप क्लिष्टता कहीं-कहीं ही है। ऐसे स्थल भी 'द्रौपदी' में यथेष्ट हैं जो रस से सिक्त हैं और काव्य को प्रखरता से दीप्त करते हैं। विशेष रूप से अन्त में महाभारत की सभी अवशिष्ट पात्रियों के शोक का चित्र बड़ी करुणा उपजाता है। नारी की विवशता की व्यंजना यहाँ बड़ी मार्मिक है :

> सुबला, द्रुपदा, पृथा, सुभद्रा, सबने भेंट चढ़ाई,
> रणचण्डी से तब जेता ने विजय-प्रसादी पाई !
> नर की हार-जीत का जग में मूल्य चुकाती नारी !
> बात मर्म की धर्मराज को आज समझ में आई !

और प्रबन्धात्मकता के प्रयत्न की दृष्टि से तो "द्रौपदी" सन् १९६० की विशिष्ट रचना है ही।

छायावादोत्तरकालीन रोमाण्टिक कवियों में से डॉ॰ देवराज और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी इस वर्ष अपनी स्फुट कविताओं के संग्रह प्रकाशित किये है। 'अश्क' के संग्रह 'सड़कों पे ढले साये' का विशिष्ट महत्त्व इस बात में है कि उसके माध्यम से 'अश्क' बरसों तक अन्य साहित्यिक माध्यमों में उपलब्धियाँ प्राप्त कर एक बार फिर काव्य की ओर मुड़े हैं। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस संग्रह की

कविताएँ नई ही नहीं हैं, वे आज की नवीनतम कविता की अनुवर्तिनी हैं, और आधुनिक जीवन को आधुनिक अभिव्यक्ति प्रदान करती है। केवल यही नहीं कि इन कविताओं में 'अश्क' ने रूप-गत नवीनता प्राप्त की है—ऐसा तो वे 'दीप जलेगा' में भी कर चुके थे—पर इन कविताओं की आत्मा भी आधुनिक है। उनमें आज की विषमताओं और जटिलताओं में साँसें लेते प्रबुद्ध भावुक की अनुभूतियाँ हैं जिनमें विस्मय-भरी ताज़गी और सहजता है। यदि प्राकृतिक चित्रों में रंग-वैविध्य और घनिष्ठ विवरण हमें अज्ञेय की याद दिलाते हैं, तो इन कविताओं में बंद व्यंग्य, आत्म-व्यंग्य और भविष्य के प्रति आस्था अन्य नए कवियों का साथ देती जान पड़ती है। इस प्रकार यह संग्रह कवि 'अश्क' के विकास की एक नई सीढ़ी बन गया है, और वे बरसों के अन्तराल को पार करने में सहज ही सफल हो गए हैं। प्राकृतिक रम्य-स्थलों में शैल के जो रंगीन चित्र उन्होंने दिए हैं वे विशेषरूप से आकर्षक हैं। एक टुकड़ा देखिए :

> बहुत दिनों के बाद खिला दिन—
> जमी बर्फ़ शिखरों पर गिरिवर धवलधार के।
> मेरे मन का जमा हुआ हिम लेकिन पिघला,
> जी होता है गाऊँ जी-भर गीत प्यार के।
>
> शिखरों पर घूमूं आवारा !
> खड्डों में उतरूँ !
> नद, नदियाँ, नाले लाँघूं !
> ठीकरियाँ फेंकूँ सर के निथरे पानी पर !
> पनचक्की का गीत सुनूं, छिदरी छाया में पेड़ों की,
> टुक बैठ सीटियाँ भरूँ हवा-सी ;
> मुक्त हुए मन को छोड़ूं उन्मुक्त धरा पर !
> फूलों का रस लूं, रस दूं,
> बन मिट्टी जीवन नया जगा दूँ।

(खिला दिन)

इसी प्रकार 'मिडियाकरों का गीत', 'ज़हर जो कि अमृत है', 'क्षमा करना' आदि का व्यंग्य भी बड़ा सशक्त और सम-सामयिक जीवन की दैनंदिन अनुभूतियों को उनके सही दृष्टिक्रम में प्रस्तुत करता है। 'वयस का कार्तिक' में एक साथ दो स्तरों पर रूप-प्रभाव की अभिव्यक्ति और 'क्षमा करना' में यांत्रिक जीवन की व्यस्तता की व्यंजना भी कवि की सफलता का प्रमाण है। नये जीवन को आत्मसात् कर उसे ऐसी अर्थवत्ता प्रदान करने वाली रचनाओं के साथ 'अश्क' ने संग्रह में जो मुँह

चिढ़ाने वाली भूमिका रखी है उसकी कोई विशेष संगति समझ में नहीं आती । लगता है. उसमें 'अश्क' ने कुछ ऐसी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं को स्वर दिया है, जिनमें मात्र खण्डसत्य ही आ पाया है ।

"सड़कों पे ढले साये" से जिस प्रकार 'अश्क' ने नई कविता के क्षेत्र में पदार्पण किया है, उसी प्रकार "उर्वशी ने कहा" से डॉ० देवराज ने । जहाँ 'अश्क' ने दीर्घ विराम के बाद फिर कविता की ओर मुंह किया है, वहाँ डॉ० देवराज निरन्तर प्रयास से तिल-तिल कर इस ओर आ पाये हैं । फिर भी उन्हें 'अश्क' के बराबर सफलता नहीं मिली है । इसका कारण, हमारे मत से, कदाचित् यही है कि डा० देवराज प्राचीन साहित्य से अधिक अभिभूत हैं और वर्तमान जीवन में परम्परा की पुनरुपलब्धि के स्थान पर परम्परा को यथावत् स्वीकार कर समसामयिक जीवन को उस तक ले जाना चाहते हैं । 'उर्वशी ने कहा' शीर्षक भी यही ध्वनित करता है । पर शीर्षक वाली कविता ही इस संग्रह की सबसे अशक्त कविताओं में है, वह एक वक्तव्य मात्र है, काव्यगत संवेदना का उसमें नितान्त अभाव है । इसी प्रकार 'शिव का मत्स्याखेट' ऐसा इतिवृत्तात्मक खण्ड है जिसमें हमें छन्द और तुकों के अतिरिक्त काव्य का और कोई तत्त्व नहीं मिलता । सच पूछिए तो 'उर्वशी ने कहा' में प्रायः उन सभी शैलियों की रचनाएँ हैं जो 'भारत-भारती' से लेकर आजतक अपनाई जा चुकी हैं । इस दृष्टि से जहाँ यह संग्रह नई अभिव्यक्ति तक आने के लिए डा० देवराज की तपस्या का प्रतिनिधि होने के कारण अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, वहाँ हिन्दी काव्य-कोष के लिए उसका महत्त्व अत्यन्त सीमित है । केवल कुछ कविताएँ जिनमें प्रकृति चित्र हैं या प्रणय-निवेदन है, वे ही पाठक को स्पन्दित कर पाती हैं । भाषा के प्रयोग में भी सप्रयासता रस-ग्रहण में काफ़ी बाधा पहुँचाती है । एक उदाहरण देखिये :

ओ रे विश्व ! तेरे अनथहे, निस्तल पसारे में,
इस अस्तित्व के लघुपोत का मेरे कहाँ लंगर ?

यहां 'मेरे' को कवि ने जो स्थान प्रदान किया है, उससे वह शब्द-भीड़ में जबर्दस्ती घुस आए व्यक्ति-सा लगता है । कुल मिलाकर 'उर्वशी ने कहा' डॉ० देवराज की उपलब्धि है, इसमें सन्देह नहीं, पर यही बात हिन्दी-कविता के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती ।

'सड़कों पे ढले साये' और 'उर्वशी ने कहा'—ये दोनों संग्रह उस सचेष्ट प्रयत्न का प्रतिनिधित्व करते हैं जो आज के नए काव्य-रूप को समझ कर अपनाने के लिए पुराने प्रतिष्ठित कवि कर रहे हैं । जिनमें काव्य की यह नूतन विधा सहज है उनमें 'अभी, बिलकुल अभी' और 'चाँदनी चूनर' उल्लेखनीय है । केदारनाथसिंह और

शकुन्त माथुर दो नितान्त भिन्न व्यक्तित्व के धनी होते हुए भी आज की कविता में विशिष्ट स्थान रखते हैं। केदारनाथसिंह में वह विकलता और अनुभव को ईमानदारी से झेलकर प्रस्तुत कर देने की वह तत्परता अधिक प्रखर है जो नई कविता का मूल स्वर है। 'प्रक्रिया', 'अनागत', 'दिग्विजय का अश्व' आदि रचनाओं में ये तत्त्व स्पष्ट देखे जाते हैं। पर केदारनाथसिंह की रचनाओं में कुछ गुण ऐसे भी हैं जो उनके निजी हैं। चित्रबिम्बों को बड़े ही सूक्ष्म, कोमल तारों से गूँथ देने की शक्ति, दैनिक जीवन से उठाए प्रतीकों में अनायास अप्रत्याशित लक्षण, और गाँव के वातावरण की-सी सरल, मीठी ताज़गी उनके काव्य की विशेषता है। और जैसा कि स्वाभाविक ही है, जिन्दगी की जटिलता और निराशा के स्थान पर उनके युवक मन की निर्माण की अधीरता और भविष्य को स्वरूप देने की व्यग्रता ही इन रचनाओं में अधिक ध्वनित है। और इन सब के अतिरिक्त ऋतु-चित्रों की एक नयी समग्र मार्मिकता तो इस रचना में देखी जा सकती है :

पपीहा-दिन आ गए
फिर
पपीहा-दिन आ गए
गुप्प-कोटर
कुआँ-पोखर
एक स्वर के सूत से
सब ओर-छोर मिला गए।

बाँसुरी अपनी लुका रक्खो
छिपा रक्खो कहीं
बिन छुए पगली अचानक
पिहक उट्ठेगी
प्रार्थना मन की दबा रक्खो
दबा रक्खो कहीं
हर गली, हर डगर बरबस
महक उट्ठेगी !

धूल-पत्तों, अन्धड़ों में
ये तुम्हें भटकाएँगे
दौड़ाएंगे, छिप जाएँगे
इनका ठिकाना क्या !
यहाँ बैठे, वहाँ गाया
उधर जाकर छा गए
ये पपीहा-दिन आ गए !

'चाँदनी चूनर' श्रीमती शकुन्त माथुर का प्रथम स्वतन्त्र काव्य-संग्रह है। 'दूसरा सप्तक' की कवयित्री के रूप में वे पहले ही अपना स्थान बना चुकी थीं; पर पूरे संग्रह की पृष्ठभूमि में उनकी रचनाएँ यथेष्ट ध्यान आकर्षित नहीं कर पाई थीं। 'चाँदनी चूनर' पढ़कर उसका कारण समझ में आ जाता है। शकुन्त माथुर की रचनाओं का रंग इतना विशिष्ट है कि उन्हें किसी वर्ग में नहीं बैठाया जा सकता। यों तो इस संग्रह में नाना क्षणों और मुद्राओं के चित्र हैं, पर कवयित्री का सच्चा वैशिष्टय उन कतिपय रचनाओं में है जिन में आधुनिक गार्हस्थ्य जीवन की झाँकी है। गृहस्थी के इन सामान्य भाव-चित्रों में बड़ी ही दुर्लभ सरलता और अनूठी मार्मिकता मिलती है। इन रचनाओं को पढ़कर मन अचानक विस्मय से भर जाता है कि किस अदृश्य प्रक्रिया से ये नगण्य से अनुभव काव्य बन बैठे। पर वे काव्य हैं, इसमें सन्देह नहीं। उनमें जैसी अनायासता है वैसी ही संप्रेषणीयता है। 'बरस बीत गया' में गृहिणी के अपत्य-प्रेम का चित्र है, तो 'कुछ नहीं बात' की घुटन में दाम्पत्य का एक गहन क्षण बन्द है। अन्य-विषयक रचनाओं में कवयित्री को ऐसी सफलता नहीं मिली है। हाँ, 'बस स्टैण्ड' में प्रयुक्त उपमान देर तक याद रहते हैं।

'सपने तुम्हारे थे', 'आवाज़ तेरी है' और 'पत्थर का लैम्पपोस्ट' उन लेखकों की रचनाएँ हैं जो कविता के अतिरिक्त अन्य माध्यमों की भी निरन्तर साधना कर रहे हैं। मार्कण्डेय ग्राम के कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इसीलिए 'सपने तुम्हारे थे' में ग्रामीण वातावरण का उतना रंग भी न पाकर, जितना अन्य सम-सामयिक कवियों की सामान्य रचना में मिलता है, मन को गहरी निराशा होती है। मार्कण्डेय की कविता, एकाध स्थल को छोड़ कर, बड़ी सपाट और फीकी है। उनमें काव्य से अधिक काव्य की भंगिमा मिलती है। इसके विपरीत, राजेन्द्र यादव के संग्रह 'आवाज़ तेरी है' से एक विस्मय भरा आनन्द मिलता है। यादव कहानियों में जो सफलता अर्जित कर चुके हैं, वही उनकी कविताओं में भी प्रतिफलित है। उनमें नगर जीवन की व्यस्तता, कोलाहल, कृत्रिमता और निष्ठाहीनता के चित्र हैं। एक व्यंग्यपूर्ण मार्मिक उद्धरण लीजिए :

बाँट लिया मुझे
जिसको रुचा छाँट लिया :
सिनेमा के गीतों ने
बस में कन्धा-भर छू लेने की हारों ने, जीतों ने
केसरिया सरसों ने
शाब्दिक मसलों की बेमतलब बहसों ने
कॉफी के प्यालों पर बहराये चाँदों ने
कुहरीली साँसों-सी घनी-घनी यादों ने

अखबारी दुनिया ने
दरबारी मस्के ने
गुर्राती ट्रकों ने और सर्राती कारों ने
सतखण्डे महलों को बाँधे हुए तारों ने
थके-बुझे चेहरे-से जड़ी हुई खिड़की ने
चोरी से छीने गए चुम्बन की झिड़की ने
धुलती प्लेटों के बचे-खुचे दानों ने
घावों की मक्खी-से मण्डराते गानों ने
बाँट लिया मुझे...

सम्मुख-फैले जीवन की लक्ष्यभ्रष्टता, रसहीनता और यान्त्रिकता को एक-एक पंक्ति के लघु आकारों में कवि ने बड़ी सूक्ष्मता और प्रभावोत्पादकता से बाँधा है। ऐसा ही कौशल अन्य अनेक रचनाओं में विद्यमान है।

'पत्थर का लैम्पपोस्ट' पंचमेल संग्रह है, जिसमें एक खण्ड में कुछ कविताएँ भी हैं। शरद देवड़ा राजस्थानी जीवन का रंग अपनी रचनाओं में समेटते हैं, पर इस संग्रह की रचनाओं में कवित्व विरल है। प्रकृति-सौन्दर्य भी उनमें नगण्य ही है। ये रचनाएँ छोटे-छोटे स्केच हैं जो अधिकांशतः प्रगतिवादी फ़ार्मूलों पर खड़े हैं। कोई गहरी अनुभूति, कोई मार्मिक भावना इनमें नहीं आ सकी है।

प्रारम्भ में हम जिस वैविध्य की चर्चा कर आये हैं उसमें हिन्दी के गीतकार कवियों का महत्त्वपूर्ण योग है। बरसों हुए जब बच्चन ने अपनी सरल लोकप्रिय कविताओं द्वारा मुद्रित रचनाओं और रोचक गीतों के बीच एक सेतु बाँधा था। बाद में अधिकतर गीतकवि रोचकता पर ही अधिक जोर देते रहे, काव्य-गत सत्य और जीवनाभिव्यक्ति पर कम। पर इधर फिर गीतकारों में ऐसी प्रतिभाएँ उठती दिखाई दे रही हैं जो उस सेतु को इन्द्रधनुषी बनाने की ओर अग्रसर हो रही हैं। तथाकथित नई कविता का कवि जहाँ समकालीन जीवन की बौद्धिक अनुभूति को संप्रेषणीय बनाने की समस्या से जूझ रहा है, वहाँ हिन्दी का गीतकार जनसाधारण की रुचि को बौद्धिक तत्त्व प्रदान करने की ओर प्रयत्नशील है। यह ठीक है कि छन्द, तुक आदि कुछ रूढ़ तत्त्वों के कारण उसकी अभिव्यक्ति बहुधा ऐसा शब्द-जाल बनकर रह जाती है जो कितना ही रंगबिरंगा हो, पर जिसमें काव्यगत अर्थ की मछली बड़ी छोटी-सी होती है, पर ऐसे गीतों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है जो लोकप्रिय ढंग पर उन्हीं सत्यों को अभिव्यक्त करते हैं जो नई कविता में मिलते हैं। गीतकार को जिन सीमाओं का सामना करने के लिए विवश होना पड़ता है, उनको दृष्टि में रखने पर इतनी सफलता भी आशाप्रद ही लगती है। यद्यपि सन् १९६० में

प्रकाशित नीरज की 'मुक्तकी' और रामकुमार चतुर्वेदी की 'नई पीढ़ी, नई राहें' इस कसौटी पर बहुत खरी नहीं उतरतीं, पर साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित गीतकारों की रचनाएँ निश्चय ही इस ओर संकेत करती हैं। इन में भी रामावतार त्यागी और बालस्वरूप राही की रचनाएँ हमें विशेष रूप से दो काव्य-विधाओं के मेल का प्रयत्न करती जान पड़ती हैं। प्रचलित प्रचारात्मक और गीतों की रूढ़ि से यह रचना कितनी भिन्न और सच्ची है :

जहाँ तक भी नजर जाती, धुआं ही हाथ आता है
कहीं भी जल नहीं है, सिर्फ रेगिस्तान गाता है

× × ×

जिसे भी देख लें हम वह सितारा टूट जाता है
अगर धारा पकड़ते हैं, किनारा छूट जाता है
(रामावतार त्यागी)

इसी प्रकार परिस्थिति-गत थकान का यह स्वर आधुनिक जीवन का ही हामी है—

पार कितनी मंजिलें मैं कर चुका
किन्तु चुकती ही नहीं यह बालुका
कुछ पता जलस्रोत का चलता नहीं
और सूरज है कभी ढलता नहीं
दोहरा संताप यह कैसे सहूँ
कब तलक माँगू न छाया से शरण ?
(बालस्वरूप राही)

कैलाश वाजपेयी की इस व्यंजना में आज के युवक की असमर्थता और विवशता ने स्वर पाया है—

यह अधनंगी शाम और यह भटका हुआ अकेलापन
मैंने फिर घबराकर अपना शीशा तोड़ दिया।

ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह प्रकट है कि हिन्दी का गीतकार भी नई समस्याओं और नई अनुभूतियों से जूझ रहा है। यदि उसके संवेदन

की गहराई कम लगती है, अथवा उसके शब्द आवश्यकता से अधिक लगते हैं तो उसका कारण वह माध्यम है जो उसने अपनाया है। उसकी ये सीमाएँ, ठीक उसी स्तर की हैं जैसी तथाकथित नए कवि की छन्द-तुक-हीनता की सीमाएँ, जिनके कारण उसका कथ्य भी बहुधा प्रभावहीन और व्यर्थ हो जाता है। पत्र-पत्रिकाओं में जहाँ दोनों विधाओं की सशक्त रचनाएँ मिलती हैं, वहाँ दोनों प्रकार की अक्षम हीन रचनाओं के भी दर्शन होते हैं। गीतकार जहाँ शब्दों के जाल में भटक जाते हैं, नए कवि वहाँ अपने कथ्य में कोई घनी अन्विति न ला पाने के कारण बिखरी-बिखरी अभिव्यक्ति देते हैं।

सन् १६६० की कविता का यह सर्वेक्षण कुछ अनुवादों की चर्चा किए बिना समाप्त नहीं किया जा सकता। यों तो हिन्दी का कवि सदैव देशी-विदेशी काव्यों का अध्येता रहा है, यहाँ तक कि हिन्दी-काव्य की कुछ धाराओं पर विदेशी अनुकरण तक का लांछन लग चुका है, पर स्वतन्त्रता के बाद से हिन्दी-कवि ने बड़ी तेजी से अन्य भाषाओं के काव्य को समझने-परखने की चेष्टा की है। यह शुभ लक्षण है। परम्परा और परिवेश के सम्यक् ज्ञान के बिना आज के जीवन की व्याख्या करना सम्भव नहीं है और उसके लिए भारतीय एवं अभारताय काव्य-कृतियों से परिचय पाठक और कवि दोनों के लिए आवश्यक है। हर्ष का विषय है कि इस वर्ष दो उल्लेखनीय काव्य अनुवाद रूप में हमें उपलब्ध हुए हैं। 'सप्तपर्णा' में यशस्विनी कवयित्री महादेवी वर्मा ने प्राचीन भारतीय अमर साहित्य के कुछ अंश हिन्दी कविता में उतारे हैं, तो 'देशान्तर' में भारती ने इक्कीस पाश्चात्य देशों की एक सौ इकसठ कविताओं को हिन्दी रूप दिया है। 'सप्तपर्णा' में वेद-ऋचाओं से लेकर 'गीत गोविन्द' तक के अंशों का पद्य-बद्ध अनुवाद है। इस में सन्देह नहीं कि इनमें से अनेक रचनाएँ पहली बार अनूदित हुई हैं, अभी तक वे केवल संस्कृत-रसज्ञों को ही उपलब्ध थीं। यहाँ तक कि कालिदास की रचनाओं के भी अभी तक कोई सफल और सन्तोषजनक अनुवाद नहीं थे। फिर भी इस ग्रन्थ की उपयोगिता दो कारणों से अत्यन्त सीमित हो जाती है। एक तो, अनुवाद के लिए अंशों का चुनाव किसी अन्त:संगति पर किया नहीं जान पड़ता। जहाँ भी मन रमा, और जब तक रमा, उतना ही अंश अनूदित है। इतनी रचनाओं के आंशिक अनुवादों के स्थान पर यदि किसी एक रचना का भी सम्पूर्ण अनुवाद दिया जाता तो अधिक उपयोगी होता। दूसरे, इतने विभिन्न कालों में रचे गए इतने विभिन्न कवियों के काव्यों का अनुवाद पढ़ने में एक-सा ही लगता है। वेद, कालिदास और 'गीत गोविन्द' सब छायावादी काव्य ही मालूम देते हैं। हमारे मत में अनुवाद के कार्य में अनुवादक को अधिक संयम से मूल रचना की आत्मा को, उसके वैशिष्टय को उभारने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस दृष्टि से भारती ने स्फुट कविताओं के सम्पूर्ण अनुवाद प्रस्तुत कर अधिक उपयोगी कार्य किया है। यही नहीं, उन्होंने समसामयिक पाश्चात्य कविता का

अनुवाद देकर हमें विश्व-काव्य की वर्तमान गति का परिचय पाने में सहायता दी है। उनके अध्ययन से हम अपनी विशेषता का अधिक गहरा अनुमान कर सकते हैं, और जो प्रेरणाएँ आज काव्य को रूप दे रही हैं उनकी सार्थकता और महत्त्व पहचान सकते हैं। जो समीक्षक आज की हिन्दी कविता को पश्चिम का अन्धानुकरण समझते हैं उनके लिए भी यह अनुवाद-ग्रन्थ बड़े काम का है, क्योंकि इसका तुलनात्मक अध्ययन कर वे हिन्दी कविता की मौलिकता अथवा उसके अभाव की पकड़ पा सकेंगे।

हिन्दी नाटक : सन् १९६०

डॉ० सुरेश अवस्थी

सन् '६० में लिखे गये हिन्दी के मौलिक और अनूदित नाटकों की सूची से सहज ही इस बात का अनुमान हो जाता है कि हिन्दी रंगमंच के विकास और प्रसार के साथ-साथ नाटकों की बढ़ती हुई माँग पूरी करने के लिए भी प्रयत्न हो रहा है। एक ओर तो हम पुराने नाटककारों—हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्द दास, उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ पंत, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर और विष्णु प्रभाकर को रचना-कार्य में संलग्न पाते हैं; यद्यपि इनमें से अधिकांश का सन् '६० में कोई नाटक प्रकाशित नहीं हुआ। दूसरी ओर हम नये और विकासशील नाटककारों—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश और नरेश मेहता के नाटकों में नये रूप-शिल्प का संकेत पा रहे हैं।

इसके साथ-ही-साथ हिन्दी नाट्य-लेखन की एक उल्लेखनीय बात यह है कि इस समय बहुत बड़ी संख्या में ऐसे नाटक लिखे जा रहे हैं जो मुख्यतया प्रदर्शन के लिए लिखे जाते हैं। सर्वदानन्द, विनोद रस्तोगी, विमला रैना, रमेश मेहता तथा अनगिनत अज्ञात लेखक आज ऐसे-ही रंगमंच-नाटकों की रचना कर रहे हैं। इस कोटि के नाटकों की संख्या बहुत बड़ी है; यद्यपि हमको इस बात का पूरा-पूरा आभास नहीं हो पाता क्योंकि एक तो प्रायः इन नाटकों की साहित्यिक पत्रिकाओं में चर्चा नहीं होती और दूसरे इनमें से अधिकांश नाटक प्रकाशित भी नहीं हो पाते। ऐसे नाटकों की बहुत बड़ी संख्या का एक प्रमाण यह है कि गत वर्ष संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित हिन्दी नाटक प्रतियोगिता में जो लगभग सौ नाटक प्रस्तुत किये गये उनमें से कोई २०-२५ नाटकों को छोड़कर शेष सभी नाटक पांडुलिपि के ही रूप में भेजे गये; और इनमें से अधिकांश नाटक उन नाट्य-संस्थाओं के उत्साही अभिनेताओं और निर्देशकों के लिखे हुए थे जो आज रंगमंच की माँग की पूर्ति के लिए अभिनेय नाटकों की अनवरत खोज में लगे हुए हैं। इस वर्ग के हिन्दी नाटकों का साहित्यिक तत्त्व चाहे बहुत श्रेष्ठ न हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि इनका दृश्य-अंक-विधान रंगमंच के अनुशासनों और व्यवहारों को ध्यान में रख कर किया गया है।

हिन्दी नाटक के इतिहास में यह बात बहुत-ही महत्त्वपूर्ण है कि नाटककार अपने वास्तविक और मौलिक कार्यक्षेत्र—रंगशाला में आ रहा है। रंगशाला में नाटककार का यह पुनरागमन ही इस वर्ष की सब से महत्त्वपूर्ण और शुभ घटना है। आज नाटककार अपनी नाट्य-कृति को पुस्तकालय में नहीं देखना चाहता, वह तो उसे नाटक की पूर्ण और पुनरभिव्यक्ति के माध्यम—रंगशाला में देखना चाहता है। आज पुराने नाटककार अपनी कृतियों की प्रस्तावनाओं में इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि उन्होंने नाटक-रचना में आधुनिक रंगमंच के रूप और प्रवृत्तियों को बराबर ध्यान में रखा है। इधर नये नाटककारों के नाटक प्रकाशित होते ही, प्रदर्शित किये जा रहे हैं। हिन्दी नाटक के इतिहास में ऐसा पहली बार हो रहा है। मोहन राकेश का पुरस्कृत नाटक "आषाढ़ का एक दिन" इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ और कलकत्ते में विभिन्न नाट्य-दलों द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका है। डॉ० लाल नाट्य-प्रशिक्षण के एक पाठ्यक्रम का संचालन कर रहे हैं; और विद्यार्थियों को लेकर नियमित रूप से अपने नाटकों का प्रदर्शन करते हैं। नरेश मेहता ने हाल-ही में 'अभिनय' नामक एक नाटक-संस्था का संगठन किया है और उसके द्वारा अपने अप्रकाशित नाटक 'खण्डित यात्राएँ' का प्रदर्शन किया है। यह हर्ष का विषय है कि हिन्दी के समसामयिक नाटक-साहित्य, को रंगशालाओं में दर्शक-समाज का सम्पर्क मिल रहा है, और उसके नाट्य-तत्त्व पुष्ट और उजागर हो रहे हैं; जब कि इसके पहले के काल-खण्डों में हिन्दी का बहुत ही समर्थ और उच्च कोटि का नाटक-साहित्य भी इस सौभाग्य से वंचित रहा है। इस नयी प्रवृत्ति और रंगमंच के नवोन्मेष से इस बात की आशा की जा सकती है कि भविष्य का हिन्दी नाटक ऐसा होगा जो अभिनेयता और वाचनिकता दोनों ही गुणों में श्रेष्ठ होगा; और जिसमें पुस्तकालय में बैठा हुआ पाठक तथा रंगशाला में बैठा हुआ दर्शक—दोनों ही समान रूप से रस ले सकेंगे।

रंगमंच का नवोन्मेष

आज हिन्दी नाट्य-लेखन को रंगमंच के पुनरुत्थान और प्रचार से बहुत बड़ा प्रश्रय मिल रहा है। पिछले एक दशक में हिन्दी रंगमंच अखिल भारतीय स्तर पर विकसित हुआ है, और अनेक अहिन्दी क्षेत्रों में नाटकीय क्रियाकलाप के प्रधान नगरों में हिन्दी नाटकों के प्रदर्शन आयोजित हो रहे हैं। सन् १६५६ में संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित हिन्दी नाट्य प्रदर्शन प्रतियोगिता में जिन नौ नाट्य-दलों ने भाग लिया था उनमें से तीन दल अहिन्दी क्षेत्रों—कलकत्ता, पूना और आन्ध्र प्रदेश से सम्मिलित हुए थे। इधर हिन्दी क्षेत्र में भी सभी प्रमुख नगरों में नाटकीय जागरण की लहर दौड़ रही है; और कुछ स्थानों में तो बहुत-ही संगठित रूप से यह कार्य हो रहा है तथा प्रदर्शन-कला के ऊँचे स्तरों का निर्माण हो रहा है। दिल्ली

जैसे बड़े नगरों में ही यह नया रंगमंच आन्दोलन सीमित नहीं है। आज तो कानपुर, इलाहाबाद, लखनऊ, बनारस, ग्वालियर, इन्दौर, जयपुर, उदयपुर आदि छोटे नगरों में भी नियमित रूप से नाटकों के प्रदर्शन हो रहे हैं; नयी-नयी अव्यावसायिक नाटच-संस्थाएँ संगठित हो रही हैं; और पुरानी संस्थाएँ अधिक संख्या में और अच्छी कोटि के नाटकों का प्रदर्शन कर रही हैं। इलाहाबाद धीरे-धीरे हिन्दी रंगमंच-क्रियाकलाप के केन्द्र के रूप में विकसित हो रहा है। लखनऊ में राज्य सरकार प्रतिवर्ष हिन्दी नाटच-प्रदर्शन की प्रतियोगिता का आयोजन करती है जिसमें विभिन्न नगरों की प्रमुख संस्थाएँ भाग लेती हैं।

नाट्य-समीक्षा का नया स्वरूप

हिन्दी नाटच-लेखन को एक दूसरी नयी प्रवृत्ति से भी शक्ति मिल रही है और उसका रूप अधिक पुष्ट और परिमार्जित हो रहा है। यह नयी प्रवृत्ति है हिन्दी नाटचालोचना में एक नये आयाम का समावेश, और नाटच प्रदर्शनों की समीक्षा का प्रचलन। हिन्दी नाटचालोचना में एक ऐसा गतिरोध आ गया था कि एक बहुत-ही सीमित और बद्ध-पद्धति से नाटकों के कथानक और चरित्रों का विवेचन हो रहा था। इस सारी विवेचना में नाटक के रूप-विधान और उसकी अभिनेयता के विविध कलापक्षों की प्रायः कोई चर्चा नहीं होती थी। यही कारण है कि हिन्दी के उत्तम कोटि के नाटक साहित्य का, विशेषकर प्रसाद के नाटकों का भी आज तक अभिनयात्मक मूल्यांकन नहीं हो सका। नाटचालोचना के ही इस दोष के कारण नाटच-रचना के नियमों, व्यवहारों और रूढ़ियों का भी कोई स्पष्ट रूप निर्धारित नहीं हो सका कि नये नाटककार को उससे निर्देशन मिल सकता है। इधर एक-दो वर्षों में ऐसे आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं जिनसे नाटकों के रूप-विधान का पहली बार वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण किया गया है। इस नये विश्लेषण से नाटच-लेखन की पद्धतियों और प्रक्रियाओं का स्पष्टीकरण हुआ है।

इसके साथ-ही, कल्पना, ज्ञानोदय और कृति जैसी कुछ पत्रिकाम्र में हिन्दी नाटकों के प्रदर्शनों की समीक्षाएँ भी पहली बार प्राविधिक रूप से की गई हैं। नाटच-प्रदर्शनों की समीक्षाओं का बहुत बड़ा महत्त्व है, और इसका नाटच-रचना पर सीधा और गहरा प्रभाव पड़गा। इन समीक्षाओं द्वारा कितने ही नये विचारों और नयी नाटच-संकल्पनाओं को व्यक्त करने वाले पारिभाषिक शब्दों का समावेश हिन्दी में हुआ है और विवेचना का क्षेत्र विस्तृत हुआ है। आज पत्र-पत्रिकाओं में नाटच-सिद्धान्तों के साथ-साथ रंग-शिल्प और प्रदर्शन के साधनों, सिद्धान्तों और शैलियों की भी चर्चा हो रही है; और हिन्दी नाटक का पाठक और दर्शक तथा स्वयं नाटककार इन चर्चाओं में रुचि ले रहा है। किन्तु आज भी यह स्थिति शोचनीय है कि इतने

बड़े नाटकीय क्रियाकलाप की चर्चा और समीक्षा हिन्दी के दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में नहीं होती, और साथ-ही रेडियो भी नाट्य-प्रदर्शनों की समीक्षा के प्रति उदासीन है।

अनुवाद और रूपान्तर

विचाराधीन वर्ष में अन्य भाषाओं के नाटकों के अनुवाद और रूपान्तर का कार्य भी पहले से कुछ अधिक मात्रा में हुआ है। यद्यपि अब भी इस सम्बन्ध में नियमित रूप से योजना बना कर कार्य करने की आवश्यकता है। वास्तव में अनुवाद और रूपान्तर का कार्य मौलिक नाट्य-लेखन का आनुषंगिक और अनुपूरक ही नहीं है बल्कि नाट्य-लेखन की वर्तमान अवस्था में यह कार्य बहुत बड़ी सीमा तक पथ-निर्देशन का कार्य कर सकता है। नाटकों के अनुवाद और रूपान्तर के प्रति हमारी उदासीनता का ही यह परिणाम है कि आज तक हिन्दी में शॉ, इब्सन और चेखव के भी सन्तोषजनक अनुवाद और रूपान्तर नहीं हैं। यही नहीं, कुल जो ८-१० अच्छे अच्छे संस्कृत नाटक हैं उनके भी अच्छे अनुवाद हिन्दी में नहीं हैं। दूसरी भारतीय भाषाओं के नाटकों के तो हिन्दी में इने-गिने अनुवाद ही उपलब्ध हैं।

यह हर्ष की बात है कि इधर पिछले ४-५ वर्षों में दूसरी भारतीय भाषाओं के नाटक हिन्दी में अनूदित होकर आये हैं। इस प्रकार मराठी, गुजराती, बंगला, तेलुगू और मलयालम के कुछ नाटक हिन्दी में अनूदित होकर आ गए हैं। पिछले कुछ वर्षों में मराठी नाटककार मामा वरेरकर के कई नाटक हिन्दी में आ चुके हैं। इसी वर्ष में मलयालम नाटककार तोप्पिल भासी के दो नाटक 'पूँजी' और 'उत्थान' हिन्दी में अनूदित होकर प्रकाशित हुए हैं। यह कई प्रकार से उपयोगी और सुविधा-जनक है कि भारतीय भाषाओं से नाटक अनूदित होकर हिन्दी में आये। देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में एक मौलिक एकरूपता होने और एक-जैसी समस्याएँ होने के कारण देश की विभिन्न भाषाओं में नाटकीय साहित्य का आदान-प्रदान सुगम है। यह भी हर्ष की बात है कि इस समय रंगमंच-सम्बन्धी क्रियाकलाप में विभिन्न भाषाओं और भाषा-क्षेत्रों में सबसे अधिक कलात्मक आदान-प्रदान हो रहा है। अतः इस बात की सहज-ही आशा की जा सकती है कि हिन्दी में अन्य भारतीय भाषाओं के नाटकों के अनुवाद का कार्य बराबर बढ़ता ही जाएगा।

इस वर्ष में अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद के सम्बन्ध में भी कुछ उल्लेखनीय कार्य हुआ है। शिवदानसिंह चौहान ने 'शॉ' के दो नाटकों 'डॉक्टर्स डाइलेमा' और 'मिसेज़ वारेन्स प्रोफ़ेशन' का अनुवाद 'डाक्टर की उलझन' और 'मिसेज़ वारेन' नाम से किया है। चौहान ने अपने वक्तव्य में कहा है कि इन नाटकों का अनुवाद प्रदर्शन को दृष्टि

में रख कर किया गया है। यह प्रसन्नता की बात है कि हमारे अनुवादक नाटकों के अनुवाद में इस महत्त्वपूर्ण दायित्व के प्रति सजग हो रहे हैं। अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद के अतिरिक्त कुछ अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी नाटकों के रूपान्तर भी हुए हैं। वास्तव में विदेशी नाटकों के रूपान्तर में जो सम्भावनाएँ निहित हैं उनके प्रति हम अभी तक सजग नहीं हुए हैं। किन्तु नयी प्रवृत्तियों और रंगमंचीय प्रचार के साथ-साथ इस बात की आशा की जा सकती है कि हिन्दी में भविष्य में और अधिक संख्या में तथा अधिक मौलिक दृष्टि के साथ नाटकों के रूपान्तर का कार्य होगा।

इसी प्रसंग में इस बात का भी उल्लेख कर देना उचित होगा कि इस वर्ष में उपन्यासों के नाटकीकरण के भी कुछ प्रयत्न किये गये, और चित्रलेखा तथा गोदान का नाटकीकरण किया गया। ये अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। गोदान का बनारस में सफल प्रदर्शन हो चुका है, और चित्रलेखा का प्रदर्शन इलाहाबाद में होने जा रहा है। चित्रलेखा के ही एक दूसरे नाटकीकृत संस्करण का प्रदर्शन गत वर्ष दिल्ली में हो चुका है। गोदान का एक नाटकीकरण कई वर्ष पहले विष्णु प्रभाकर भी कर चुके हैं, और वह प्रकाशित भी हो चुका है। यह प्रसन्नता की बात है कि श्रेष्ठ उपन्यासों के नाटकीकरण का कार्य हमने आरम्भ कर दिया है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमको बहुत बड़ी सम्भावनाएँ उद्घाटित करनी हैं; और यह कार्य उसी आस्था और दायित्व के साथ करना है जिस प्रकार हम मौलिक नाट्य-लेखन करते हैं।

नाट्य-पद्धति

समसामयिक हिन्दी नाटकों के रूप-शिल्प के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि उनका दृश्य-अंक-विधान प्रदर्शन-पद्धतियों और दृश्यबंध-निर्माण की रूढ़ियों से प्रभावित हुआ है। रंगमंच के रूप और प्रदर्शन-विधियों का सबसे अधिक और सीधा प्रभाव नाटकीय वस्तु संगठन की रीतियों और युक्तियों पर पड़ा है, क्योंकि नाटककार को अपनी कथावस्तु रंगमंच के रूप, दृश्य-सज्जा के साधनों और प्रवृत्तियों तथा प्रदर्शन के दूसरे व्यवहारों के अनुरूप ही संयोजित करनी पड़ती है। आधुनिक रंगमंचीय प्रदर्शनों में इस प्रवृत्ति का विकास हुआ है कि एक ही दृश्यबन्ध पर नाटक का समस्त व्यापार प्रस्तुत किया जाता है। अतः नाटकीय कथानकों को इस प्रकार संगठित किया जाता है कि उनमें स्थानगत अन्विति का पूरा-पूरा निर्वाह हो जाए। इस अनिवार्यता ने वस्तु-संगठन और दृश्य-अंक-योजना का स्वरूप बदल दिया है; और वह उस पुरानी पद्धति से नितान्त भिन्न हो गया है जिसमें नाटकीय कथा अनेक घटनास्थलों में संचरण कर सकती थी।

नाटकीय व्यापार प्रस्तुत करने के लिए एक ही दृश्यबन्ध की रंगमंचीय रूढ़ि स्वीकार करने के साथ-ही-साथ नाट्य-प्रदर्शन की अवधि ने भी अंक-विधान को

प्रभावित किया है। दो-ढाई घंटे की अवधि में प्रदर्शित किये जाने वाले नाटकों में कम-से-कम दो मध्यावकाश रखना आवश्यक है। अतः इसी नितान्त व्यावहारिक कारण से आधुनिक नाटकों में प्रायः तीन अंक रहते हैं, और पहले तथा दूसरे अंक के बाद दस या पाँच मिनट का मध्यावकाश रहता है। इस प्रकार नये नाटकों में सामान्यतः एक दृश्यबन्ध और तीन अंकों की परिपाटी बन गई है। एक ही अंक के अन्तर्गत व्यापार-परिवर्तन दिखाने के लिए दो या तीन दृश्यों का विधान कर लिया जाता है। यह परिवर्तन इस सहज युक्ति से व्यक्त किया जाता है कि रंगमंच पर क्षण भर के लिए अन्धेरा कर दिया जाता है, और अन्धेरे में दृश्य-सज्जा में आवश्यक आंशिक परिवर्तन कर के नया व्यापार आरम्भ किया जाता है।

नाटच-लेखन की नवीन प्रवृत्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसके दृश्य-अंक विधान और रंगसज्जा विधान का यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही है। रंगमंच का रूप, आकार और प्रदर्शन-कला के दूसरे साधन और शैलियाँ ही आज नाटच-लेखन की शैली और पद्धति को सबसे अधिक प्रभावित कर रहे हैं। और यह स्थिति केवल हिन्दी में ही नहीं वरन् विश्व की सभी भाषाओं में है। और सभी देशों में रंगमंच के एक-जैसे रूप और प्रदर्शन की एक-सी शैलियों और साधनों के कारण अनेक भाषाओं में नाटच-लेखन की समान प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। विश्व के नाटक-साहित्य के इतिहास में इसके पहले कभी भी नाटच-लेखन में ऐसी एकरूपता नहीं रही है।

कथानक और कथा-अभिप्राय

यह चिन्ता का विषय है कि हिन्दी नाटक साहित्य के दूसरे रूपों के समान नये सामाजिक, सांस्कृतिक स्वरों को वाणी नहीं दे पा रहा। आज भी अधिकांश नाटककार ऐतिहासिक नाटक ही लिखने में लगे हुए हैं; यद्यपि कुछ ऐतिहासिक नाटकों में कथा को नई व्याख्या और नवीन विचारात्मक भंगिमाएँ दी गई हैं। सामाजिक नाटकों में हम पारिवारिक सम्बन्धों और वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक समस्याओं को लेकर ही उलझे हुए हैं; और इनके भी चित्रण और विश्लेषण में हमने नई इतिहास-दृष्टि और नये सौन्दर्य-बोध का परिचय नहीं दिया। यही कारण है कि हमारे वर्तमान जीवन के अनेक जटिल और नाटच-गर्भित चित्रों को नाटकीय अभिव्यक्ति नहीं मिल पाई है। एक-दो नाटकों में, जैसे डॉ० लाल के 'तीन आँखों वाली मछली' में सामान्य वैयक्तिक और सामाजिक कथाओं को सांकेतिक और प्रतीकात्मक अभिप्रायों में प्रस्तुत करने के प्रयत्न अवश्य हुए हैं। किन्तु इस दिशा में हमारे नाटककारों को बहुत कुछ प्रयोगात्मक कार्य करने की आवश्यकता है, तभी नाटकीय कथानकों को नये अभिप्रायों में प्रस्तुत किया जा सकेगा, और नाट्य-लेखन में शिल्पगत ऐसी विविधता आ सकेगी कि हमारे नये जीवन की जटिलताएँ प्रभावशाली रूप से नाटकों में व्यक्त हो सकेंगी।

शिल्पगत संकट

नाट्य-लेखन की इन उपलब्धियों और प्रवृत्तियों की चर्चा के पश्चात् उसके कुछ बहुत-ही मूल प्रश्नों और समस्याओं का विवेचन अभीष्ट होगा। आज इतने बड़े रंगमंच आन्दोलन के होने पर भी हिन्दी में शायद नाटक ही साहित्य की विधाओं में सबसे कम लिखे जा रहे हैं, और उनका स्तर भी अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षा हीन कोटि का है। हिन्दी की ही यह स्थिति नहीं है। भारतीय भाषाओं के वार्षिक साहित्य-सर्वेक्षणों से ज्ञात होता है कि सभी भाषाओं में नाट्य-लेखन साहित्य के दूसरे सभी रूपों की अपेक्षा, सबसे अधिक शिथिल, निम्न कोटि का और अल्प-उत्पादन वाला है। यद्यपि पिछले १०-१२ वर्षों में नाटकीय क्रियाकलाप का नवोन्मेष हुआ है और भारतीय रंगमंच पहले से अधिक साधनवान् और समृद्ध हो गया है; किन्तु इस रंगमंचीय आन्दोलन ने श्रेष्ठ कोटि के नाटक के उदय का अभी तक कोई आश्वासन नहीं दिया।

इस विरोधपूर्ण स्थिति से हमारे मन में कई प्रकार के प्रश्न उठते हैं। हमारी भाषाओं का नाटक-साहित्य परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से आगे क्यों नहीं बढ़ा? वह हमारे आधुनिक जीवन की विभिन्न शैलियों, समस्याओं, आदर्शों और संघर्षों की गम्भीर नाटकोचित व्यंजनाएँ क्यों नहीं कर पा रहा? हम आज भी अपनी रंगशालाओं को समुचित नाट्य-सामग्री पहुँचाने के लिए विदेशी नाटकों के अनुवादों और रूपान्तरों पर ही क्यों निर्भर कर रहे हैं? क्या यह स्थिति नितान्त अनिवार्य और अटल है? इस स्थिति के कोई बड़े ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक कारण हैं, अथवा यह केवल हमारे नाटककारों की असमर्थता है कि वे नयी शैली की आधुनिक रंगशालाओं के उपयुक्त श्रेष्ठ नाटकों का निर्माण नहीं कर पा रहे हैं? आज इसी प्रकार के अनेक प्रश्न नाट्य-गोष्ठियों और चर्चाओं में बार-बार उठाए जा रहे हैं।

इस अन्तर्विरोध का सबसे बड़ा कारण यह है कि पश्चिमी नाटक-साहित्य से रचना के नियमों, व्यवहारों और शैलीगत तत्त्वों के आयात के साथ-साथ हमने पश्चिम के रंगमंच के रूप और उसके सज्जा-विधान को भी स्वीकार कर लिया। इसका उस भारतीय नाटक के स्वरूप और उसकी परम्परा पर गहरा आघात पहुँचा जो स्वयं १९वीं शताब्दी के मध्य में अपने उद्भव के समय प्राचीन संस्कृत-नाट्य-परम्परा और मध्ययुगीन मौखिक नाट्य-परम्परा से विच्छिन्न हो चुका था। और यही कारण है कि आज न तो श्रेष्ठ कोटि के नाटक-साहित्य का ही सृजन हो सका है, और न नाट्य-रूप का ही कोई शिल्प-विधान निर्धारित हो सका है। फलस्वरूप नाट्य-लेखन में एक ऐसी गतिरोध की स्थिति पैदा हो गई है कि रंगमंच और उसकी विविध आनुषंगिक कलाएँ तो विकसित हो रही हैं, किन्तु हमारा नाटक-साहित्य

प्रगति नहीं कर रहा है। इसमें सन्देह नहीं है कि नाटक ऐसी सार्वभौम कला है कि वह अनेक जातियों की नाट्य-परम्परा से कला के तत्त्व और व्यवहार ग्रहण करता है, और अन्तर्राष्ट्रीय कलात्मक आदान-प्रदान करता रहता है। किन्तु साथ-ही वह परम्परावादी पुरानुगामी और राष्ट्र-संस्कृति-परक होता है।

आज इसी तथ्य को स्वीकार करके और स्थिति के अन्तर्विरोध के प्रति जागरूक होकर नाट्य-समीक्षक तथा लेखक सभी नाटक के रूपगत संकट के प्रति चिन्तित हो रहे हैं, और संक्रान्ति के साधनों की खोज में लग गए हैं। यही कारण है कि हिन्दी तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं में पश्चिमी शैली के आधुनिक नाटकों के साथ-साथ नृत्य-नाटकों और ऑपेरा शैली के गेय नाटकों का प्रचलन हो रहा है। हिन्दी में तो पिछले दो-चार वर्षों में कुछ बहुत अच्छी कोटि के नृत्य और गेय नाटकों के प्रदर्शन हुए हैं। दिल्ली की दो नाट्य संस्थाओं—भारतीय कलाकेन्द्र और नाट्य बैले सेंटर ने रामलीला और कृष्णलीला नृत्य-नाटकों में इन लीला-नाटकों के पारम्परिक रूप का पुनर्निर्माण किया है, और रंगमंच-कला के आधुनिक साधनों और शैलियों के साथ लोकपरम्परा के प्रदर्शन व्यवहारों और रूढ़ियों को समन्वित किया है। दिल्ली की एक और नाट्य संस्था—हिन्दुस्तानी थिएटर ने 'शकुन्तला' और 'अम्बपाली' नृत्य और गेय नाटक प्रदर्शित किए हैं, तथा सामान्य गद्य नाटकों में भी काव्य, संगीत और नृत्य का समावेश किया है। बम्बई की एक संस्था बैले यूनिट के लिए कवि नरेन्द्र शर्मा ने 'सांझ-सवेरा' और 'जय-पराजय' नृत्य नाटक लिखे हैं। इसी प्रकार दूसरे नगरों में भी काव्य और संगीत-प्रधान नाटकों के प्रदर्शन हुए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक शैली के नाटकों के साथ-साथ एक दूसरी कोटि के नाटक का जन्म हो रहा है जो चाहे पश्चिमी नाटक के समान सुबद्ध और ड्राइंग रूप-नाटक न हो, किन्तु जिसमें काव्य, संगीत, नृत्य और विविध दृश्य-कलाओं के वे सभी तत्त्व विद्यमान हैं जो नाटक को एक सामाजिक कला की संज्ञा देते हैं। भरत ने नाटक के इसी विशाल और व्यापक रूप की कल्पना करते हुए नाट्य-कला के ग्यारह अंग बताए थे : रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रंग।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के सामने आज नाटक के रूप तथा शिल्प सम्बन्धी जो संकट आ गया है, उसे दूर करने का महान् कार्य नए नाटककार को करना है। एक ओर तो उसे भारतीय नाट्य-परम्परा का पुनर्निर्माण करके उसे नयी कलात्मक संज्ञा और सार्थकता देनी है; और दूसरी ओर, पश्चिमी नाटक के बहुत बड़े दाय को आत्मसात् करना है। इसी दोहरी कलात्मक प्रक्रिया से हमारा नाटक नये-नये रूपों में प्रस्फुटित होगा, और वह साहित्य तथा रंगशालाओं—दोनों का अंग होकर हमारे जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति कर सकेगा।

हिन्दी उपन्यास : सन् १९६०

श्री० नेमिचन्द्र जैन

किसी भी साहित्यिक विधा की प्रगति को एक वर्ष की सीमित परिधि में आँकना कठिन ही नहीं बड़ा विपत्तिपूर्ण है। विशेषकर उपन्यास जैसे व्यापक माध्यम की प्रगति और प्रवृत्तियों का सही मूल्यांकन करने के लिए निश्चय ही लम्बी अवधि बहुत ही आवश्यक है। १९६० में प्रकाशित उल्लेखनीय हिन्दी उपन्यासों में जहाँ सभी प्रचलित प्रवृत्तियों के उदाहरण मिल जाते हैं, वहीं यह निर्धारण करना बड़ा कठिन लगता है कि उपलब्धि और सफलता की दृष्टि से, लोकप्रियता और प्रभाव की दृष्टि से, कौन से उपन्यास प्रधान हैं।

इस वर्ष यशपाल के बृहदाकार उपन्यास 'झूठा-सच' का दूसरा खंड प्रकाशित हुआ है। पहले खंड में १९४७ में देश के विभाजन के ठीक पहले लाहौर के जीवन का चित्र है, और इस दूसरे खंड में विभाजन के उपरान्त पश्चिमी पाकिस्तान से आए हुए विस्थापितों के हिन्दुस्तान में पुनर्वास का चित्र है। दोनों खंड मिल कर इस के इतिहास की एक बड़ी युग-परिवर्तनकारी घटना और उसकी कल्पनातीत परिणति को बड़े विस्तृत रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विविधता, विस्तार और तीव्रता सभी की दृष्टि से यह घटना किसी भी महान् उपन्यास का आधार बन सकती है, और यशपाल ने इसे अपनी विशाल रचना की विषय-वस्तु बनाया, यह अपने आप में एक उल्लेखनीय बात है, विशेषकर जब हम यह स्मरण करें कि देश के विभाजन को लेकर हिन्दी में एक भी महत्त्वपूर्ण उपन्यास नहीं लिखा गया। उपन्यासकार यशपाल ने विभाजन जैसी सर्वग्राही विभीषिका को उपन्यास में उतारने का प्रयत्न करके एक बड़ी भारी चुनौती को स्वीकार किया, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। सम्भवतः तालसताय का 'युद्ध और शान्ति' उनके मन में रहा हो—पाठक के मन में भी 'झूठा सच' को पढ़ते-पढ़ते विश्व साहित्यिक की उस अमर कृति का अवश्य स्मरण होता है। पर दुर्भाग्यवश यह स्मरण 'झूठा सच' के लिए बहुत प्रशंसात्मक नहीं सिद्ध होता। क्योंकि दोनों खंड पढ़ने के बाद अनिवार्य प्रतिक्रिया यही होती है कि इसका केवल विस्तार ही बहुत बड़ा है, उपलब्धि—कलात्मक उपलब्धि—बड़ी सीमित है।

इसके कई कारण हैं। यशपाल मूलतः यथार्थवादी परम्परा के कथाकार हैं। उनके उपन्यासों में घटनाओं की तथा उनके बाह्य रूपों के चित्रण और वर्णन की

प्रधानता रहती है। 'झूठा सच' भी इसी कोटि की रचना बन सकी है। क्योंकि कुछ तो इस उपन्यास की कथावस्तु ही ऐसी है कि उसमें निरी घटनाओं और बाह्य जीवन को ही अधिक महत्त्व मिल जाने की आशंका है। दूसरे, यशपाल की कला-दृष्टि भी अपनी प्रवृत्ति और रुचि के कारण परिवेश पर अधिक टिकती है, उस परिवेश में जीने वाले व्यक्ति की अन्तरात्मा पर कम। 'झूठा सच' में इसलिए विभिन्न घटनाओं, चरित्रों, समस्याओं और उनकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि का बड़ा विशद विवरण और चित्र प्रस्तुत है। इस चित्र में स्थान-स्थान पर राजनीतिक विचारधाराओं और मान्यताओं के गहरे चटकीले रंग भी काम में लाए गए हैं जो कभी-कभी सम्पूर्ण फलक की वर्ण-संगति से विपरीत पड़ते हैं। निस्संदेह उपन्यास के दूसरे खंड में विभाजन के बाद के वर्षों में दिल्ली के अस्त-व्यस्त, केन्द्रविच्युत, जनाकीर्ण जीवन का बड़ा विस्तृत और वैविध्यपूर्ण परिचय और सर्वप्रथम अत्यन्त प्रामाणिक चित्रण मिलता है। लगता है जैसे इतिहास का एक समूचा युग सामने सजीव हो उठा हो। दृश्य-फलक के विस्तार की दृष्टि से यह निस्सन्देह हिन्दी में अद्वितीय है। पर जो इस उपन्यास में नहीं मिलता, वह है इस झंझा में पड़े हुए अथवा उसके प्रभाव से संत्रस्त अथवा अभिभूत मानवों की आत्मा का अन्तर्द्वन्द्व, आत्म-मंथन तथा उनकी मौलिक आध्यात्मिक पीड़ा। शायद यह यथार्थवादी, घटना-प्रधान, बाह्यपरक उपन्यास में, सर्वश्रेष्ठ कृतियों को छोड़ कर, कभी सम्भव नहीं हो पाता।

वास्तव में अन्तर्दृष्टि के अभाव में 'झूठा सच' कुल मिला कर अखबार की कतरनों का बड़ा विशाल संग्रह बन कर रह गया है, चाहे फिर उन कतरनों को चुनने और सजाने में कितनी ही सावधानी और योग्यता प्रकट होती हो। यह बात पहले की अपेक्षा दूसरे खंड में बहुत अधिक है। पहले खंड के जीवन-चित्रों में फिर भी अधिक मार्मिकता है, स्वाभाविकता है, जीवन का सहज रस प्रवाहित होता जान पड़ता है। उन चित्रों में स्थान-स्थान पर ऐसी कचोट और व्यथा भी है जिसे एक कलाकार ही उजागर कर सकता है। पर दूसरे खंड में लेखक सम्पूर्णतः स्वयं घटना की उग्रता, पाशविकता और अकल्पनीय अस्वाभाविकता से दब गया और उसकी कला-दृष्टि कथा और प्रसंगों के अनगिनत सूत्रों में उलझ गई है। इन अनगिनत सूत्रों को सार्थकता प्रदान करने वाली दृष्टि का, गहरी मानवीय करुणा और पीड़ा का, विष को पीकर भी अमृत का सन्धान देने वाली आध्यात्मिक समर्थता का इस उपन्यास में कहीं पता नहीं चलता। 'युद्ध और शान्ति' के लेखक की दृष्टि ने जीवन के विस्तार को देखा था तो उसकी गहनता को भी, और वह विभिन्न खण्ड-सत्यों को एक समग्रता में बाँधकर रख सका था। 'झूठा सच' में केवल विस्तार है, गहनता नहीं। और फिर वह विस्तार भी विशृंखल है, किसी सम्पूर्णता को नहीं स्थापित कर पाता। 'झूठा सच' से इतनी निराशा इसीलिए होती है कि उससे इतनी अधिक आशा करने के लालच की सम्भावना है। 'झूठा सच' का असफलता एक बड़े भारी प्रयत्न की असफलता है।

फिर भी इस उपन्यास में यशपाल की कला की बहुत-सी विशेषताएँ मौजूद हैं। उनकी कहानी गढ़ने और कहने का सामर्थ्य, बीच-बीच में एक विशेष प्रकार की रोचकता और उसकी चसक, विषमता और पाखंड के ऊपर पैने चुभते हुए व्यंग, राजनीतिक आन्दोलनों को सामाजिक यथार्थ के अन्य पक्षों के साथ-साथ समेटते चलने की क्षमता—सभी के साथ एक नए रूप में साक्षात्कार 'झूठा सच' में होता है। इस उपन्यास को पढ़ कर निस्सन्देह यह आशा होती है कि यशपाल भविष्य में कभी बाह्य और अन्तर का ऐसा समन्वय उत्पन्न कर सकेंगे जो उन के उपन्यास को उपलब्धि के सर्वथा नवीन स्तर तक उठा ले जाए।

भगवतीचरण वर्मा का 'वह फिर नहीं आई' भी देश के विभाजन से उत्पन्न विषमता, कुण्ठा और विकृति की भावभूमि पर लिखी गई कथा है जिसमें बड़ी तीखी रचना की सम्भावनाएँ हैं। पर उसे ऐसी अस्वाभाविकता से प्रस्तुत किया गया है कि सारी रचना अजायबघर में या प्रयोगशाला में रक्खी हुई विचित्र विस्मयकारी वस्तु अधिक जान पड़ती है, कलाकृति कम। असम्भव नहीं कि यह कहानी सच्ची घटना पर आधारित हो, पर जिस रूप में वर्मा जी ने उसे लिखा है उसमें कलात्मक सत्य बहुत ही कम है। 'वह फिर नहीं आई' वास्तव में एक छोटी कहानी है जिसे बढ़ाकर उपन्यास बनाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु आकार बढ़ाकर कहानी को उपन्यास बनाना लेखक की विवशता भले ही सूचित करे, उसकी साहित्यिक प्रामाणिकता को उज्ज्वल नहीं करता। 'वह फिर नहीं आई' की भाववस्तु इतनी अल्प और संक्षिप्त है कि उसमें लम्बी कहानी का रूप धरने की भी सामर्थ्य नहीं, उपन्यास की तो बात ही क्या!

यथार्थपरक श्रेणी का एक अन्य उल्लेखनीय उपन्यास है कमलेश्वर का 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ।' आकार में यह छोटा ही है, पर कई दृष्टियों से इसमें मार्मिकता बहुत है। इसमें छोटे कस्बे के धीमे ओछे स्तर पर चलने वाले जीवन की बड़ी संवेदनशील झाँकी प्रस्तुत की गई है। इसमें घटनाओं और पात्रों की विविधता अथवा बहुलता नहीं है, पर सौन्दर्यमूलक कलात्मक चयन अधिक सूक्ष्म है और पात्रों के साथ लेखक की आत्मीयता और पहिचान इतनी यथार्थ और सहज है, जो सारी अपरिपक्वता के बावजूद इस लघु उपन्यास को पठनीय और उल्लेखनीय बनाती है। क़स्बाती ज़िन्दगी को उपन्यासों की कथावस्तु बनाने की दृष्टि से यह एक नई प्रवृत्ति का सूचक तो है ही।

कुछ वर्षों पहले हिन्दी कथा-साहित्य में तथाकथित आंचलिकता पर अचानक बहुत बल दिया जाने लगा था और उस प्रकार की कई एक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ भी प्रकाशित हुई थीं। धीरे-धीरे इस प्रवृत्ति के वेग और उसकी लोकप्रियता दोनों में

कुछ कमी हुई है। ऐसा जान पड़ता है १९६० के उपन्यासों में गौंड आदिवासियों के जीवन पर लिखे गए राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' के 'सूरज किरन की छाँव' में एक अपरिचित अथवा अल्प-परिचित जीवन का भाव-बहुल काल्पनिक रोमांटिक चित्र भर है, जो शहरी जीवन से उकताए हुए मध्यवर्गीय मन के अभीप्सित कल्पना-लोक में विचरण को ही सूचित करता है किसी कलात्मक उपलब्धि को नहीं। इस दृष्टि से कमलेश्वर का क़स्बे की ज़िन्दगी का चित्रण अधिक आत्मीय ही नहीं है, बल्कि अधिक गहरी संवेदनशीलता और कलात्मक प्रामाणिकता का सूचक है और हिन्दी कथा-साहित्य की स्वस्थ प्रवृत्ति को प्रकट करता है।

किसी विशेष जीवन-चर्या को लेकर लिखे गए उपन्यासों में उदयशंकर भट्ट के 'शेष अशेष' का नाम भी लिया जा सकता है। यह उपन्यास साधुओं के जीवन पर है, और भट्टजी के 'सागर, लहरें और मनुष्य' की परम्परा में ही एक नया कदम है। 'सागर, लहरें और मनुष्य' में कई स्थलों पर एक प्रकार की आदिम प्रकृति की दुर्दमनीयता और अनलंकृत और अनगढ़ सौन्दर्य की तीव्रता थी। 'शेष अशेष' में उसके स्थान पर आदर्शोन्मुखता और स्थिर स्वाभाविकता अधिक है।

देहाती जीवन को लेकर शिवसागर मिश्र के 'दूब जनम आई' को छोड़ कर कोई अन्य उपन्यास इस वर्ष देखने में नहीं आया। इसमें स्वतन्त्रता के बाद के ग्राम्य जीवन में परिवर्तन और विभिन्न तत्त्वों के संघर्ष को दिखाने का प्रयत्न है। पर अन्य यथार्थवादी उपन्यासों की भाँति इसमें भी जीवन की सतह की ही झलक है, गहराई की नहीं। और इस सतह के चित्रण में भी वह सूक्ष्मता, विविधता अथवा कलात्मक चयन नहीं दिखाई पड़ता जो अपने ढंग से 'झूठा सच' में है। साथ ही पृष्ठभूमि देहाती होने पर भी इस उपन्यास के अधिकतर पात्रों की चेतना और वाणी शहरी है, देहाती नहीं। उनके भीतर से देहात की आत्मा नहीं बोलती। इसलिए चित्र अप्रामाणिक लगते हैं।

इस सिलसिले में आधुनिक हिन्दी उपन्यासों की एक मौलिक समस्या की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। आज हमारे देश के जीवन में हर स्तर पर एक बड़ा मूलभूत रूपांतर घटित हो रहा है। हमारे पारस्परिक सम्बन्ध बदल रहे हैं, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ बदल रही हैं, मान्यताएँ, विश्वास, आचार-विचार, मूल्य और आदर्श बदल रहे हैं। निस्सन्देह इस सर्वव्यापी रूपान्तर को अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यास से अधिक उपयुक्त माध्यम दूसरा नहीं। किन्तु साथ ही आज का उपन्यासकार स्वयं भी इस परिवर्तन से इतने अधिक सूत्रों से जुड़ा होता है, उसके इतने समीप होता है कि उसका वास्तविक रूप उसे नहीं दीखता और उसे किसी सही परिप्रेक्ष्य में रखना कठिन हो जाता है। प्रायः हमें इस परिवर्तन का बाह्य रूप

ही दिखाई पड़ता है और वह भी बहुत ही अधूरा और ऊबड़खाबड़। उसका चित्र उपस्थित करते समय लेखक प्रायः अपनी निजी धारणाओं, विश्वासों और पूर्वाग्रहों में बह जाता है। वह इस बदलते हुए जीवन को उसकी विचित्रता और विविधता, असंगतियों और अन्तर्विरोधों में देखने के स्थान पर उसका कोई न कोई सरलीकृत, एकरस, सीधासादा चित्र घड़ने लगता है। उसे यथार्थ के अलग-अलग स्तर नहीं दिखाई पड़ते। टूटते-बदलते जीवन का प्रवाह दिखाई पड़ता है तो उसकी स्थिरता नहीं दीखती, और स्थिरता दीखती है तो जीवन जड़ीभूत जान पड़ने लगता है। निस्सन्देह संक्रान्तिकालीन लेखक के सामने यह एक बुनियादी कठिनाई है। पर किसी न किसी स्तर पर इस समस्या को सुलझाए बिना आज उपन्यासकार अपनी कृति को सक्षम नहीं बना सकता। हिन्दी के अधिकांश नवीन उपन्यास इस विषमवृत्त से मुक्त न हो सकने के कारण ही अपूर्ण लगते हैं और उपलब्धि के स्तर तक पहुँचते-पहुँचते रह जाते हैं। १९६० में प्रकाशित लगभग सभी उपन्यास इस उलझन को किसी न किसी रूप में प्रकट करते हैं।

ऊपर जिन उपन्यासों की चर्चा हुई है वे सभी सामूहिक और मूलतः बाह्य जीवन के चित्रण की रचनाएँ हैं। उनमें व्यक्ति के अन्तर्मन और अन्तर्द्वन्द्व का नहीं, बल्कि परिवेश और उसमें, तथा उसके कारण, उत्पन्न होने वाले विक्षोभ और संघर्ष का अंकन है। इसीलिए इन रचनाओं में आर्थिक अथवा सामाजिक विषमताओं तथा बाह्य सामाजिक सम्बन्धों पर ही बल अधिक है। इसके विपरीत इस वर्ष ऐसे भी उपन्यास प्रकाशित हुए हैं जिनकी विषयवस्तु नारी और पुरुष का परस्पर आकर्षण और उसकी मोहक तन्मयता, तथा समकालीन सामाजिक विधान अथवा वैयक्तिक विषमताओं के कारण उस आकर्षण की परिणति हैं। इस भावभूमि पर समकालीन परिवेश से सम्बन्धित उपन्यासों से पहले अमृतलाल नागर के 'सुहाग के नूपुर' की चर्चा की जा सकती है। इस उपन्यास में एक ही पुरुष की प्रणयिनी दो नारियों की कथा है : एक उसकी पत्नी है, दूसरी एक नर्तकी, गणिका। उपन्यास का काल है पहली-दूसरी शताब्दी और देश दक्षिण भारत का एक नगर। पुरुष पात्र समस्त प्रदेश के सब से धनी व्यापारी का पुत्र है। कथा की समस्या है कि वेश्या अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से पुरुष को प्यार करके भी वह सामाजिक मान्यता या सार्थकता नहीं पा सकती जो पत्नी को सहज ही प्राप्त है। सुहाग के नूपुर उसे सुलभ नहीं। गणिका की इसी महत्त्वाकांक्षा और उससे उत्पन्न तीव्र मानसिक विक्षोभ को लेकर रची गई इस कथा में बहुत ही तीखी व्यथा और मार्मिकता की सम्भावना भी है और एक प्रकार की सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता भी। इस समस्या को किसी भी युग और समाज के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु नागर जी की यह रचना मौलिक नहीं है, बल्कि दक्षिण भारत के एक अत्यन्त प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिलप्पदिकारम्' (सुहाग के नूपुर) पर आधारित है। यद्यपि 'सुहाग के नूपुर' अनुवाद

नहीं है, फिर भी उसकी स्वतन्त्र मौलिक सत्ता इतनी क्षीण है कि उसका अलग से विवेचन सर्वथा उपयुक्त नहीं लगता। दक्षिण भारत के आज से १८०० वर्ष पूर्व के जीवन का चित्र या तो इतिहास और सामाजिक जीवन के नानाविध वृत्तान्त में डूब कर किया जा सकता था, अथवा एक प्रकार की काव्यात्मकता के द्वारा। इस उपन्यास में दोनों ही नहीं हैं। जो कुछ प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक है वह सभी मूल काव्य ग्रन्थ से लिया हुआ जान पड़ता है। साथ ही उपन्यास में वह काव्य-तत्त्व नहीं है जो यथातथ्य वर्णन को अनावश्यक बना देता है। मूल महाकाव्य अवश्य ही बहुत बड़ा होगा, क्योंकि इसका कथासूत्र इतना विस्तृत है कि इस लघु उपन्यास में कठिनाई से कूटकूट कर ही भरा जा सका है। इसी से एक उपन्यास के पात्रों में जो तर्कसिद्ध आन्तरिक विकास-संगति आवश्यक है वह स्थापित नहीं हो सकी है और सारी रचना एक प्रकार की कृत्रिमता से भाराक्रान्त लगती है। यह बार-बार अनुभव होता है कि यदि नागर जी ने उस महाकाव्य से प्रेरणा लेकर उस समस्या को किसी अन्य परिवेश में भिन्न चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया होता तो वेश्या-जीवन के विभिन्न पक्षों से अपने गहरे परिचय के कारण, शायद वह बड़ी सक्षम रचना प्रस्तुत कर पाते।

पहले कहा गया है कि इस वर्ष हिन्दी में दो-एक ऐसे उपन्यास भी प्रकाशित हुए हैं जिनका केन्द्र व्यक्ति और उसका अन्तर्मन, नारी और उसका आकर्षण, तथा उसकी पीड़ा और उससे उत्पन्न कुण्ठा है। इस कोटि के उपन्यासों में वर्ष के आरम्भ में प्रकाशित राजेन्द्र यादव का 'शह और मात' तथा वर्ष के अन्त में डॉ० देवराज का 'अजय की डायरी' प्रवृत्ति और उपलब्धि दोनों की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। दोनों में स्त्री पुरुष के प्रेम और उसके सूक्ष्म घात-प्रतिघात की कथा है। दोनों की विषय-वस्तु व्यक्तिनिष्ठ, आत्मपरक है जिसमें सामाजिक सम्बन्ध अथवा बाह्य घटनाओं का उपयोग केवल परिवेश के रूप में, आत्मा के आन्तरिक विक्षोभ को अभिव्यक्त करने के साधन के रूप में हुआ है। यथार्थवादी वस्तुपरक उपन्यासों की अपेक्षा ऐसी रचनाओं में भावात्मक तीव्रता अधिक होती है—एक प्रकार की लगभग काव्य-जैसी उत्कटता और संगीतात्मकता, जो यदि सत्य हो तो मन को बड़े गहरे में जाकर छूती है और अभिभूत करती है। आत्मपरक तथा व्यक्तिगत भावानुभूति की रचनाएँ साधारण यथार्थवादी उपन्यासों की अपेक्षा घनीभूत भी अधिक होती हैं। उनमें अधिक विस्तार अथवा पात्रों की बहुलता और विविधता अनावश्यक ही नहीं, मूल कथ्य को विकृत और हलका कर देती है। इसलिए ऐसे उपन्यासों में बाह्य संसार उतना ही सीमित और संकुचित होता है जितना उनका भावजगत् गहन और तीव्र।

राजेन्द्र यादव के 'शह और मात' में न्यूनाधिक मात्रा में ये सभी बातें हैं। पर उसके पीछे जो भावजगत् है वह बड़ा किशोर-सुलभ है, कालेज के विद्यार्थी जैसा। उपन्यास में भावों की तरलता है और एक प्रकार की आन्तरिक ईमानदारी भी है,

पर वह सब किसी काल्पनिक अविश्वसनीय-से लोक में जाकर बिखर जाती है। व्यक्ति-परक रचना में वैसे ही वास्तविकता अत्यन्त वायवी और अमूर्त होती है, और अनुभूति की सचाई और तीव्रता तथा घोर आत्मसंयम के बिना उसे प्रेषणीय और विश्वसनीय बनाना संभव नहीं। फिर यदि लेखक वर्णन, घटना अथवा स्थिति-विशेष के मोह में भी पड़ जाए तो रचना निरी कल्पना-विलासमात्र रह जाती है। अन्त तक पहुँचते-पहुँचते 'शह और मात' में यही होता है। राजेन्द्र यादव के पिछले उपन्यासों से इसमें भाव-सत्य अधिक प्रखर होने पर भी इसका विन्यास मिथ्या भावुकता की मरुभूमि में भटक कर लुप्त हो गया है।

डॉ० देवराज का आत्मकथात्मक उपन्यास 'अजय की डायरी' अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ है। उसमें एक संस्कृति, दर्शन और साहित्य के विद्वान् विवाहित व्यक्ति के किसी अन्य अविवाहित युवती से प्रेम, उसकी विफल परिणति तथा उससे उत्पन्न विकलता और कुण्ठा की कथा है। जिस सक्षमता से लेखक ने अजय के हेम की ओर क्रमशः अनुरक्त होने और फिर धीरे-धीरे अत्यन्त भावविह्वल हो उठने का चित्रण किया है वह सचमुच हिन्दी के मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म-भावपरक उपन्यास को एक नया स्तर प्रदान करता है। सारे प्रसंग में एक मीठ से उत्ताप की ऊष्मा और दीप्ति है, जिसे बड़े संयम और सूक्ष्मता तथा गहरी संवेदना और अनुभूति से अंकित किया गया है। पर यह बात उपन्यास के मुख्य केन्द्रीय प्रसंग के बारे में ही कही जा सकती है। पूरे उपन्यास को देखने पर उसमें अनावश्यक ज्ञान-चर्चा और सैद्धान्तिक दार्शनिक विश्लेषण की तथा असंबद्ध प्रसंगों की ऐसी अनुपातहीन भरमार मिलती है कि धीरज छूटने लगता है। इसी कारण एक ओर वह बार-बार नीरस और दुर्गम हो जाता है, और दूसरी ओर शिथिलता और आकारहीनता के कारण उसकी कलात्मकता नष्ट होने लगती है।

हिन्दी के व्यक्तिपरक अथवा तथाकथित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की यह सामान्य दुर्बलता है। सामाजिक अथवा बाह्य यथार्थ के स्थान पर व्यक्तिगत भाव-सत्य की अभिव्यक्ति के उपन्यास सहज ही बड़ी बचकानी संयमहीनता के शिकार हो जाते हैं और तीव्रता और गहनता के स्थान पर उनमें हल्की भावुकता ही हाथ लगती है। १९६० के उपन्यासों में इस बात के कोई उल्लेखनीय अपवाद नहीं हैं। किन्तु शायद यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर यथार्थवादी उपन्यासों की अपेक्षा उनमें भावों की गहनता और मार्मिकता फिर भी अधिक है।

शिल्प की दृष्टि से भी यह तुलना एक उल्लेखनीय विशेषता को प्रगट करती है। 'शह और मात' तथा 'अजय की डायरी' को छोड़ कर बाकी सारे उपन्यास सीधे-सादे वर्णन-प्रधान हैं। उनमें किसी प्रकार का रूप अथवा शिल्पगत वैचित्र्य नहीं है।

दूसरी ओर 'शह और मात' तथा 'अजय की डायरी' दोनों ही डायरी के रूप में लिखे गए हैं और उनमें बीच-बीच में पत्रों का भी उपयोग है। दोनों में ही एक से अधिक पात्रों की डायरी उद्धृत की गई है। यह शिल्पगत प्रयोग इतना तो अवश्य सूचित करता है कि जिस भाव-सत्य को लेखक अभिव्यक्त करना चाहता है उसके लिए केवल वर्णनकारिता से अधिक अथवा भिन्न किसी अन्य दृष्टि-बिन्दु की आवश्यकता है। किन्तु कुल मिलाकर इन दोनों उपन्यासों में भी यह प्रयोग नवीनता मात्र है। न तो ये लेखक डायरी की आत्मीयता अथवा विशिष्टता को ही निभा पाए हैं, और न उसकी अनिवार्यता स्थापित कर सके हैं। दोनों ही उपन्यासों की डायरियाँ केवल प्रथम पुरुष में लिखे गए वर्णन मात्र हैं। डायरी की तिथियाँ हटा देने से बात के सूत्र में अथवा कथा के प्रवाह में थोड़ा-सा अन्तर भी शायद न पड़े। इस दृष्टि से ऐसा लगता है मानो लेखकों ने यह शिल्पगत वैचित्र्य नवीनता के मोह से एक प्रकार के खिलौने के रूप में अपना लिया हो। रूप और वस्तु के अनिवार्य और अविभाज्य सम्बन्ध का प्रभाव उनमें नहीं है। फिर भी शायद यथार्थवादी उपन्यासों की इतिवृत्तात्मक शैली की तुलना में इस प्रयोग में कुछ सरसता अधिक है।

इस विवेचन में समस्त प्रकाशित उपन्यासों की नामावली गिनाने के बजाय कुछेक प्रतिनिधि अथवा अपेक्षाकृत अधिक समर्थ, परिस्फुट रचनाओं की ही कुछ विस्तार से चर्चा करना उचित समझा गया है। यों वर्ष भर में प्रकाशित उपन्यासों और उनके प्रशंसक पाठकों की संख्या निस्सन्देह बहुत होगी।

कुल मिलाकर १९६० में प्रकाशित उपन्यास यद्यपि उपलब्धि के कोई नए शिखर छूते नहीं जान पड़ते, फिर भी विषय-वस्तु की विविधता और कलात्मकता के एक स्तर पर वे हिन्दी उपन्यास की प्रौढ़ता और रचनाकुशलता के विस्तार को अवश्य ही सूचित करते हैं। यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि यदि उन्हें पढ़कर किसी गहरे साहित्य अथवा सौन्दर्यमूलक आनन्द की संतुष्टि नहीं मिलती, तो उनसे सर्वथा निराश होने का भी कोई कारण नहीं।

हिन्दी कहानी : सन् १९६०

प्रो० चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

सन् १९६० में जो इस सदी के छठे दशक का अन्तिम वर्ष है, हिन्दी कहानी की स्थिति पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम हिन्दी कहानी के विकास का अत्यन्त संक्षेप में पर्यवलोकन कर लें। एक तो यह पर्यवलोकन उपयोगी पृष्ठभूमि का काम देगा, फिर छठा दशक अब समाप्त हो गया है, इससे नए दशक में प्रवेश करते हुए केवल एक वर्ष का चित्रण काफ़ी नहीं रहेगा।

यों तो संसार भर में कहानी नामक इस नए साहित्यिक माध्यम का विकास हुए बहुत समय नहीं हुआ। गाथा, किस्से, कहानी आदि का इतिहास अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी वर्तमान कहानी का विकास १९वीं सदी में हुआ था। हिन्दी कहानी का इतिहास तो और भी अधिक अर्वाचीन है। उन्नीसवीं सदी के अन्त तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ में मुख्यतः बंगला से प्रेरणा लेकर हिन्दी में कहानी लिखने का प्रथम प्रयास किया गया। बंगला के समान उस युग की कहानियाँ भावुकता-प्रधान सामाजिक तत्त्व से परिपूर्ण थीं। मेरी राय में वास्तव में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद को हिन्दी कहानी का जनक कहना चाहिए।

प्रथम विश्वयुद्ध के आसपास जिस हिन्दी कहानी ने जन्म लिया, वह हिन्दी कहानी इस सदी के तीसरे दशक तक न केवल भारतीय भाषाओं में प्रमुख स्थान प्राप्त कर गई, अपितु विश्व के कहानी-साहित्य में गिनी जाने लायक भी वह हो गई। चौथे दशक में उसका विकास और भी अधिक तेज़ी से हुआ और द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने तक हिन्दी साहित्य में कविता के साथ ही साथ कहानी भी एक परिपुष्ट साहित्यिक माध्यम बन गया था।

प्रेमचन्द के आगमन के साथ ही साथ हिन्दी कहानी की स्वतन्त्र सत्ता बन गयी थी। वह भावुकता-प्रधान न रह कर वास्तविकता का चित्रण बनने लगी थी। प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानी को प्रगतिशील वास्तविकता के चित्रण का मार्ग दिखाया, तो प्रसाद ने उसे भावपूर्ण गम्भीर चिन्तन का माध्यम बनाया। प्रथम महायुद्ध से लेकर तीसरे दशक की समाप्ति तक हिन्दी कहानी पर यही दोनों प्रमुख प्रभाव रहे।

चौथे दशक में, जब हिन्दी कहानी विश्व स्तर पर पहुँची, तब तक उसकी विधा, शिल्प-विधान आदि भी यथेष्ट मात्रा में पुष्ट हो चुके थे।

विचारों की दृष्टि से हिन्दी कहानी प्रारम्भ ही से उन्नत और प्रगतिशील रही। लगभग २० वर्षों तक हिन्दी कहानी मुख्यतः आदर्श-प्रधान रही। भारत की राष्ट्रीय चेतना की पुकार, प्राचीन संस्कृति से लगाव, सामाजिक सुधारों का पोषण—इन सब का बहुत अच्छा और सही-सही प्रतिबिम्ब हिन्दी कहानी से निरन्तर मिलता रहा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव से बंगला कहानी काफ़ी अंशों में अन्तर्मुखी चेतना तथा भीतरी मानसिक द्वन्द्वों को प्रतिबिम्बित कर रही थी। पर विकास हो जाने पर हिन्दी कहानी मे व्यक्तिगत मानसिक द्वन्द्वों का चित्रण अपेक्षाकृत कम हुआ। वह सामाजिक स्तर पर अधिक रही, मानवीय सम्बन्धों के स्तर पर उसकी अपेक्षा कम और मानस-स्तर पर और भी कम। हिन्दी कहानी की उपलब्धियाँ चाहे भारतीय कहानी से भिन्न श्रेणी की न रही हों, पर यह निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि भारत की राष्ट्रीय चेतना का सही-सही, वास्तविकता-पूर्ण और प्रेरणादायक चित्रण करने में हिन्दी कहानी को असाधारण सफलता प्राप्त हुई।

दूसरे विश्वयुद्ध से संसार भर के साहित्यों में जो गत्यवरोध आया था, उससे हिन्दी साहित्य भी बरी नहीं रहा। यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी कहानी में यह गत्यवरोध सब से अधिक स्पष्टता के साथ और सब से अधिक समय तक दिखाई दिया। इस तरह इस सदी का पाँचवाँ दशक हिन्दी कहानी की दृष्टि से लगभग वीरान-सा ही रहा।

छठे दशक में हिन्दी कहानी में फिर से चेतना-संचार हुआ और यह हर्ष का विषय है कि इस चेतना-संचार की गति बहुत तीव्र रही। छठा दशक, जिस की समाप्ति प्रतिपाद्य वर्ष के साथ हुई है, हिन्दी कहानी की दृष्टि से अत्यन्त उर्वर दशक सिद्ध हुआ है। इस दशक में हिन्दी कहानी की तीसरी पीढ़ी के कितने ही नये लेखक इस क्षेत्र में आये हैं। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि हिन्दी कहानी की प्रथम पीढ़ी में गुलेरी, प्रेमचन्द, प्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा, सुदर्शन, राय कृष्णदास, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि को गिनता हूँ। दूसरी पीढ़ी में उग्र, जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, कमला चौधरी, सत्यवती मलिक, उषादेवी मित्रा, रांगेय राघव, विष्णु प्रभाकर, उपेन्द्रनाथ अश्क, मन्मथनाथ गुप्त आदि हैं। हिन्दी कहानी लेखकों की तीसरी पीढ़ी फणीश्वर नाथ रेणु, भीष्म साहनी, अमृतराय, मोहन राकेश, रामकुमार भैरवप्रसाद गुप्त, राजेन्द्र यादव, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, रजनी पनिकर, मन्नू भण्डारी, कुलभूषण, कमलेश्वर, शेखर जोशी, सत्येन्द्र शरत्, कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा,

ओम्प्रकाश श्रीवास्तव आदि की है । ये सब नाम मैंने केवल स्पष्टीकरण के उद्देश्य से दिये हैं । पूरी सूचियाँ देने का प्रयास मैं नहीं कर रहा हूँ ।

इस तरह हिन्दी कहानी की तीसरी पीढ़ी के विकास के साथ पिछले (छठे) दशक में हिन्दी कहानी की धारा पहले की अपेक्षा भी अधिक प्रखर वेग से बहने लगी है । पाँचवें दशक के गत्यवरोध की तुलना में हिन्दी कहानी के इस उन्मुक्त प्रवाह का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है । आज हिन्दी में कहानी-लेखकों की संख्या नये रिकार्ड तक जा पहुँची है । विषय, क्षेत्र, शैली और शिल्प की दृष्टि से भी हिन्दी कहानी में आज असाधारण विविधता आ गई है । हिन्दी कहानी के रूप और शिल्प पर उसका स्पष्ट प्रभाव पड़ा है ।

इस दशक में हिन्दी कहानी स्पष्टत: बहिर्मुखी हो गई है । यों तो स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारत की सभी भाषाओं का साहित्य प्रधानत: अन्तर्मुखी से प्रधानत: बहिर्मुखी हुआ है । पर हिन्दी उपन्यास तथा हिन्दी कहानी पर यह प्रभाव सब से अधिक स्पष्ट रूप में पड़ा है । स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से हमारे देश की समस्याएँ एक दम बदल गई हैं । व्यक्तिगत परिपूर्णता तथा सामाजिक और आर्थिक सुधारों के लिए स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद जो भरपूर प्रयत्न हो रहे हैं, वे स्वाभाविक रूप से भारत की सामाजिक चेतना को जगा रहे हैं और उनका प्रभाव साहित्य को अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी बना रहा है । जिस तरह हिन्दी उपन्यास में आज एक व्यक्ति की भीतरी-बाहरी अनुभूतियों की अपेक्षा समूह की अनुभूतियों और चिन्ताओं का चित्रण किया जा रहा है, उसी प्रकार आज की हिन्दी कहानी में उन रचनाओं का मूल्य स्पष्टत: बढ़ गया है, जो सीधे या परोक्ष रूप से समष्टि से सम्बद्ध हैं ।

बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना का एक रूप सर्वत्र व्याप्त असन्तोष और खीज के रूप में भी प्रकट हो रहा है । स्वाधीनता-प्राप्ति से पूर्व भारतीय जनता का ख़याल था कि स्वाधीन होते ही हमारी सब समस्याएँ आप से आप हल हो जाएँगी । पर स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद व्यवहार में यह पाया गया कि स्वाधीनता ने हमें यह अवसर तो अवश्य दे दिया है कि यदि हम पूरी ईमानदारी से और मिलकर आयोजित परिश्रम करें तो हमारी आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ हल हो सकती हैं । पर व्यवहार में आज का जन-जीवन और भी अधिक संघर्षमय, महँगा और अनिश्चित बन गया है । और तो और, राष्ट्रीय जीवन में से भ्रष्टाचार तक दूर नहीं हो पाया । इन परिस्थितियों के वास्तविक कारणों पर विचार किये बिना जन-साधारण अपने चारों ओर की परिस्थितियों से असन्तुष्ट होने लगे हैं । वे चाहते हैं कि उनके जीवन में परिवर्तन आ जाए । पर कैसा और क्या परिवर्तन आये—यह उन्हें अभी तक समझ नहीं आ रहा ।

इन परिस्थितियों का सीधा प्रभाव आज के साहित्य पर, विशेषत: कहानी और उपन्यास पर पड़ा है। जीवन की निराशाभरी झुंझलाहट हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कहानी-साहित्य में भी स्वभावत: झुंझलाहट और कडवेपन की वृद्धि कर रही है। इसी से नई हिन्दी कहानी में व्यंग्य और कटुता की वृद्धि हो गई है। दूसरे विश्वयुद्ध के कारण कुछ इसी ढंग का प्रभाव विश्व भर की कहानी पर भी पड़ा है। परन्तु हिन्दी कहानी पर यह प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट है।

दूसरे विश्वयुद्ध से उत्पन्न व्यापक गत्यवरोध से मुक्ति पाकर छठे दशक में विश्व भर का साहित्य और विश्व भर की कला जैसे नये क्षेत्रों का अवगाहन करने लगे। स्वभावत: मूल्यों में भी अन्तर आया। नग्न और उद्दाम वासनाओं का चित्रण गम्भीर कहानी-साहित्य में भी प्रवेश कर गया। अस्तित्ववाद के प्रतिष्ठापक सार्त्र तथा कुछ इटेलियन कहानी-लेखकों ने इस सम्बन्ध में जो प्रयोग किये, प्रारम्भ में उनकी कुछ प्रतिकूल आलोचना होने पर भी बहुत शीघ्र उन्हें स्वीकर कर लिया गया। हिन्दी कहानी में भी उस तरह के परीक्षण पिछले दशक में काफी संख्या में हुए।

दूसरा विश्व-युद्ध इतना भयंकर था कि उसमें मानव जाति के अभी तक बनाये गये सभी मूल्य कसौटी पर कसे जा रहे थे और मानव उनमें बुरी तरह फ़ेल हो रहा था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि सभी क्षेत्रों में पुराने दृष्टिकोण और पुराने मूल्य बदलने लगे। साहित्य और कला के क्षेत्र में इस स्थिति ने प्राचीन के प्रति और नुकीले अस्पष्ट चित्रण को जन्म दिया। विश्व की चित्रकला में वस्तु-निरपेक्ष विद्रोह (नौन-रैप्रेजेण्टेशनल) शैली का प्रादुर्भाव तथा कविता में अस्पष्ट दुरूहता का समावेश इन्हीं परिस्थितियों का प्रभाव था। हिन्दी कहानी पर भी इस स्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ा, पर हमें मानना चाहिए कि यह प्रभाव इतना व्यापक और शक्तिशाली था, जो हिन्दी कहानी को अपनी परम्पराओं से उखाड़ सके या दूर कर सके। हाँ, इस प्रभाव से हिन्दी कहानी की विविधता में अवश्य वृद्धि हुई।

इस तरह हिन्दी कहानी का क्षेत्र निस्सन्देह पहले की अपेक्षा बहुत अधिक, विविध और विस्तृत हो जाने पर भी अभी तक यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी का कहानी-स्तर आज इसी सदी के चौथे दशक से अधिक ऊँचा हो गया है, चौथा दशक, जब हिन्दी की पहली पीढ़ी के बहुत से तथा दूसरी पीढ़ी के सभी लेखक हिन्दी कहानी को समृद्ध कर रहे थे और जब प्रेमचन्द्र ने 'कफ़न' नामक कहानी लिखी थी, जिसके स्तर की कहानी अभी तक हिन्दी में दूसरी नहीं लिखी गई। पर जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, हिन्दी कहानी का क्षेत्र आज बहुत विस्तृत हो गया है और उसमें शिल्प तथा विधा में जो नये-नये परीक्षण हो रहे हैं, उनके आधार पर यह

आशा की जा सकती है कि आने वाले दशक में हिन्दी कहानी का स्तर भी ऊँचा उठ जाए।

× × × ×

हिन्दी कहानी की दृष्टि से १९६० का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात का है कि इस वर्ष हिन्दी कहानी के प्रकाशन में स्पष्ट प्रगति दिखाई दी। कहानी की कम से कम तीन नई और श्रेष्ठ कोटि की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन इसी वर्ष प्रारम्भ हुआ। 'नई कहानियाँ', 'सारिका'—इन दोनों पत्रिकाओं ने हिन्दी कहानी के प्रकाशन में नया स्तर कायम किया है। इन दोनों के अतिरिक्त 'कादम्बिनी' भी श्रेष्ठ कहानियों के प्रकाशन को विशेष महत्त्व दे रही है। अन्य भी कितने ही नये कहानी-पत्रों के प्रकाशन की घोषणा इस वर्ष हुई है। हिन्दी लेखकों के कहानी-संग्रहों का प्रकाशन तो बहुत अधिक संख्या में इस वर्ष नहीं हुआ, पर भारतीय तथा विदेशी भाषाओं के हिन्दी-अनुवादों के संग्रह इस वर्ष अपेक्षाकृत अधिक संख्या में प्रकाशित हुए हैं।

प्रतिपाद्य वर्ष की दूसरी विशेषता यह है कि इस वर्ष कहानी के रूप, शिल्प-विधान और आत्मा के सम्बन्ध में काफ़ी स्वस्थ चर्चा हिन्दी में हुई है। हिन्दी के कितने ही प्रतिष्ठित पत्रों ने इस चर्चा में भाग लिया। धर्मयुग, कहानी, नई कहानी, ज्ञानोदय, आदर्श, कल्पना, सरिता इस दृष्टि से विशेषतः उल्लेखनीय हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि ये सब चर्चाएँ बहुत ऊँचे स्तर की थीं, फिर भी सब मिलाकर इन से हिन्दी-लेखकों और हिन्दी-पाठकों को अपनी कहानी-सम्बन्धी धारणाओं को कसौटी पर कसने में मूल्यवान् सहायता मिली है।

इस वर्ष लिखी गयी कहानियों की संख्या तुलनात्मक दृष्टि से अधिक होते हुए भी कोई ऐसी कहानी मेरी निगाह में नहीं है, जिसका पृथक् उल्लेख यहाँ किया जाए। फिर भी इस वर्ष तीसरी पीढ़ी के कहानी-लेखकों में भीष्म साहनी, मोहन राकेश, मन्नू भण्डारी, राजेन्द्र यादव, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि की रचनाएँ हिन्दी कहानी का स्तर कायम रखने में सफल हुई हैं। यह विशेष सन्तोष का विषय है कि पहली पीढ़ी के दो लेखक तथा दूसरी पीढ़ी के अधिकांश लेखक १९६० में न केवल क्रिया-शील रहे हैं, अपितु उन्होंने हिन्दी कहानी की समृद्धि में बहुमूल्य योग दिया है।

शिल्प-विधान की दृष्टि से गत वर्ष जो परीक्षण हुए हैं, वे निस्सन्देह महत्त्व-पूर्ण हैं। कोई नाम दिये बिना मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि कतिपय नये कहानी लेखक शिल्प-विधान के इन परीक्षणों को मात्रा से अधिक महत्त्व दे रहे हैं। उनका विचार है कि जैसे वे विश्व-कहानी को एक नया मार्ग दिखा रहे हैं। गत वर्ष एक

लेखक ने यहाँ तक लिखा था कि 'हिन्दी कहानी में अब तक जो छिछलापन, सतही चित्रण और झूठे अनजाने मूल्यों का घपला था' नये हिन्दी कहानी-लेखक उससे उसे मुक्ति दे रहे हैं। सचाई यह है कि हिन्दी कहानी की अपनी शानदार परम्पराएँ इसी अल्पकाल में बन गयी हैं और आज के हिन्दी कहानी-लेखक भी उसी परम्परा की एक कड़ी मात्र हैं, उससे अधिक नहीं। इस तरह की अहंभावपूर्ण नारेबाज़ी अवज्ञा तथा असम्मान की भावनाएँ बढ़ाने वाली सिद्ध हुई हैं। पर दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि बिम्ब-विधान और शिल्प-विधान के नये परीक्षणों से हिन्दी कहानी को अधिक शक्तिशाली बनाने में मूल्यवान् सहायता मिली है। इन प्रयोगों पर विदेशी प्रभाव भी स्पष्ट है। आवश्यकता इसी बात की है कि हिन्दी कहानी को नकल से बचाया जाए। जो कुछ नयापन उसमें आए, वह एक सहज-स्वाभाविक विकास का अंग हो, वह आरोपित न हो। सब मिलाकर प्रयोगों की दृष्टि से सन् १९६० इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

गत वर्ष जो कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनमें मोहन सिंह सेंगर के 'टूटी लकीर' तथा 'नया स्वर' नामक दो कहानी-संग्रह, रांगेय राघव का 'पाँच गधे', राजेन्द्र अवस्थी का 'महुआ, आम के जंगल', केशवचन्द्र वर्मा का 'प्यासा और बेपानी के लोग', अरिगपूडि का 'जीने की सज़ा', राधाकृष्ण कुकरेती का 'घाटी की आवाज़ें', ललित का 'दर्शनप्रिया', अख्तर हुसैन रायपुरी का 'आग और आँसू', रामानुज लाल श्रीवास्तव का 'हम इश्क के बन्दे हैं' आदि उल्लेखनीय हैं। इन में से सेंगर के दोनों संग्रह दो विभिन्न धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'टूटी लकीर' में उनकी सामाजिक कहानियाँ हैं, और 'नया स्वर' में नव-निर्माण सम्बन्धी। 'पाँच गधे' तथा 'प्यासा और बेपानी के लोग' दोनों संग्रहों में मुख्यतः व्यंग्य और हास्य रस प्रधान कहानियाँ हैं। अरिगपूडि का 'जीने की सज़ा' नामक कहानी-संग्रह दक्षिण भारत के सामाजिक जीवन के चित्र प्रस्तुत करता है। राजेन्द्र अवस्थी तृषित तथा राधाकृष्ण कुकरेती के कहानी-संग्रहों में दी गयी कहानियों में आदिवासियों तथा पहाड़ी जीवन का चित्रण है। कुछ अपवादों के साथ मिलाकर इन संग्रहों का स्तर साधारण से अधिक नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस वर्ष विभिन्न ढंगों के तथा अन्य भाषाओं से अनूदित कहानी-संग्रह काफ़ी बड़ी संख्या में प्रकाशित हुए हैं। रांगेय राघव ने पुराण आदि के आधार पर जो विशाल कथा-संग्रह तैयार किए हैं, उन्हें वर्तमान कहानियों में नहीं गिना जा सकता। पर भगवतशरण उपाध्याय का 'इतिहास साक्षी है' कहानी की कसौटी पर भी पास किया जा सकता है। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ' तथा बम्बई के एक प्रकाशक द्वारा प्रकाशित 'प्रतिनिधि हास्य कहानियाँ, 'उल्लेखनीय संग्रह हैं। इसी तरह विभिन्न

प्रकाशकों ने उर्दू, बंगला, अंग्रेज़ी, रूसी आदि कहानियों के अनुवादों के कुछ संग्रह भी इस वर्ष प्रकाशित किए हैं। कुछ संग्रहों के नामों में 'सर्वश्रेष्ठ' विशेषण भी दिया गया है, जैसे 'संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ'। पर वास्तव में वे सर्वश्रेष्ठ कहानियां नहीं हैं।

सब मिलाकर १९६० का वर्ष हिन्दी कहानी में इस कारण स्मरण किया जाएगा कि यह बीसवीं सदी के उस दशक का अन्तिम वर्ष है, जिस दशक में हिन्दी को कितने ही श्रेष्ठ नये कहानी-लेखक प्राप्त हुए और जिस दशक में हिन्दी कहानी की धारा पुनः प्रखर वेग से प्रवाहित होने लगी।

हिन्दी आलोचना : सन् १९६०

डॉ० भगीरथ मिश्र

हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य को, हिन्दी के अनुसन्धान-ग्रन्थों से अलग करना कठिन है, क्योंकि अधिकांशत: हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र को महत्त्वपूर्ण उपलब्धि अनुसन्धान-कृतियों के द्वारा ही प्राप्त होती है। अतएव मैं यहाँ हिन्दी आलोचना-क्षेत्र की गतिविधि का प्रवृत्तिगत मूल्यांकन करते समय हिन्दी-संशोध या अनुसन्धान-ग्रन्थों को उसमें स्वच्छन्दतापूर्वक समाविष्ट करने की स्वतन्त्रता का उपयोग करूँगा।

उपर्युक्त निरीक्षण में जहाँ पर यह संकेत है कि सम्भवत: आलोचना और अनुसन्धान के भेद का विशेष ध्यान रखकर हम अनुसन्धान-क्षेत्र में कम अग्रसर होते हैं, वहीं यह भी एक सुयोग, सन्तोष और प्रसन्नता की बात है कि अनुसन्धान के फलस्वरूप हमारे सामने अधिक प्रौढ़ आलोचनात्मक साहित्य प्रकट हो रहा है।

विगत वर्ष में प्रकाशित आलोचना-साहित्य में हम प्रमुखतया आलोचना की जिन प्रवृत्तियों के साहित्य को प्राप्त कर सके हैं, वे निम्नांकित हैं :

(१) सैद्धान्तिक आलोचनाप्रवृत्ति, (२) ऐतिहासिक आलोचनाप्रवृत्ति जिसे हम तीन रूपों में पाते हैं : (क) साहित्यिक प्रवृत्ति या परम्परा की आलोचना, (ख) साहित्यिक विधा की आलोचना, (ग) किसी युग या प्रदेश के साहित्य की समग्रतया या विशिष्ट दृष्टि से आलोचना। (३) सांस्कृतिक अध्ययन—इसे भी कई रूपों में देखा जा सकता है, जैसे (क) समग्र सांस्कृतिक तत्त्वों के आधार पर, (ख) विशिष्ट सांस्कृतिक तत्त्वों के आधार पर जैसे लोकतात्त्विक अध्ययन, संगीत की दृष्टि से अध्ययन, आंचलिक संस्कृति की दृष्टि से अध्ययन आदि। (४) विशिष्ट कवि, साहित्यकार या कवियों की आलोचना।

उपर्युक्त प्रकार की प्रवृत्तियाँ गत वर्ष के आलोचना-साहित्य में देखने को मिलती हैं। इन प्रवृत्तियों में सैद्धान्तिक आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना तथा विशिष्ट

साहित्यकार की आलोचना से सम्बन्धित विशेष आलोचना-साहित्य पिछले वर्ष उपलब्ध हुआ। आगे के पृष्ठों में गत वर्ष के आलोचना-साहित्य का उल्लिखित प्रवृत्तियों के अनुसार परिचय प्रस्तुत किया जाएगा।

(१)

आलोचना के इस प्रसंग के अन्तर्गत किसी काव्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन, या उसके आधार पर हिन्दी साहित्य का अध्ययन या सामान्यतया काव्य या साहित्य के समग्र रूप या विशिष्ट विधा से सम्बन्धित नियमों का अनुसन्धान अथवा किसी युग-विशेष या कवि-विशेष के काव्य में काव्यादर्श और काव्यसिद्धान्तों का अध्ययन—सब कुछ समाविष्ट है। मुझे यह कहते हुए सन्तोष और प्रसन्नता है कि आलोचना की इस रीति के अन्तर्गत गत वर्ष का प्रकाशित साहित्य न केवल महत्त्वपूर्ण है, वरन् बहुमुखी भी है। आलोचना की इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत हम कुछ सामान्य काव्य-सिद्धान्तों पर लिखी गई पुस्तकें देखते हैं जिनमें दो नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—प्रथम है श्री शिवदानसिंहजी द्वारा लिखित 'आलोचना के सिद्धान्त'। इस पुस्तक में भारतीय और पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तों का सारभूत परिचय दिया गया है। ये सिद्धान्त हैं :—रससिद्धान्त, ध्वनिसिद्धान्त, औचित्यसिद्धान्त, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति अर्थात् भारतीय काव्यसिद्धान्त; तथा स्वच्छन्दतावादी, यथार्थवादी, प्रगतिवादी अर्थात् पाश्चात्य काव्यसिद्धान्त। भारतीय काव्यसिद्धान्तों को उपयोगितावादी और रीतिवादी दो वर्गों में लेखक ने बाँटा है जो बहुत उचित नहीं है, क्योंकि ध्वनि और वक्रोक्ति को इस दृष्टि से अलग वर्गों में नहीं रखा जा सकता। इसी प्रकार पाश्चात्य वर्गों में वास्तव में आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों का वर्गीकरण है जिनमें से प्रत्येक में निश्चित काव्यसिद्धान्त का रूप देखना कठिन है। लेखक द्वारा अपने प्रारम्भिक दो प्रसंगों के वक्तव्य में उत्तेजक एवं प्रहार करने वाली शैली में हिन्दी में प्रस्तुत आलोचना के सैद्धान्तिक अध्ययनों की व्यर्थता का संकेत एक प्रगल्भोवित है। अरस्तू के काव्यसिद्धान्तों की कसौटी पर यदि विश्व का साहित्य कसा जा सकता है, तो भारतीय काव्यसिद्धान्तों की कसौटी पर तो और भी उसकी बारीकियाँ देखी जा सकती हैं और वे सभी सार्वभौम हैं। इसे आलोचक और अध्यापक दोनों ही अच्छी तरह जानते हैं, और इनके आधार पर अध्ययन भी कराये जा चुके हैं जो दुर्भाग्य से अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं। पाश्चात्य सिद्धान्तों में महत्त्वपूर्ण हैं अभिव्यंजनावाद, बिम्बवाद और प्रतीकवाद—पर ये भी काव्य-सैद्धान्तिक रूप में अपूर्ण-विकसित हैं और रस, ध्वनि, अलंकार या वक्रोक्ति सिद्धान्तों की सी परिपूर्णता इनमें नहीं है। इस तथ्य की उपेक्षा के अतिरिक्त लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में सिद्धान्तों की ऐतिहासिक चर्चा की है, सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा नहीं की। अतः नाम से जैसा महत्त्व इसमें निहित दिखलाई देता है, वैसा महत्त्वपूर्ण विश्लेषण प्राप्त नहीं होता।

दूसरी पुस्तक है : "पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव।" इसके लेखक हैं डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा। वर्माजी की यह कृति उनके शोध-प्रबंध का निष्कर्षांश है। इसमें लेखक ने भूमिका में भारतीय काव्यसिद्धान्तों का परिचय देते हुए सौन्दर्यवादी, दार्शनिक, रोमांसवादी, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक-आर्थिक तथा ऐतिहासिक प्रकार के आलोचना-सिद्धान्तों की चर्चा की है और उनके हिन्दी-आलोचना पर प्रभावों का मोटे तौर पर विश्लेषण किया है। यह अध्ययन हमारे लिए उपादेय है।

सामान्य काव्यसिद्धान्तों की चर्चा करने वाले ग्रन्थों के अतिरिक्त विशिष्ट कला-सिद्धान्तों का अध्ययन करने वाले ग्रन्थ भी गत वर्ष हमारे समक्ष आये हैं। इनमें से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं :—हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, और रससिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण। "हिन्दी काव्य में अन्योक्ति" नामक ग्रन्थ के लेखक हैं डॉ० संसारचन्द। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है काव्य में अन्योक्ति-तत्त्व के महत्त्व का प्रतिपादन और उसका हिन्दी काव्य में अनुशीलन। लेखक ने वक्रोक्ति के स्थान पर काव्य-चमत्कार के मूल्य में अन्योक्ति को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। अन्योक्ति का अलंकार, काव्य-पद्धति, और ध्वनि के रूप में प्रतिपादन और संस्कृत तथा हिन्दी कवियों की रचनाओं में उन रूपों का अध्ययन एक मौलिक प्रयास है।

"रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण" के लेखक हैं डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित। इस ग्रन्थ में लेखक ने रससिद्धान्त का पूर्ण प्रतिपादन तथा उसके विकास का अध्ययन किया है। काव्य में रस की महत्ता के साथ-साथ रस-सिद्धान्त से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों और समस्याओं पर लेखक ने योग्यतापूर्वक विचार प्रस्तुत किये हैं।

सैद्धान्तिक आलोचना के प्रसंग में डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित तथा आचार्य विश्वेश्वर द्वारा अनूदित "हिन्दी अभिनवभारती" ग्रन्थ अपनी विशिष्ट उपयोगिता रखता हैं। अनुवाद तो महत्त्व का है ही, उसकी भूमिका भी अपना निजी महत्त्व रखती है।

सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में पिछले वर्ष का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है—"आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त"। इस ग्रन्थ के लेखक हैं डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त। इस ग्रन्थ में भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक के कवियों के काव्य-सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया गया है। यह स्पष्टीकरण कवियों की रचनाओं में निहित उनकी काव्यधारणा का प्रकाशन है। रचनाओं के अतिरिक्त काव्यकृतियों की भूमिकाओं में प्राप्त विचारों का भी समुचित उपयोग किया गया है। आधुनिक काल के विभिन्न युगों में क्रमशः जो काव्यसम्बन्धी धारणा का विकास देखने को मिलता है, उसका भी अध्ययन इस ग्रन्थ में है। अतः यह गवेषणापूर्ण ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

(२)

दूसरी प्रवृत्ति है ऐतिहासिक आलोचना। इसके अन्तर्गत, गत वर्ष अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत मुख्यतया तीन प्रकार के आलोचना और अध्ययन के ग्रन्थ रखे जा सकते हैं—(१) किसी साहित्यिक प्रवृत्ति या परम्परा की आलोचना, (२) किसी साहित्यिक विधि की ऐतिहासिक आलोचना, और (३) किसी युग या प्रदेश के साहित्य की समग्रतया या विशिष्ट दृष्टि से आलोचना।

ऐतिहासिक आलोचना की प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति के भीतर हमें जो ग्रंथ मिलते हैं उनमें से प्रमुख के नाम ये हैं—डॉ० रामनिरंजन पांडेय कृत 'रामभक्ति शाखा' और डा० रामगोपाल शर्मा दिनेश कृत 'हिन्दी साहित्य में नियतिवाद'। 'रामभक्ति शाखा' एक गवेषणापूर्ण अध्ययन है, जिसमें रामभक्ति काव्य के विकास का ऐतिहासिक विवेचन है। 'हिन्दी साहित्य में नियतिवाद' विशिष्ट दृष्टिकोण से एक प्रवृत्ति का अनुसंधान है।

दूसरी प्रवृत्ति के आलोचना-ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है—डॉ० रामसागर त्रिपाठी कृत 'मुक्तक काव्य-परम्परा और बिहारी'। इस ग्रंथ में मुक्तक काव्य का इतिहास देते हुए बिहारी का मुक्तककार के रूप में अध्ययन करते हुए लेखक ने उन्हें ध्वनिवादी सिद्ध किया है। बिहारी के दोहों का भी इसमें विदग्ध विवेचन है।

ऐतिहासिक आलोचना के तीसरे रूप के अन्तर्गत आने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में से प्रमुख हैं:—डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र कृत 'अवध के प्रमुख कवि' तथा डॉ० इन्द्रनाथ मदान कृत 'आलोचना तथा काव्य'। 'अवध के प्रमुख कवि' ग्रंथ में अवध प्रदेश के दस प्रमुख कवियों की जो संवत् १७०० से १९०० वि० के बीच में हुए, आलोचना प्रस्तुत की गयी है। इसमें न केवल अनेक नयी सूचनायें हैं, वरन् इन कवियों की रचनाओं की बड़ी सुन्दर आलोचना भी प्रस्तुत की गई है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान की "आलोचना तथा काव्य" में दो लेख आलोचना की प्रवृत्तियों और काव्य की प्रवृत्तियों पर हैं। दोनों का सम्बन्ध आधुनिक युग से है। आलोचना वाले लेख में शुक्लोत्तर आलोचना पर तथा काव्य वाले लेख में उत्तर छायावादी काव्य-प्रवृत्तियों पर सन्तुलित प्रकाश डाला गया है।

(३)

तीसरी प्रवृत्ति सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से साहित्य की आलोचना की देखी जा सकती है। इस प्रकार के अध्ययन को भी हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—

एक समस्त सांस्कृतिक तत्त्वों के आधार पर अध्ययन और दूसरा विशिष्ट तत्त्व के आधार पर अध्ययन। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है—डॉ० मायारानी टंडन द्वारा लिखित "अष्टछाप-काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन"। इस ग्रंथ में लेखिका ने अष्टछाप के कवियों की रचनाओं से तत्कालीन जीवन एवं सांस्कृतिक गतिविधि का संकेत करने वाले वर्णनों का अध्ययन कर सांस्कृतिक जीवन की मनोरम झाँकी प्रस्तुत की है। साहित्य सांस्कृतिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है, यह इस अध्ययन द्वारा भली-भाँति प्रमाणित हुआ है।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख ग्रंथ हैं—डॉ० उषा गुप्ता द्वारा लिखित "हिन्दी के कृष्णभक्ति काव्य में संगीत", और डॉ० सत्येन्द्र द्वारा लिखित "मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन"। इनमें प्रथम पुस्तक में संगीत-कला की दृष्टि से कृष्णभक्ति काव्य का अध्ययन बड़ा महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। लेखिका ने बड़े परिश्रम से पदों का संगीत, कला और शास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण किया है। यह रचना बड़ी उपादेय है। डॉ० सत्येन्द्र कृत लोकतात्त्विक अध्ययन बड़ा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। इस अध्ययन में मध्ययुग के लोकजीवन और विश्वासों की प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की गयी है, और इसमें ज्ञान-तत्त्व ठूँस-ठूँस कर भरे गये हैं। इसमें बड़ा गहरा अध्ययन आवश्यक है, पर लेखक के विश्लेषण के आधार तथा निष्कर्ष सर्वत्र मान्य नहीं कहे जा सकते।

इसी श्रृंखला में, किन्तु इससे कुछ भिन्न प्रकार की आलोचना में, शुद्ध लोक-साहित्य से सम्बन्धित आलोचना-ग्रंथ भी हैं, जिनमें प्रमुख हैं—"हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास का सोलहवाँ भाग", जिसमें महापंडित राहुल-सांकृत्यायन के सम्पादकत्व में हिन्दी के लोकसाहित्य का सांगोपांग अध्ययन इस विषय के अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त इस विषय पर दो अन्य महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं—एक डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय द्वारा लिखित "भोजपुरी का लोकसाहित्य" और दूसरा डॉ० शंकरलाल यादव द्वारा लिखित "हरियाना प्रदेश का लोकसाहित्य"। भोजपुरी लोकसाहित्य के अन्तर्गत उपाध्याय जी ने भोजपुरी साहित्य के विविध रूपों का विवरण-सहित विवेचन प्रस्तुत किया है। लोकसाहित्य के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक महत्त्व के साथ-साथ भोजपुरी भाषा का भी अध्ययन पृष्ठभूमि रूप में है। इसी प्रकार का दूसरा ग्रंथ है "हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य"। इस ग्रंथ में भी लेखक डॉ० यादव ने बड़े परिश्रम से हरियाना प्रदेश में प्राप्त लोकसाहित्य के विविध रूपों का सुव्यवस्थित रूप से अध्ययन करते हुए साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से उसका मूल्यांकन किया है। अतः ये दोनों अध्ययन भी अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। विभिन्न प्रदेशों के लोकसाहित्यों के अध्ययन से हमें अनेक काव्यरूपों, छन्द-रूपों, शब्द-प्रयोग, कथाओं तथा सांस्कृतिक

क्रियाकलापों का ज्ञान प्राप्त होता है, जिसकी विशेषताओं का आवश्यकतानुरूप समावेश हम नागरिक साहित्य में भी कर सकते हैं।

(४)

अन्त में हम कवि या लेखक-विशेष के अध्ययन से सम्बन्धित आलोचना-ग्रंथों का विवरण देकर गत वर्ष के आलोचना-साहित्य की प्रगति का लेखा समाप्त करेंगे। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत तीन वर्ग हैं—एक, किसी कवि या लेखक के समस्त साहित्य की आलोचना, दूसरे, अनेक कवियों की अलग-अलग आलोचनाओं का संग्रह और तीसरे, किसी ग्रंथ-विशेष की आलोचना। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण गन्थ हैं—डॉ० शशिभूषण सिंहल कृत "उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा", डॉ० कमलाकान्त पाठक कृत "मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य", डॉ० त्रिभुवनसिंह कृत "महाकवि मतिराम", तथा डॉ० महेन्द्रकुमार कृत "मतिराम कवि और आचार्य।" प्रथम ग्रंथ में डॉ० सिंहल ने प्रसिद्ध उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा की जीवनी, व्यक्तित्व और उपन्यासों की शिल्प-तत्त्वों की दृष्टि से आलोचना प्रस्तुत की है। यह आलोचना पूर्ण और सूक्ष्म है। इसी प्रकार डॉ० कमलाकान्त पाठक कृत ग्रन्थ मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व और कृतित्व का अध्ययन है। यह अध्ययन प्रत्येक दृष्टि से परिपूर्ण, रोचक और विस्तृत है। गुप्त जी के व्यक्तित्व का समग्र स्वरूप तथा उनके कृतित्व का बहुमुखी रूप इस ग्रंथ द्वारा उचित रूप से स्पष्ट हुआ है। अतः यह अध्ययन बड़ा ही उपादेय है। डॉ० त्रिभुवनसिंह कृत महाकवि मतिराम, वास्तव में मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरणवृत्ति की परम्परा में मतिराम कवि का विशेष अध्ययन है। इस ग्रंथ में आलंकारिक काव्य की विविध विशेषताओं का दिग्दर्शन सुन्दर रीति से मतिराम की रचनाओं के विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत किया गया है। डॉ० महेन्द्रकुमार रचित "मतिराम : कवि और आचार्य" नामक ग्रंथ का उद्देश्य इससे भिन्न है। इसमें मतिराम की जीवनी और उनके काव्य का सांगोपांग विवेचन किया गया है। मतिराम के जीवन-परिचय, ग्रंथ-परिचय, तथा उनकी शृंगारिक कविता, वीर कविता, कला और आचार्यता पर विमर्शयुक्त आलोचना इस ग्रंथ में प्रस्तुत की गयी है।

कवि या लेखक विशेष की आलोचना के प्रसंग में एक ग्रंथ का उल्लेख करना आवश्यक है, वह है 'अज्ञेय' जी द्वारा लिखित "आत्मनेपद"। इसे आलोचना की कृति समग्रतया कहना कठिन है। इसको यद्यपि निबन्ध-साहित्य में रखना चाहिए और शायद रखी भी गयी हो, पर इसमें अपने लेखक रूप की पृष्ठभूमि तथा अनेक रचनाओं की प्रेरक घटनाओं का विश्लेषण करते हुए अपनी रचनाओं की एक प्रकार से आलोचना की गई है। इस प्रकार यह वैयक्तिक आलोचना का एक निजी रूप प्रस्तुत करता है। अतः निबन्ध की रचनात्मक या सर्जनात्मक विशेषता होते हुए भी इसे एक

रचनात्मक आलोचना कृति के रूप में भी देखा जा सकता है। इसीलिए आलोचना-साहित्य के प्रसंग में भी इसकी चर्चा कर देना मैंने समीचीन समझा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गत वर्ष का हिन्दी आलोचना-साहित्य विविध और बहुमुखी है। इसके अन्तर्गत कविविशेष की आलोचना से लेकर प्रवृत्तियों, काव्यांगों, लोकतत्त्वों के अध्ययन के साथ साथ सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी साहित्य का विश्लेषण मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि गत वर्ष के आलोचना-साहित्य की प्रगति सन्तोषजनक है।

विविध साहित्य

अपनी कालाबद्ध चेतना के फलस्वरूप हम साहित्येतिहास के विवेचन के समय प्राय: शताब्दी, चरण और दशक आदि शब्दों का प्रयोग करने के अभ्यस्त हो गये हैं। अस्तु, समीक्षाधीन वर्ष की प्रगति का आकलन करते समय हमें यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि वह विगत दशक का अन्तिम वर्ष भी था।

प्रस्तुत दशक स्वाधीन भारत में साहित्य-रचना का प्रथम दशक है। अब से कुछ काल के पश्चात् जब परवर्ती इतिहासकार इस युग की उपलब्धियों का विवेचन करने बैठेगा तो इस दशक में सृजनात्मक साहित्य की सिद्धियों के विषय में उसका निर्णय चाहे कुछ भी हो परन्तु वाङ्मय के भाषा-पक्ष की अद्भुत समृद्धि पर निश्चय ही वह आश्चर्य करेगा। इस दशक में समाज की बहुविध प्रगति के अनुरूप नई संकल्पनाओं, नई अवधारणाओं और नए विचारों को व्यंजित करने वाले इतने नए शब्द भाषा में आये हैं कि अत्यन्त निकट होने के नाते हम इस प्रक्रिया का सही-सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। कालान्तर में ये नूतन शब्द तथा इनमें निहित अवधारणाएँ तथा विचार एवं व्यंजनाएँ निश्चय ही वाङ्मय के काव्य-पक्ष को भी समृद्ध करेंगी—इसमें कोई सन्देह नहीं। वस्तुत: किसी भी प्रगतिशील राष्ट्र में नित्य नई प्रगति के अनुरूप नित्य नई शब्दावली का अस्तित्व में आना अनिवार्य है। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाएँ यदि आज अपनी मध्ययुगीन परिसीमाओं से उभर कर आधुनिक युग के साँचे में ढल रही हैं तो इसका श्रेय बहुत हद तक प्रस्तुत दशक को है।

× × ×

शब्दकोश

पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में शिक्षा-मन्त्रालय अपने कार्य में संलग्न है। विगत आठ वर्षों में मन्त्रालय ने परिश्रमपूर्वक प्राय: दो-तीन लाख शब्दों का निर्माण किया है। हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं को समृद्ध विदेशी भाषाओं के स्तर पर लाने के लिए अनुमानत: २० लाख शब्दों की आवश्यकता है। इस विराट् कार्य की सिद्धि को सामने रखें तो हमें लगेगा कि मन्त्रालय के कार्य की गति उतनी द्रुत नहीं जितनी कि अपेक्षा की जानी चाहिए। मन्त्रालय को वस्तुत: अधिक-से-अधिक दो पंचवर्षीय योजनाओं में सारे कार्य को समेटने का प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा इस द्रुत परिवर्तनशील विज्ञान-जगत् में हम सदा पिछड़े रहेंगे। इससे भी अधिक आवश्यकता इस बात की है कि मन्त्रालय का कार्य व्यवस्थित रूप ग्रहण करके

प्रयोक्ता के सम्मुख आए—मेरा तात्पर्य कोश-रूप से है। विद्यार्थी, अध्यापक, लेखक अथवा अनुवादक के लिए इस कार्य की पूरी सार्थकता तभी होगी जब मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ एकान्वित होकर एक कोश का रूप ग्रहण कर लेंगी। प्रस्तुत वर्ष में मन्त्रालय ने सूचना और प्रसारण, वनस्पति-शास्त्र, इंजीनियरी, गणित (५), भौतिकी (३), दर्शन, कृषि (४) आदि विषयों की पारिभाषिक शब्दावली की पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं।

राजकीय प्रयत्नों का संक्षिप्त उल्लेख करने के बाद यदि अब हम हिन्दी संस्थाओं के कार्य को लें तो उनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय है—"हिन्दी विश्वकोश (भाग १)" जो भारत-सरकार के अनुदान से नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में प्रकाशित किया गया है। सम्पूर्ण योजना विश्वकोश को ५००-५०० पृष्ठों के दस भागों में प्रकाशित करने की है। इस सम्पूर्ण योजना की क्रियान्विति हो जाने पर हिन्दी वाङ्मय के एक भारी अभाव की पूर्ति होगी—इसमें सन्देह नहीं। कोश के सम्बन्ध में कोई मत-प्रतिपादन एक भाग के आधार पर करना बहुत समीचीन नहीं है—जैसे किसी कविता की प्रथम पंक्ति से केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है, कविता के सम्बन्ध में कोई अकाट्य धारणा नहीं बनाई जा सकती।

हमारा राष्ट्र शैक्षिक स्तर पर भी अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा पिछड़ा रहा है। अतः जब हमें विकास का अवसर मिला है तो प्रयत्न इस बात का होना चाहिए कि वर्तमान जगत् के समुन्नत देशों के और हमारे बीच जो खाइयाँ हैं—वे जल्दी-से-जल्दी पाटी जाएँ और वाङ्मय के अनेक अभावों की यथाशक्ति जल्दी-से-जल्दी पूर्ति की जाए। वस्तुतः आज के वैज्ञानिक जगत् में ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार असाधारण तीव्रता से हो रहा है। कला और विज्ञान की सीमाएँ विस्तृत होती जा रही हैं। नए आविष्कार, नए अनुसन्धान, नई चिन्तन-पद्धतियाँ मानव-जीवन में क्रान्तियाँ उपस्थित कर रही हैं। नए मानव के अनेकमुखी प्रयोगों से हमारे जीवन, विचार और धारणाओं में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं। ज्ञान के विभाजन अनेक हैं, उपविभाजन असंख्य तथा जटिलताएँ अनन्त किन्तु गतिमान मानव अपनी व्यापक विजय की, अधिक सूक्ष्म-गहन विश्लेषण की पद्धतियों को निरन्तर अधिक सशक्त और परिष्कृत बनाने में सफल हो रहा है। परन्तु साधारण जीविकोपार्जन-व्यस्त व्यक्ति को इन सब की ओर दृष्टि रखने का न तो समय होता है, न उसे वैसे साधन उपलब्ध होते है। अतः इस बात का दायित्व साधन-सम्पन्न व्यक्तियों पर होता है कि इस विकास-शील ज्ञान-सम्पदा को संक्षिप्त और सरल रीति से जिज्ञासु पाठक तक पहुँचाएँ। प्रस्तुत कोश इसी दिशा में एक महत्त्वपूर्ण क़दम है। विश्वकोश-निर्माण की प्रक्रिया एक सतत गतिशील प्रक्रिया है। मानव की ज्ञानार्जन-प्रक्रिया का कोई इति-बिन्दु नहीं—फलतः विश्वकोश भी अपने आप में कोई स्थैतिक संस्था नहीं, गतिशील संस्था है। इसमें निरन्तर परिशोधन-परिवर्धन की अपेक्षा रहती है।

विश्वकोश में सब से कठिन समस्या विषय-चयन की होती है। कलेवर की सीमा के कारण संयोजकों को कहीं-न-कहीं अपने विषय-चयन की भी सीमा निर्धारित करनी होती है। प्रस्तुत कोश में सामान्यतः 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' की पद्धति का अनुसरण किया गया है किन्तु देश की विशेष परिस्थितियों के अनुरूप विषयों में अनेक परिवर्तन भी किए गए हैं। स्वराष्ट्र के सन्दर्भ में इस प्रकार के परिवर्तन वांछनीय हैं।

विश्वकोश के लेख कुछ हिन्दी में लिखे गए हैं, कुछ अंग्रेज़ी से अनूदित हैं। विश्वकोश में अनेक विषयों के विशेषज्ञों का योगदान अनिवार्य होता है—प्रत्येक की अपनी शैली और भाषा का अपना स्तर होता है। इस दृष्टि से भाषा में न्यूनाधिक वैषम्य अनिवार्य हो जाता है। प्रस्तुत कोश में भी भाषा के स्तरों का भेद कहीं-कहीं अत्यन्त स्फुट है। हिन्दी में अभी प्राविधिक भाषा का पूर्ण विकास नहीं हुआ—फलतः कुछ स्थलों पर भाषा कृत्रिम और दुरूह बन गई है किन्तु मैं समझता हूँ यह अनिवार्य है और हमें इसका अभ्यस्त होना पड़ेगा। विदेशी नामों के उच्चारण का भी समाधान संगत है—अपरिचित विदेशी नामों के यथासम्भव मूल उच्चारण तथा परिचित नामों के स्वीकृत भारतीय रूपों का अंगीकरण। कुछ टिप्पणियाँ अधूरी-सी अवश्य लगती हैं। उदाहरण के लिए, 'आदर्शवाद' की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करके टिप्पणीकार ने उसकी साहित्यशास्त्रीय परिणति के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। कुछ शब्दों के वैकल्पिक रूपों में से दोनों का ही बिना भेद किये प्रयोग किया गया है—इंगलिश, अंग्रेज़ी; इटली, इतालवी। कुछ महत्त्वपूर्ण शब्द शायद छूट भी गए हैं—मनोविश्लेषण की प्रक्रियाओं को समझने के लिए 'ईगो' की जितनी महत्ता है उससे अधिक 'इड' की है किन्तु विद्वान सम्पादकों ने ईगो (अहं) का समावेश तो किया है, 'इड' का नहीं।

अनेक स्थलों पर व्याकरणिक एवं वर्तनीगत विकृतियों के दर्शन होते हैं। प्रूफ़-शोधन की गलतियाँ तो असंख्य हैं—मैं समझता हूँ यह दिशा ऐसी नहीं जिसकी सर्वथा उपेक्षा की जाए।

कोश-निर्माण के धरातल पर अन्य दो महत्त्वपूर्ण प्रयत्न व्यक्तियों के हैं—एक श्री नर्वणे का 'भारतीय भाषा व्यवहार-कोश' है और दूसरा डा० हरदेव बाहरी का बृहत् अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश। अब क्रमशः इन दोनों का विवेचन किया जाएगा।

टाल्स्टाय ने किसी स्थल पर कहा है कि 'अज्ञान का सब से सशक्त अस्त्र है मुद्रित सामग्री का प्रसार।' प्राचीन लेटिन रीतिकार होरेस ने भी साहित्य-स्रष्टा को परामर्श दिया था कि किसी ग्रन्थ का प्रणयन करने के बाद उसके प्रकाशन की बात

सोचने में समय लगाना चाहिए। श्री नर्वणे का प्रयास टाल्स्टाय की इस उक्ति को बहुत हद तक चरितार्थ करता है और हौरेस के व्यावहारिक परामर्श की अवज्ञा का दुष्परिणाम हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

मुझे सब से बड़ी आपत्ति तो उक्त कोश की प्रचार-पद्धति के विषय में है। समाचार-पत्रों में मैंने पढ़ा था कि व्यवहार-कोश में ४०,००० शब्द संग्रहीत हैं। मैंने समझा था कि कोशकार ने १६ भाषाओं में इनके पर्याय प्रस्तुत करके सचमुच बड़ा विराट् कार्य सम्पादित किया है। किन्तु वास्तविकता यह नहीं—चालीस हज़ार की संख्या मूल शब्दों तथा भाषाओं (१६) का गुणनफल है। मूल शब्द वस्तुतः ढाई हज़ार ही हैं।

व्यवहार-कोश की देश के राजनीतिक नेताओं ने मुक्त कण्ठ से सराहना की है। मैं समझता हूँ इस सराहना के मूल में राजनीतिक चेतना ही अधिक क्रियाशील रही है—शास्त्रीय चेतना नहीं। वैसे मैं स्वयं भी यह मानता हूँ कि मूल विचार में बड़ी शक्ति है और कोशकार एक शुभ संकल्प को लेकर चला है।

कोशकार ने हिन्दी को मूल भाषा के रूप में ग्रहण किया है—यह निश्चय ही उसके दृष्टिकोण की व्यापकता का परिचायक है। अन्य १५ भाषाएँ जिनमें पर्याय दिये गए हैं, ये हैं—अंग्रेज़ी, पंजाबी, उर्दू, कश्मीरी, सिन्धी, मराठी, गुजराती, बँगला, असमिया, उड़िया, तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़ और संस्कृत।

सम्पूर्ण कोश में व्यवस्था और आयोजना के एकान्त अभाव के दर्शन होते हैं। न वर्गीकरण में कोई तर्क-संगति है, न शब्द-चयन में—फलतः कोश की स्थिति वही है जो कच्ची नींव के भवन की हुआ करती है।

कोशकार ने यादृच्छिक रीति से कुछ शीर्षकों का भावन करके उनके अन्तर्गत शब्दों का संकलन कर दिया है। इस प्रकार सामान्य कोशों के वर्णक्रमानुसार शब्दा-योजना की रीति को त्याग कर कोशकार ने अपने जाने मौलिकता का परिचय दिया है। प्रत्येक शब्द के पेटे में उससे सम्बन्धित शब्द संग्रहीत हैं और उनके व्याकरणिक रूप भी। अन्त में दैनिक जीवन के कार्यकलाप से सम्बन्धित वाक्य भी संकलित हैं और शेष भाषाओं में प्रत्येक वाक्य के रूपान्तर भी।

जैसा मैंने ऊपर कहा शीर्षक-शब्दों का कोई तर्क-संगत वैज्ञानिक आधार नहीं है। मानव-जीवन के विविध पक्षों के आधार पर शब्दावली का विभाजन किया जाता तो कोशकार अधिक उपयोगी कार्य कर सकता था। यहाँ तो कुछ पक्ष छूट गये हैं

और कुछ में परस्पर अन्तर्वर्तित्व है। शीर्षक-विभाजन का कोई युक्तियुक्त आधार नहीं। वैज्ञानिक विभाजन के अभाव में वर्ग-विशेष में शब्दों का अन्तर्भाव करने में भी अव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए, 'देश', के अन्तर्गत एक ओर 'ऊसर', 'गली' जैसे शब्द और दूसरी ओर 'महाद्वीप' जैसे शब्द के अन्तर्भाव का कोई तर्कयुक्त आधार नहीं हो सकता। फिर जब 'महाद्वीप' शब्द 'देश' शीर्षक के अन्तर्गत है तो 'द्वीप' 'प्रायद्वीप' के अन्यत्र ('प्रकृति' शीर्षक के अन्तर्गत) होने की क्या सार्थकता है? कुछ पर्यायों के चयन में भी हिन्दी की प्रचलित शब्दावली के ज्ञान का अभाव परिलक्षित होता है। ऐसी स्थितियों में एक ही अर्थ का द्योतन करने वाले अनेक शब्दों में कौन-सा अधिक प्रचलित है—जब तक इसका निर्भ्रान्त बोध कोशकार को न हो, इस प्रकार की भ्रान्तियाँ अवश्यम्भावी हैं। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो कई भाषाओं में बहुत अंशों में समान हैं। ऐसी स्थिति में दोनों भाषाओं में प्रचलित किसी शब्द को एकान्ततः एक ही भाषा का बना देना, भ्रान्ति को जन्म देना है। उदाहरण के लिए 'जमीन' शब्द हिन्दी में रखा गया है, 'धरती' पंजाबी में; 'रातरानी' हिन्दी में रखा है, 'रजनीगन्धा' असमिया में; 'पवन' हिन्दी में रखा गया है, 'हवा' सिन्धी में। क्या इसका तात्पर्य यह है कि कोशकार 'धरती', 'रजनीगन्धा', 'हवा' जैसे शब्दों को हिन्दी के शब्द नहीं मानता? अहिन्दी-भाषी पाठक पर निश्चय इसका यही प्रभाव पड़ेगा। इन भ्रान्तियों के अतिरिक्त अनेक हिन्दी शब्दों के अंग्रेज़ी पर्याय भी कोशकार ने ग़लत दिए हैं। अन्य भाषाओं में दिए गए पर्यायों की अवितथता पर उस भाषा के विद्वान् प्रकाश डालें तो कोश का सही मूल्यांकन हो सकता है। कोश का अवलोकन करने के बाद एक निष्कर्ष तो अपरिहार्यतः निकलता है और वह यह कि कोशकार को अन्य भारतीय भाषाओं का चाहे जितना गम्भीर ज्ञान हो, उसका हिन्दी-ज्ञान निश्चय ही अत्यन्त सीमित है। अनेक उदाहरण-वाक्यों से तथा कुछ ऐसे तत्सम शब्दों के समावेश से जिनका मूल अर्थ में हिन्दी में शायद ही कभी प्रचलन रहा हो, यह अज्ञान स्वतः प्रतिभासित हो उठता है।

वस्तुतः मुद्रित शब्द की महिमा अपार है और यदि हमें इस संक्रान्तिकाल में अज्ञान-प्रचारकों की भूमिका ग्रहण नहीं करनी तो शास्त्र के धरातल पर अत्यन्त जागरूक होकर कार्य करना होगा।

डा० हरदेव बाहरी का 'बृहत् अंग्रेज़ी-हिन्दी कोष' द्विभाषिक कोश-निर्माण के धरातल पर, स्वयं कोशकार के अनुसार, अपनी तरह का पहला प्रयास है—पहला प्रयास स्वरूप की दृष्टि से नहीं, व्यापकता की दृष्टि से। मैं मानता हूँ सामान्य अंग्रेज़ी-हिन्दी कोशों में इतना बड़ा कोश उपलब्ध नहीं जिसमें भाषा के अर्वाचीन-प्राचीन शब्दों का इतना बड़ा संग्रह एकत्रित मिल सके। प्रस्तुत कोश में शब्दों की संख्या प्रायः एक लाख है और इनके अतिरिक्त लगभग ५०,००० मुहावरे, उदाहरण तथा महत्त्वपूर्ण

शब्दावलियाँ और कहावतें भी संग्रहीत हैं। हिन्दी पर्यायों की संख्या लगभग ५ लाख है। सामान्य शब्दावली के अतिरिक्त पारिभाषिक एवं अर्ध-पारिभाषिक शब्दावली का समावेश भी कोशकार ने किया है।

कोशकार ने विनम्रतावश अपनी तथा अपने प्रस्तुत प्रयत्न की पूर्णता का दावा नहीं किया किन्तु अपने प्रयत्न की असाधारणता तथा महत्ता के प्रति वह निरन्तर सजग है। भूमिका में यह बात स्थान-स्थान पर ध्वनित होती है—

"It follows, therefore, that none of the dictionaries produced prior to this would be capable of satisfying all needs. The present work will be found thoroughly up-to-date in the sense that it comprehends the latest developments in both Hindi and English languages."

"I may be permitted to claim that in richness of meanings this dictionary excels others published in any Indian languages."

कोशकार के इन दावों का प्रतिकार मैं नहीं करना चाहता। मेरा मतभेद पद्धतिगत और मौलिक है। भाषा की समृद्धि प्रमाणित करने के लिए कोश-निर्माण नहीं किया जाता, यह उसकी एक उपसिद्धि हो सकती है। मैं कोशकार की पद्धति को ही मूलतः भ्रामक समझता हूँ। कोशकार के इस मूलमन्त्र को मैं स्वीकार नहीं करता कि—'The practical utility of a dictionary is less impaired by a redundancy than by a paucity of meanings.' कोशकार ने अपने इस मन्त्र को सामान्य शब्दावली तक सीमित रखा होता तो कोई विशेष हानि न थी, पारिभाषिक शब्दों के धरातल पर भी उसकी नीति अनेक समानार्थक शब्द प्रस्तुत करने की रही है। कोशकार ने बड़े आग्रह के साथ कहा है कि 'A lexicographer cannot be a dictator.' मैं समझता हूँ आज हिन्दी के कोशकार को वस्तुतः 'डिक्टेटर' की भूमिका का ही निर्वाह करना है। उसका कार्य अन्य-भाषा-भाषियों की अपेक्षा कहीं कठिन है। उसके सामने सबसे बड़ा कार्य है पर्याय स्थिर करने का। प्राविधिक भाषा के क्षेत्र में आज जितनी अव्यवस्था और अराजकता अनेक समानार्थी शब्दों के अस्तित्व के कारण है, उतनी उनके अभाव के कारण नहीं। नए-नए शब्द-निर्माता नित्य नई शब्दावलियों का विनिर्माण करते जा रहे हैं—प्रयोक्ता किंकर्तव्य-विमूढ़ है कि किस शब्द को अंगीकार करे और किसे त्यागे। इस स्थिति में कोशकार का दायित्व है कि शब्दों के पर्याय स्थिर कर दे। वस्तुतः प्राविधिक ज्ञान के इस धरातल पर लोकतन्त्र की स्थापना कभी सम्भव नहीं—यहाँ तो अधिनायक-तन्त्र का

ही बोलबाला रहेगा। भाषा की प्रक्रिया यहाँ अपने आप उल्टी हो जाती है—पारिभाषिक शब्द नीचे के धरातल से बनकर ऊपर नहीं उठते क्योंकि वहाँ ज्ञान का वैसा अस्तित्व ही नहीं होता। एक ही अंग्रेज़ी शब्द में निहित एक ही अवधारणा को व्यक्त करने ने लिए अनेक पर्यायों का उल्लेख भाषा की शक्ति को व्यंजित नहीं करता वरन् उसकी असमर्थता, अराजकता और अव्यवस्था प्रमाणित करता है और डॉ० बाहरी ने दुर्भाग्यवश वही प्रमाण हिन्दी-अहिन्दी-पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया है। उदाहरणार्थ—

Personnel—कर्मकवर्ग, सेविवर्ग, परिचरवृन्द, कर्मचारीदल, कार्यकर्तावर्ग। (पृष्ठ १०२३)

Armament—योधनशक्ति, याधनसम्भार, शस्त्रसम्भार, आयुधकलाप, शस्त्रास्त्र, युद्ध-सामग्री, सैन्यसामग्री, लड़ाई का साजसामान, हथियारबन्दी, युद्ध-तत्पर सेना, युद्ध-आयोजन, हथियारबन्द होने का काम। (पृष्ठ ६२)

इस प्रकार के शब्दों के क्रमचय-संचय (Permutation and Combination) से भाषा की समृद्धि का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अपनी इस पद्धति से वे कोश-विज्ञान को ३० वर्ष पीछे घसीट ले गए हैं जिस युग में एक ओर फैलन जैसे सामान्य कोशों का और दूसरी ओर दाते-कर्वे जैसे पारिभाषिक कोशों का सम्पादन किया गया था।

मेरी दूसरी आपत्ति पर्यायों के क्रम-निर्धारण के सम्बन्ध में है। मैं यह मानता हूँ कि डॉ० बाहरी ने अंग्रेज़ी-हिन्दी-कोश का निर्माण किया है, अंग्रेज़ी-संस्कृत/भारतीय कोश का नहीं। ऐसी दशा में, कम से कम सामान्य शब्दावली के सन्दर्भ में, सरल हिन्दी (तद्भव) शब्दों को प्राथमिकता देनी चाहिए थी, संस्कृत-मूलक शब्दों का स्थान बाद में आता है। डॉ० बाहरी भाषाशास्त्री हैं। मैं यदि कहूँ कि हिन्दी की अपनी सम्पदा तो वे ही शब्द हैं जिन्हें उन्होंने गौण स्थान दिया है तो वे अस्वीकार न करेंगे। जिन शब्दों को उन्होंने प्राथमिकता दी है वे तो संस्कृत-मूलक होने के नाते अन्य भाषाओं की भी समान सम्पत्ति हैं। हिन्दी के हित में कोशकार को हिन्दी शब्द पहले देने चाहिए थे। समानता स्पृहणीय अवश्य है किन्तु अपने व्यक्तित्व के मोल उसे नहीं खरीदा जा सकता। एक अत्यन्त सामान्य शब्द का उदाहरण लीजिए :—

Luggage—उपस्कर, सम्भार, यात्रासामग्री, सामान, बोरिया-बन्धना, गठरी-पोटरी, माल, असबाब।

यहाँ अर्थ-क्रम मूल दृष्टिकोण की विकृति को परिस्फुट कर देता है। डॉ०

बाहरी ने माल और असबाब तथा सामान की अपेक्षा 'यात्रासामग्री' जैसे कृत्रिम शब्द को अधिक उपयुक्त समझा है। सामान्य शब्दावली के क्षेत्र में 'रघुवीरी पद्धति' (पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में मैं उसकी महत्ता और उपादेयता को स्वीकार करता हूँ) का यह प्रयोग ऐसा ही है जैसे कोई बीजगणित के एक ही सूत्र को सब जगह आज़माने लगे।

कोश-निर्माण की पद्धति के सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं और मैंने अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रिया निःसंकोच व्यक्त कर दी है किन्तु फिर भी डॉ० बाहरी के प्रयास की महत्ता को मैं अस्वीकार नहीं करता। उन्होंने स्वयं लिखा है : 'The larger a work, the more likely it is to contain errors and defects.' और सचमुच प्रथम व्यापक प्रयत्न होने के नाते उसमें कुछ कमज़ोरियाँ होना आश्चर्य की बात नहीं, न होना आश्चर्य की बात होती। और परिमाण की दृष्टि से निश्चय ही उनका कार्य प्रशंसनीय है। —श्री० महेन्द्र चतुर्वेदी

अभिनन्दन ग्रन्थ :

व्यक्ति-विशेष की सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा साहित्यिक सेवाओं के मूल्यांकन के लिए अभिनन्दन-ग्रन्थ अर्पित करने की परम्परा प्राय: तीन-चार दशक पुरानी है। सर्वश्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, कन्हैयालाल पोद्दार, नाथूराम प्रेमी, जवाहरलाल नेहरू, गोविन्ददास प्रभृति महानुभावों को प्रदत्त अभिनन्दन ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के लिए विभूतिवत् हैं। सन् १९६० के प्रकाशनों में कविवर मैथिलीशरण गुप्त, राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, डा० धीरेन्द्र वर्मा और कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के अभिनन्दन स्वरूप प्रकाशित ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन-ग्रन्थ

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की साहित्य-सेवाओं के लिए उनके अभिन्दन की योजना कई वर्ष पूर्व बनाई गई थी। ग्रन्थ का मुद्रण भी सन् १९५९ में हो गया था, किन्तु ग्रन्थ-समर्पण १९६० में हुआ, अत: प्रस्तुत लेख में उसका विवेचन अप्रासंगिक नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ छह खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में गुप्त जी के सम्पर्क में आने वाले अनेक लेखकों ने उनके व्यक्तित्व, भावों एवं विचारों के सम्बन्ध में संस्मरण प्रस्तुत किये हैं और उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की है। गुप्त जी के व्यक्तित्व को समझने के लिए इससे अधिक प्रामाणिक सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है। द्वितीय खण्ड में श्री 'बरुआ' द्वारा लिखित गुप्त जी की विस्तृत जीवनी प्रकाशित की गई है और उनके कतिपय पत्रों को संकलित किया गया है। गुप्त जी की रचनात्मक

प्रवृत्ति के क्रमिक विकास को समझने में यह खण्ड विशेष सहायक है। तृतीय खण्ड में गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं से कुछ अंशों का चयन किया गया है जो अभिनन्दन ग्रन्थों की परम्परा में एक सुन्दर प्रयास है। इसके अतिरिक्त इस खण्ड में उनकी काव्य-प्रवृत्तियों तथा प्रतिनिधि रचनाओं का शोधपूर्ण मूल्यांकन किया गया है। ग्रन्थ की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री चतुर्थ खण्ड में है जिसके अन्तर्गत संस्कृत, हिन्दी, विदेशी भाषाओं, लोकगीतों और प्रादेशिक भाषाओं में प्राप्य राम-साहित्य का आलोचनात्मक विवरण दिया गया है। पाँचवें और छठे खण्डों में क्रमशः संस्कृति और कला तथा हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध कतिपय निबन्धों को स्थान दिया गया है। ग्रन्थ को उपयोगी बनाने में सम्पादकों (सर्वश्री वासुदेवशरण अग्रवाल, रायकृष्ण दास, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, नवीन, नगेन्द्र, सत्येन्द्र आदि) और लेखकों का श्रम निश्चय ही अभिनन्दनीय है।

राजर्षि अभिनन्दन-ग्रन्थ

प्रस्तुत ग्रन्थ सात खण्डों में विभक्त है जिसमें क्रमशः टण्डन जी की जीवनी, हिन्दी साहित्य, भारतीय संस्कृति, भाषा-विज्ञान, प्रादेशिक भाषाओं तथा हिन्दी-प्रसार में संलग्न संस्थाओं का परिचय अथवा विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ का संयोजन दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में डॉ० विजयेन्द्र स्नातक और श्री गोपालप्रसाद व्यास ने किया और सम्पादन में सर्वश्री लालबहादुर शास्त्री, गोपालप्रसाद व्यास, नगेन्द्र, विजयेन्द्र स्नातक, दिनकर, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, बाबूराम सक्सेना, भोलानाथ तिवारी, सत्यनारायण, यशपाल जैन, मोहनलाल भट्ट और माधव ने योग दिया। जीवनी-खण्ड में ५१ महानुभावों की रचनाएँ संकलित हैं जिनमें राष्ट्रीय नेताओं की ओर से प्राप्त शुभकामना सन्देशों और श्रद्धांजलियों के अतिरिक्त कविताओं, स्मृति-चित्रों एवं जीवन-प्रसंगों को स्थान प्राप्त हुआ है। यद्यपि इस खण्ड में जीवनी का सुसम्बद्ध विवेचन किसी भी लेख में नहीं हुआ है, तथापि विविध संस्मरणों को एकत्र कर लेने पर न केवल टंडन जी के जीवन का परिचय प्राप्त होता है अपितु लगभग अर्द्ध-शताब्दी की सामाजिक-राजनैतिक और साहित्यिक गतिविधि का संक्षिप्त परिचय भी मिल जाता है।

साहित्य-खण्ड में २२ विद्वानों के आलोचनात्मक लेख संग्रहीत हैं जिनमें तीन प्रवृत्तियों को स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है—(अ) शांकर वेदान्त, ध्यान-सम्प्रदाय, सखी सम्प्रदाय, वल्लभ-सम्प्रदाय आदि का विस्तृत निरूपण किया गया है और भक्तिकालीन कविता में इनकी अभिव्यक्ति की परिश्रमपूर्वक खोज की गई है। (आ) काव्य-शास्त्र की विविध समस्याओं के समाधान पर पर्याप्त बल दिया गया है, (इ) आदिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल में हिन्दी-साहित्य की प्रगति और

उर्दू-साहित्य के विषय में केवल एक-एक लेख उपलब्ध है। तृतीय खण्ड में भारतीय कला एवं संस्कृति का विवेचन हुआ है और चतुर्थ खण्ड में भाषा-विज्ञान का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इन तीनों खण्डों में लेखों का चयन विविधता और विषय की मौलिकता के आधार पर किया गया है और शोध-दृष्टि की छाप सर्वत्र विद्यमान है। यह सत्य है कि इनमें कतिपय विषयों का विवेचन अनुपलब्ध है, किन्तु ग्रन्थ की सीमाओं को देखते हुए इसे स्वाभाविक ही मानना होगा। पाँचवें खण्ड में असमिया, गुजराती, बँगला, मराठी, मलयालम आदि दस प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की प्रगति का संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित, विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति आदि साहित्य-सेवी संस्थाओं की अब तक की उपलब्धियों की सूचना दी गई है जिसे हिन्दी के अनन्य सेवक टंडन जी के अभिनन्दन का उत्तम रूप माना जायेगा।

धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा प्रयाग विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने पर उनके अभिनन्दन के लिए 'हिन्दी अनुशीलन' का धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक प्रकाशित करने की योजना बनाई गई और दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में भारतीय हिन्दी परिषद् के सत्रहवें अधिवेशन के अवसर पर इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया। इस विशेषांक के सम्पादन में प्रायः सभी प्रमुख विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभागाध्यक्षों का सहयोग प्राप्त हुआ, किन्तु इसके संयोजन-सम्पादन में पं० उमाशंकर शुक्ल, डा० रघुवंश और डा० विजयेन्द्र स्तानक का योग प्रमुख रहा। विशेषांक के प्रारम्भ में डा० धीरेन्द्र वर्मा के जीवन और कृतित्व का संक्षिप्त परिचय दिया गया है और तदुपरान्त तीन पृथक् खण्डों में भाषा, संस्कृति और साहित्य के विविध विषयों पर ७२ विद्वत्तापूर्ण लेखों को स्थान दिया गया है।

धीरेन्द्र जी की भाषा-विज्ञान में विशेष अभिरुचि है, अतः प्रस्तुत विशेषांक में राजर्षि अभिनन्दन-ग्रन्थ की अपेक्षा भाषा-विज्ञान की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा पर अधिक बल दिया गया है। इस खण्ड की विशेषता यह है कि गुजराती, मालवी, बँगला, कन्नड़, मराठी, भोजपुरी आदि भाषाओं के विवेचन पर भी ध्यान दिया गया है। द्वितीय खण्ड में कला, दर्शन, समाज और संस्कृति से सम्बद्ध लेख हैं और तृतीय खण्ड में काव्य-शास्त्र एवं मध्यकालीन हिन्दी-कविता का विस्तृत विवेचन है। आदिकाल और आधुनिक काल में कविता और गद्य के विकास की पूर्ण उपेक्षा की गई है। सम्भवतः ऐसा इस कारण किया गया है कि धीरेन्द्र जी की प्रवृत्ति मुख्यतः भाषा-विज्ञान, संस्कृति-विवेचन और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की ओर रही है।

यह विशेषांक संक्षिप्त होने पर भी सामग्री की उपादेयता के कारण अभिनन्दन-ग्रन्थों की परम्परा में महत्त्वपूर्ण माना जायेगा।

श्री सुमित्रानन्दन पंत स्मृति-चित्र

पन्त जी की षष्ठिपूर्ति के अवसर पर उनके अभिनन्दन के लिये सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, बच्चन, जगदीशचन्द्र माथुर, नगेन्द्र प्रभृति साहित्यकारों ने प्रस्तुत ग्रन्थ का आयोजन किया। उपर्युक्त अभिनन्दन-ग्रन्थों की तुलना में यह रचना अपेक्षाकृत संक्षिप्त है, अतः इसमें विषय-प्रतिपादन भी पन्त जी के जीवन-प्रसंगों के संस्मरणों तक सीमित है—भाषा, संस्कृति अथवा साहित्य की समस्याओं के समाधान का लक्ष्य इसमें नहीं रखा गया है। इसमें पन्त जी के सम्पर्क में आने वाले ३९ व्यक्तियों की मंगल कामनाओं, श्रद्धांजलियों एव संस्मरणों को स्थान दिया गया है। ग्रन्थ की अधिकांश रचनाओं में कवि की वैयक्तिक विशेषताओं (अन्तर्मुखी वृत्ति, सहज-संकोची-स्वभाव, अबोध पावनता आदि), विचारों और काव्य-रचना-सोपानों का अत्यन्त सरस और आत्मीयतापूर्ण शैली में उल्लेख हुआ है। हिन्दी में कवियों की जीवनियों, पत्र-संकलनों और उनसे सम्बद्ध संस्मरणों की संख्या अधिक नहीं है, अतः प्रस्तुत रचना इस दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है।

—डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त

हिन्दी साहित्य और बिहार*

इस पुस्तक में हिन्दी साहित्य सेवियों की कृतियों का संग्रह किया गया है। सातवीं से अठारहवीं शताब्दी तक के साहित्यकारों की उपलब्ध सामग्री का संक्षिप्त परिचय है। पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक की भूमिका और एक विस्तृत प्रस्तावना है। प्रस्तावना में लेखक महोदय ने हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सीमा सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ करने में राहुल सांकृत्यायन के अभिमत को स्वीकार किया गया है और सिद्धकाल से सामग्री संकलन प्रारम्भ किया है। चौरासी सिद्धों में से ३६ सिद्ध बिहारी थे जिनमें से कुछ ही कृतियों का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ में संकलित किया गया है। चौदहवीं शती से 'सिद्धोत्तरकाल' प्रारम्भ होता है। उसके बाद भक्तिकाल और रीतिकालीन कवियों की रचनाएँ हैं। पुस्तक में २४७ साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय है। इस ग्रन्थ से

---

*ले० शिवपूजन सहाय, पृ० सं० २६१
प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

बिहार के साहित्यकारों का इतिहास लिखने में सुविधा होगी। वर्तमान रूप में यह साहित्य का इतिहास नहीं है, केवल शोध-प्रतिवेदन का संकलन-सा है।

प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण* (तीसरा खण्ड)

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के ग्रन्थशोध विभाग की ओर से प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की शोध का प्रबन्ध किया गया। उसके अन्तर्गत दो विवरण पहले प्रकाशित हो चुके हैं। इस तीसरे खण्ड में तीस ग्रन्थकारों के पचास ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। ये पचासों ग्रन्थ हिन्दी के हैं और ग्रन्थकारों में आठ बिहार के हैं। पाँच ग्रन्थकार बिलकुल नवीन उपलब्ध हुए हैं। पुस्तक के आरम्भ में सभी ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। अन्त में तीन परिशिष्ट हैं जिनमें शोधकर्ताओं की सुविधा के लिए विश्लेषणात्मक विवरण सुलभ है। अनेक ग्रन्थ हिन्दी-जगत् के लिए नवीन सूचनाएँ देने वाले हैं। भोलास्वामी रचित राजनीति-शतवचन, लल्लू जी लाल रचित सभाविलास, मुकुन्द दास कृत कोकमुकुन्दी, चरनदास कृत ज्ञान स्वरोदय आदि ग्रन्थ साहित्येतर होने के कारण पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण* (चौथा खण्ड)

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् विगत कुछ वर्षों से प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की खोज और उनके संग्रह का कार्य व्यवस्थित रूप से कर रही है। उस कार्यक्रम के अन्तर्गत उसने जिन पोथियों का संग्रह किया है, उनके विवरण प्रकाशित करती रही है। विवरणों की ग्रन्थमाला का प्रस्तुत चौथा खण्ड है।

इस विवरण-पुस्तिका में ४१९ हस्तलिखित प्रतियों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। साथ ही इसमें कुछ परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिनमें से प्रथम उन अज्ञात रचनाकारों की कृतियों के सम्बन्ध का है जिनकी प्रतियों के विवरण इस पुस्तिका में दिये गये हैं। द्वितीय परिशिष्ट में विवरण में आये हुए ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की अनुक्रमणिकाएँ दी गई हैं। तृतीय परिशिष्ट में विभिन्न विक्रमीय शतियों में प्राप्त

---

*सम्पादक—आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

*सम्पादक—आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, प्रकाशक राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। विक्रमाब्द २०१६, प्रथम संस्करण।

उन रचनाओं और पोथियों का योग दिया गया है जो इस विवरण में उल्लिखित हुई हैं। चतुर्थ परिशिष्ट में इक्कीस महत्त्वपूर्ण कवियों की विभिन्न रचनाओं के सम्बन्ध में जो जानकारी अन्य खोज-विवरणों में प्राप्त है उसे संकलित किया गया है। इस प्रकार से पुस्तिका को उपयोगी बनाने का पूरा उद्योग किया गया है। आशा है कि इस विवरण से प्राचीन हिन्दी साहित्य के अनुसंधित्सुओं और प्रेमियों को लाभ होगा। प्रत्येक विवरण के साथ प्रतिलिपि की पुस्तिका भी दे दी जाती तो अधिक अच्छा होता।

—डॉ० माताप्रसाद गुप्त

इतिहास-ग्रन्थ

इतिहास ग्रन्थों में 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास' इस वर्ष की महत्त्व-पूर्ण देन है जिसके लिए लेखक श्री मन्मथनाथ गुप्त साधुवाद के पात्र हैं। इतिहासकार ने अपने ग्रन्थ का निर्माण केवल बहिस्साक्ष्यों के आधार पर नहीं किया है, वह स्वयं आन्दोलन का सक्रिय सदस्य रह चुका है—फलतः उसमें प्रामाणिकता के साथ ही साथ एक प्रकार की आत्मीयता के दर्शन हमें होते हैं। परन्तु इसके साथ ही इतिहास-कार के लिए सर्वथा आवश्यक वस्तुपरक दृष्टिकोण का भी लेखक ने परिचय दिया है—उसके निष्कर्ष अतिरंजित नहीं हैं। संक्षेप में वह कहना चाहता है कि भारतीय स्वतन्त्रता का श्रेय चाहे जिस व्यक्ति अथवा आन्दोलन को दिया जाए किन्तु क्रांति-कारी आन्दोलन का योगदान भी उसमें निर्विवाद रूप से रहा है। क्रांतिकारी आन्दोलन की विभूतियों के प्रति पाठक का मन स्वतः श्रद्धावनत हो जाता है और पाठक को कोई सन्देह नहीं रह जाता कि आन्दोलन के सेनानी सच्चे देशभक्त तथा अत्यन्त दृढ़ धातु से निर्मित व्यक्ति थे। लेखक की स्थापनाएँ कहीं भी आत्यन्तिक नहीं और उन्हें कोई भी संतुलित दृष्टि का व्यक्ति स्वीकार कर लेगा।

हिन्दी कथा-साहित्य की अनेक कृतियों—स्वयं गुप्त जी की कतिपय कृतियों—की पृष्ठभूमि में क्रांतिकारी आन्दोलन का ताना-बाना बुना गया है। प्रस्तुत इतिहास का पाठक इन कृतियों की समग्र परिस्थितियाँ हृदयंगम करने में निश्चय ही अधिक सफल हो सकता है। यों भी इतिहास-ग्रन्थ साहित्य के पाठक के लिए इसी रूप में अपेक्षित होते हैं कि वह समकालीन समाज की आधारभूत परिस्थितियों को जान-समझ ले और प्रस्तुत कृति का महत्त्व इस दृष्टि से असंदिग्ध है कि उसमें लेखक वर्तमान युग के एक सशक्त आन्दोलन का विशद प्रामाणिक एवं तटस्थ विश्लेषण प्रस्तुत कर सका है। मैं समझता हूँ इस कृति से हिन्दी वाङ्मय का एक पक्ष निश्चय ही समृद्ध हुआ है।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर और भी असंख्य ग्रन्थ प्रस्तुत वर्ष में प्रकाशित हुए हैं किन्तु उन सब का उल्लेख इस संक्षिप्त सर्वेक्षण में सम्भव नहीं है। एक सामान्य धारणा ही व्यक्त की जा सकती है कि विगत दशक के ज्ञान-यज्ञ में अन्तिम आहुति की भाँति इस अन्तिम वर्ष का योगदान पर्याप्त समृद्ध रहा है।

—श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

श्रेष्ठ प्रकाशन

कला और बूढ़ा चाँद

श्री० भवानीप्रसाद मिश्र

श्री सुमित्रानन्दन पन्त अपने पहले कविता-संग्रह 'वीणा' के प्रकाशन के बाद ही हमारी भाषा के विचारणीय कवि मान लिए गए थे—और उनकी तीसरी काव्य कृति 'पल्लव' ने उन्हें तत्कालीन काव्य-संसार में लगभग मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया था। उनके 'पल्लव' की भूमिका ने तो इतिहास गढ़ा और काव्य-सम्बन्धी कितने ही पुराने सोच-विचारों और साज-संवारों को उलट-पुलट कर हिन्दी कविता की दुनियाँ बदल दिया। तब से अब तक कवि पन्त ने हमें प्रायः आँतरे-दूसरे वर्ष एक नयी पुस्तक दी और हर बार पिछली बार से कुछ-न-कुछ नया और अतिरिक्त दिया। पन्त जी प्रकाशन के बाद हर बार काव्य-प्रेमी पाठकों द्वारा पढ़े गए, उनकी प्रत्येक नई काव्य-कृति किसी न किसी रूप में फ़ौरन विश्वविद्यालयों में पाठ्य मानी गई और उनकी हर किताब पर पत्र-पत्रिकाओं और विद्यापीठों में लिखा बोला गया।

फिर भी मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि सामान्य काव्यरसिक पाठक के निकट पन्त जी वाणी, पल्लव, गुंजन और बहुत हुआ तो ग्राम्या की कुछ कविताओं के कवि के नाते ही घनिष्ठभाव से परिचित हैं। आलोचकों ने, अर्थात् परीक्षोपयोगी कारणों के सिवा लिखने वाले आलोचकों ने, ग्राम्या के बाद की, या कहिए युगांत के बाद की कृतियों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया, चलते-फिरते कुछ रायें अलबत्ता, ज़ाहिर कर दीं। तब कवि ने कदाचित् अपनी काव्य-चेतना को स्पष्ट करने के विचार से 'पल्लविनी' और 'चिदम्बरा' नाम के संचयन स्वयं सम्पादित किए और उनकी भूमिकाओं में 'अपने काव्यतत्त्व और भावचैतन्य' के विकास की व्याख्या की। इस व्याख्या में उन्होंने कुछ बातें साफ़ करके कहीं कि उनका काव्य सोद्देश्य है; वे कलारुचि और सौन्दर्य्य-बोध को परम प्राप्तव्य नहीं मानते; उनमें धरती के जीवन को नवीन मानवीय ऐश्वर्य एवं सौन्दर्य्य से मंडित देखने की दुर्निवार आकांक्षा है; वे 'कोरे भूतवादी' भी नहीं हैं, न एकांगी अध्यात्मवाद का समर्थन उनके वश की बात है; वे अध्यात्म को सक्रिय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं और वे सदा अपने काव्य-पट में युग की आवश्यकताओं एवं मानवता के विकास की सम्भावनाओं को सम्मुख रखकर, अनेक महान् ग्रन्थों तथा महापुरुषों से प्रेरणा लेकर, अनेक उपयोगी

लेखक : श्री सुमित्रानन्दन पन्त
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य : ६ रु०

तत्त्वों को आत्मसात् कर लोक-कल्याण एवं भू-मंगल की भावना के उद्देश्य से, अपना जीवन-दर्शन गुंफित करते हैं ।

काव्य-सृजन की ये प्रेरणाएँ निस्सन्देह अदम्य हैं और कदाचित् इन्हीं के बल पर नीति-निपुणों की निन्दा-स्तुति से बहुत प्रभावित हुए बिना कविवर सुमित्रानन्दन पन्त निरन्तर सृजन-रत रहे । प्रस्तुत संग्रह के तनिक पहले प्रकाशित संचयन 'चिदम्बरा' की भूमिका में पन्त जी ने कहा कि "उनके काव्य-प्रयत्नों की सीमाएँ हैं लेकिन ये वे सीमाएँ नहीं जिनकी कि पक्षधर आलोचक घोषणा करते हैं।···मैंने अपनी सीमाओं के भीतर अपने युग के बहिरन्तर के जीवन तथा चैतन्य को नवीन मानवता की कल्पना से मण्डित कर, वाणी देने का प्रयत्न किया है । मेरी दृष्टि में ······मेरी काव्य-चेतना का एक ही संचरण है, जिसके भौतिक और आध्यात्मिक चरणों की सार्थकता, द्विपद मानव की प्रगति के लिए सदैव, अनिवार्य रूप से रहेगी ।" उन्होंने उसी में आगे चल कर कहा कि "आज के पक्ष पर आलोचकों की यथार्थवाद की धारणाओं पर तथा पूर्वाग्रहों में खण्डित और विभक्त पाठकों की रुचियों के निर्णयों पर निर्भर रह कर मेरे जैसा···अल्पमति कवि सृजनकर्म नहीं कर सकता । उसे तो नवीन मानवता के प्रति श्रद्धा तथा भगवत्-करुणा पर विश्वास रख-कर अपनी अन्तरतम अनुभूतियों, प्रेरणाओं एवं प्रकाश पर ही अवलम्बित रहना पड़ेगा ।" किन्तु जब उन्होंने अन्त में 'नवीन रचना भूमिका में प्रवेश करने के उत्साह में' पाठकों से 'स्वस्ति, चेतना काव्य के काल' आदि कह कर विदा ली, तब कदाचित् किसी ने भी यह नहीं सोचा था कि वे इतने जल्दी अपने काव्य-सर्जन से कुछ नहीं तो रूप-विधान में बिल्कुल अलग कोई रचना लेकर आ रहे हैं ।

'कला और बूढ़ा चाँद'—नाम सुनकर ही कुछ अजब-अजब-सा नहीं लगता ? याने कम से कम ऐसा जैसा उनकी किसी काव्य-कृति का नाम सुन कर नहीं लगा ? वीणा, ग्रन्थि, पल्लव, गुंजन, ज्योत्स्ना, युगान्त, ग्राम्या, स्वर्ण धूलि, स्वर्ण किरण, उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी, अतिमा, सौवर्ण—। लगता है जैसे अपने मन की महा-रानी के किरीट पर कवि एक उज्ज्वल रत्न जड़ता चला जा रहा हो, और एकाएक सुना कि 'कला और बूढ़ा चाँद !' लगा जैसे खाते-खाते दाँत के नीचे कंकर पड़ गया हो ! कंकर काला है कि सफेद, गोलमटोल है कि खुरदरा, सुरूप है कि बेतरतीब, मानो यही देखने के लिए लोगों ने संग्रह को उलटा-पुलटा, जल्दी में रायें बनाईं और व्यक्त कीं । एक सज्जन ने कहा 'सालभर में २०७ पृष्ठ की ७० कवि-ताएँ लिख दीं; अब आप ही सोच लीजिए कितना दम होगा उनमें !' दूसरे ने बताया, 'वे पन्त की आध्यात्मिक कविताओं के खण्डहर हैं, जहाँ देह, मन, प्राण बासी अन्धकार की सड़ांध में दिवान्धों से औंधे मुँह लटके हैं—!' [बाद में जब संग्रह पढ़ा तो देखा पंक्तियाँ रायज़नी करने वाले ने संग्रह की ही 'विकास ?' शीर्षक कविता से उठाई थीं ।] एक मित्र ने प्रायः मिलते ही पूछा, 'बूढ़े चाँद से अब तक आँखें चार कीं

या नहीं ?' मैंने पूछा, 'आपके पास है क्या ?' कहने लगे, 'पास रखकर क्या करना था, राजकमल के यहाँ देख लिया है।' एक ने थोड़ा मुँह बिचका कर सूचित किया, 'पन्त जी की कला इस संग्रह में सचमुच बुढ़ा गई। हमारा तो मन ही कहीं नहीं अटका।'

मैं मानता हूँ कि यह मन अटकने न अटकने वाली बात वज़नदार है। अशास्त्रीय भी नहीं है। यदि कोई कलाकृति मन नहीं पकड़ती तो कलाकृति का उद्देश्य, उसकी आकांक्षा एक मन से दूसरे मन तक नहीं पहुँच पाती और तब वह सृजन ही बहुत बड़ी हद तक निरर्थक हो जाता है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि एक तो मन को छूने या पकड़ने की विधाएँ अनन्त हो सकती हैं, दूसरे हमारे रुचि-भेद भरे मन विधाओं के प्रयत्नों की अवहेलना कर सकते हैं। फिर कविता की मोटी परिभाषा भी करें तो कहना पड़ेगा कि वह अखिल या अंश के जीवन और अनुभव की कवि के मन पर पड़े हुए बिम्ब की प्रतिच्छाया है। यह बिम्ब कवि के मन पर जितना गहरा पड़ेगा उतनी ही गहरी उसकी छाप कृति पर पड़ेगी। किन्तु यदि जिसे अनुभव करके व्यक्त करने के तन्त्र में कवि स्वतन्त्र नहीं है तो अनुभव का अपनापन समाप्त हो जाता है, वह एक सर्वसाधारण वक्तव्य बन कर रह जाता है। किसी विशिष्ट और जाने-जाने ढंग का अनुसरण करके, किन्हीं बन्धी-बन्धाई छन्द आदि पद्धतियों के सहारे अपने अनुभव व्यक्त करने की विवशता यदि कवि को असह्य लगती है, उसका उस समय कोई उपयोग भी वह नहीं देखता, यदि वह कभी अपनी भी शैली और परम्पराओं से अलग होकर अपने मन को खोलता है तो हममें उतना धैर्य भी होना चाहिए कि हम वहाँ अब तक के अत्यन्त परिचित शब्द, छन्द, सन्दर्भ, प्रतीक आदि को न पाकर भी उसे ध्यान से पढ़ें-गुनें। यह मानी हुई बात है कि आज के कवि का, कम से कम विशिष्ट कवि का पाठक भी विशिष्ट होगा। कहा जा सकता है कि हर विशिष्ट कवि का अपना पाठक-वर्ग होगा जो कवि को आद्यंत जानकर, उसकी काव्यचेतना और शिल्प को आत्मीयता से आत्मसात् करके उसके सृजन को समझेगा। 'कला और बूढ़ा चाँद' कवि सुमित्रानन्दन पन्त की कोई विच्छिन्न रचना नहीं है। वह उनके विकास की रेखा का सर्वाधिक नवीन प्रकर्ष है। आज तक जिन विचारों और अनुभवों को वे छन्दों में कहते आए हैं, इस संग्रह की कविताओं में उन्होंने 'रश्मिपदों' में कहा है :

> ओ रंभाती नदियो
> बेसुध
> कहाँ भागी जाती हो ?
> वंशीरव
> तुम्हारे ही भीतर है !

परम्परागत काव्य-रूप के छन्द तो क्या लय तक से कवि ने इन रचनाओं को बचाया है। अवश्य ही उसने किरणों को छन्दों की पायलों से बचाकर अभिव्यक्ति का उपकार किया है। इसे कवि के पूर्ववर्ती काव्यों से मिलाकर सहज ही जाना जा सकता है। जैसे :

आज धरा जीवन अंचल में बन्धी प्रेरणा,
आज जनों के साथ प्राणप्रद सृजन शक्ति नव
अब न कला के स्वप्न निकुँजों में पल सकते,
अगणित वक्षों में अब स्पंदित नयी चेतना !
(सौवर्ण)

हाथी दाँत की
स्वप्नों की मीनार
सुलभ नहीं,—
न सही !

× × × ×

पतझर की ठूंठी टहनी में
कुहासों के नीड़ में
कला की कृश बाँहों में झूलता
पुराना चाँद ही
नूतन आशा
समग्र प्रकाश है।

ऊर्ध्व चेतना को चलना भूपर धर जीवन के पग
समदिक् मन को पंख खोल चिद्नभ में उठना व्यापक।
(स्वर्ण किरण)

नील गहराइयों में डूबी
मन की
अवाक् ऊँचाइयों पर
शुभ चापें सुन पड़ती हैं।
फालसई सोपानों पर

ललछौंहे पग धर
उषाएँ उतरती हैं !
ओ स्वर्ण हरित छायाओ,
इन सूक्ष्म चेतना सूत्रों में मुझे मत बाँधो !
मैं गीत खग हूँ, उड़ता हूँ,—
ज्योतिजाल में नहीं फँसूगा !

ऊँचाइयों को समतल में बिछा
गहराइयों को समजल में डुबा
इन्द्रधनुषी तिनकों का नीड़ बसा
कलरव बरसाऊँगा,—
नील हरी छाँहों में छिप
स्वप्नों के पंख खोल
धरती को सेऊँगा !

कोई कह नहीं सकता कि पूर्व की भाँति रश्मिपदी काव्य की इस आगमनी का शिल्पियों में कितना और कैसा स्वागत होगा; गद्य-काव्य की तरह सर्वसम्मति से अस्वीकृत होगी या इसे भविष्य की कविता के रूप-विधान में सबसे आगे स्थान मिलेगा, किन्तु इतना तो पन्त-काव्य के अध्येता के सामने स्पष्ट हुआ है कि स्वर्ण किरण और उत्तरा में जिन अतिमानसी धरातल की कल्पनाओं को चित्रित किया गया था, वे अपनी छन्दोबद्ध परिस्थिति में फुदकती-भर थीं और यहाँ निश्छन्द होकर उड़ानें भर रही हैं।

सप्तपर्णा

श्री० रामधारी सिंह 'दिनकर'

बहुत दिनों से हिन्दी-संसार को यह सूचना मिलती आ रही थी कि हिन्दी की गौरव-शिखा, सिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा कुछ चुनी हुई संस्कृत कविताओं का अनुवाद कर रही हैं । सप्तपर्णा, कदाचित् उन्हीं अनुवादों का संकलन है। आर्षवाणी (अर्थात् वेद), बाल्मीकि, थेरगाथा, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति और जयदेव, ये ही सप्तपर्णा के सात पत्ते हैं। साथ में "अपनी बात" के बहाने महादेवी जी के उज्ज्वल गद्य के भी कोई साठ पृष्ठ गुम्फित हैं। इस प्रकार, सप्तपर्णा का साहित्यिक महत्त्व द्विविध सिद्ध है।

इस सम्बन्ध में मेरे मन में एक प्रश्न उठता है, क्या मौलिक रचनाओं के समान अनुवाद भी निरुद्देश्य हो सकते हैं। सप्तपर्णा का उत्तर, कदाचित्, स्वीकारात्मक है। किसी एक पूरे काव्य का अनुवाद इस दृष्टि से सोद्देश्य समझा जा सकता है कि उसका लक्ष्य एक भाषा के ग्रन्थ को किसी दूसरी भाषा में उपलब्ध बनाना है। यह तर्क वहाँ भी लागू हो सकता है जहाँ अनुवादक ने अपनी रुचि के अनेक कवियों की थोड़ी-थोड़ी पंक्तियों का अनुवाद बानगी के तौर पर दूसरी भाषा में उपलब्ध कर दिया हो। किन्तु, महादेवी जी का प्रयास इतना सचेष्ट नहीं है। स्वाध्याय के क्रम में उन्होंने अपनी प्रसन्नता के लिए जहाँ-तहाँ से कुछ अनुवाद तैयार किये होंगे। वे ही सामग्रियाँ अब इस संग्रह के द्वारा हमें उपलब्ध बना दी गयी हैं। सप्तपर्णा की रचना सम्भवतः स्वान्तःसुख के लिए की गयी होगी, किन्तु, अब वह सब के सुख के निमित्त बन गयी है।

किन्तु, अनुवाद सोद्देश्य हो अथवा निरुद्देश्य, उसकी कुछ न कुछ सीमाएँ होती हैं। स्वान्तःसुख के लिए जैसे मौलिक काव्य लिखा जाता है, बहुत-से अनुवाद भी उसी सुख के निमित्त किये जा सकते हैं। किन्तु, सोद्देश्य हों या निरुद्देश्य, अनुवादों के पाठक निम्न चार प्रकार के व्यक्ति होते हैं :

लेखिका : महादेवी वर्मा।
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
मूल्य : ७ रु०।

१. वह व्यक्ति जो मूल की भाषा नहीं जानता है, और न आगे उसे सीखने का प्रयास करेगा। स्पष्ट ही यह पाठक उतने से ही सन्तोष कर लेगा जो अनुवाद में उपलब्ध बना दिया गया हो।

२. वह व्यक्ति जो मूल की भाषा सीख रहा है और अनुवाद से सहायता लेना चाहता है।

३. वह व्यक्ति जो मूल की भाषा जानता था, किन्तु, अब उसे भूल गया है।

४. और वह व्यक्ति जो दोनों भाषाओं में दक्ष है।

अनुवादों पर इन चार व्यक्तियों की प्रतिक्रिया परस्पर भिन्न होती है।

पहला कहता है, इस लेखक का बड़ा नाम सुना है; देखें तो चीज़ कैसी है।

दूसरा कहता है, चलो, अच्छा है। इससे मुझे मूल के समझने में सहायता मिलेगी।

तीसरे की प्रतिक्रिया होगी, यह तो वही लेखक है; देखें, अनुवाद में कैसे उतरा है।

और चौथे की प्रतिक्रिया सर्वत्र एकसमान व्यंग्यात्मक और कठोर होगी। अनुवाद में परिश्रम चाहे जितना भी किया गया हो, उच्च भाषाओं का पण्डित यही बोलेगा, देखें कितना चौपट किया है।

इनमें से वह पाठक जो मूल की भाषा से अनभिज्ञ है, मुक्त अनुवाद से प्रसन्न होता है, क्योंकि मुक्त हुए बिना अनुवाद सरल और प्रिय कभी-कभी ही हो पाता है। अपने देश में संस्कृत के अनेक ग्रन्थ नयी भाषाओं में अनूदित हुए हैं, किन्तु मुक्त हुए बिना जो अनुवाद सरल और प्रिय उतरा हो, ऐसा एकमात्र ग्रन्थ विनोबा-कृत गीता का मराठी अनुवाद गीताई है।

विद्यार्थियों को सहायता अक्षरशः अनुवाद से ही अधिक मिलती है।

जो पाठक मूल की भाषा को भूल चुका है, वह ऐसा अनुवाद पसन्द करेगा जो साथ-साथ कहता हो, मैं अनुवाद हूँ।

उच्च भाषाओं के पण्डित को कुछ थोड़ी प्रसन्नता वहाँ होती है जहाँ अनुवादक ने अपनी विद्वत्ता और घोर परिश्रम का प्रमाण दिया हो। बाकी वह तब भी व्यंग्य कसेगा, तब भी अनुवाद को हीन बतायेगा।

'सप्तपर्णा' पर इन चार प्रकार के पाठकों की प्रतिक्रियाएँ कैसी होंगी ?

जहाँ तक आर्षवाणी और थेरगाथा के अनुवादों का सम्बन्ध है, मैं अपने आप को बहुत कुछ वैसा ही असमर्थ मानता हूँ जैसे वह पाठक जिसे मूल की भाषा का ज्ञान नहीं है। मैं वेदों की भाषा नहीं समझता, न उसे समझने की अब मुझे कोई आशा रह गयी है। और मेरा यही हाल पालि और प्राकृत में भी है। कदाचित् इसीलिए, सप्तपर्णा के दो खण्ड—आर्षवाणी और थेरगाथा—मुझे बहुत पसन्द आये। अधिक सानन्द विस्मय मुझे यह देखकर हुआ कि वेदों के गद्यानुवाद में जो बातें उतनी उलझी हुई और तर्क-मुक्त दीखती हैं, वे ही महादेवी जी के छन्दों में सुलझी और तर्कपूर्ण हो उठी हैं। अवश्य ही, अनुवादक ने खोयी हुई कड़ियों का सुराग़ खोज निकाला है। किन्तु, वैदिक भाषा के मर्मज्ञ को यह चेष्टा कैसी लगेगी, यह कोई अधिकारी ही बता सकता है।

सप्तपर्णा से विद्यार्थियों को कुछ थोड़ा लाभ पहुँच सकता है। किन्तु, स्थान-स्थान पर उन्हें किसी अन्य टीका की भी आवश्यकता पड़ सकती है, विशेषतः वैसे स्थलों पर जहाँ "दिव्य" शब्द में "देवतात्मा" का अर्थ समेटने का प्रयास किया गया है।

जो लोग मूल की भाषा भूल चुके हैं, उन्हें इस बात से तो निराशा होगी कि यह अनुवाद अनुवाद-जैसा नहीं दीखता, किन्तु इन अनुवादों से मौलिक काव्य का आनन्द उन्हें भी मिलेगा।

और जो लोग उभय भाषाओं के ज्ञाता हैं, उनकी प्रतिक्रिया का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।

साहित्य के कार्यों में काव्यानुवाद का कार्य सब से कठिन होता है और इसी साहित्यिक कार्य को मैं सर्वाधिक संदिग्ध भी मानता हूँ। सब से बड़ी निराशा की बात यह है कि जिस अनुवादक की आलोचक प्रशंसा करते हैं, उसकी कृतियाँ पढ़ी कम जाती हैं, और जिनकी कृतियाँ पढ़ी जाती हैं उनमें से प्रशंसा के अधिकारी विरले ही होते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी में प्रकाशित अनूदित काव्य में से सब से अधिक प्रशंसा अभी श्री बालकृष्ण राव के "विक्रान्त सँमसन" की हुई है, किन्तु जहाँ तक मैं जानता हूँ, उस अद्भुत ग्रन्थ का प्रचार यथेष्ट रूप से नहीं हुआ। भारती जी का 'देशान्तर' भी सफल अनुवाद के काफ़ी समीप है, किन्तु उसकी अभी चर्चा भी शुरू नहीं हुई।

वैसे, कविता की दृष्टि से सप्तपर्णा की प्रायः सभी रचनाएँ आनन्ददायिनी और सुपाठ्य हैं और उनके भीतर उन सभी कौशलों का चमत्कार विद्यमान है जिन्हें

हम महादेवी जी की लेखनी से सम्बद्ध मानते आये हैं। किन्तु, शुद्ध काव्य की दृष्टि से जो गुण काम्य समझे जाते हैं, वे ही अनुवाद को सदोष भी बनाते हैं। उदाहरण के लिए, संस्कृत कविता का अनुवाद हिन्दी छन्दों में किया जाय अथवा सदैव संस्कृत वृत्तों में, यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिसका उत्तर आसानी से दिया जा सके। गीताई जो बिलकुल गीता के समान हो उठी, उसके अनेक कारणों में से एक प्रबल कारण यह भी है कि विनोबा जी की पद्धति शुद्ध समश्लोकी अनुवाद की पद्धति थी।

ऐसा ही एक दूसरा प्रश्न है जो शैली के अनेक पक्षों से सम्बद्ध है। अनुवाद को मूल का समकालीन दीखना चाहिए अथवा अनुवादक का समकालीन ? सप्तपर्णा का वातावरण मूल का नहीं, अनुवादक का समकालीन है। और यहाँ भी मतैक्य की गुँजाइश नहीं दीखती। जो अनुवाद में मूल का रस खोजते हैं, वे चाहेंगे कि छन्द, लय, भाषा और मुहाविरों का प्रयोग ऐसा हो जिससे हमें मूल की समकालीनता का बोध हो सके। किन्तु, प्रतिपक्षी मत यह भी हो सकता है कि अनुवादक का एक कार्य अतीत और वर्त्तमान के बीच सेतु-रचना का भी है। अतएव, वातावरण बदल कर यदि नवीन हो जाय तो इसमें अधिक दोष नहीं है।

इतिहास के क्रमानुसार 'गीतगोविन्द' का अनुवाद पुस्तक के अन्त में आता है। पहला पद गीतगोविन्द के पहले श्लोक का अनुवाद है जिसे मैं अच्छा अनुवाद समझता हूँ, किन्तु दूसरा अनुवाद "ललित-लवंगलता-परिशीलन" वाले गीत का अनुवाद है। यहाँ भी जो पाठक गीतगोविन्द से सर्वथा अपरिचित हैं, उन्हें अनुवाद से सन्तोष ही होगा। किन्तु, जिनके मन में गीतगोविन्द के पद बसे हुए हैं, उनको यह अनुवाद अप्रिय लगेगा। गीतगोविन्द के गीतों के अनुवाद का प्रयास छोड़ देना चाहिए।

द्रौपदी

डॉ० सावित्री सिन्हा

"द्रौपदी" काव्य श्री नरेन्द्र शर्मा का नया प्रयोग है। उसके प्रतिपाद्य और प्रतिपादन-शैली—दोनों ही क्षेत्रों में हमें कवि के नये दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। "द्रौपदी" के प्रतिपाद्य का रूप आरम्भ में पूर्ण बौद्धिक है। महाभारत के जाने-पहिचाने पात्रों के माध्यम से कवि ने एक दार्शनिक सत्य की स्थापना की है। प्रतीक-योजना का मूल केन्द्र है द्रौपदी जो "जीवनी-शक्ति" है। युधिष्ठिर आकाश-तत्त्व, भीम प्राण-तत्त्व, अर्जुन अग्नि-तत्त्व, नकुल जल-तत्त्व और सहदेव भूमि-तत्त्व हैं। पृथा स्वयं पृथ्वी हैं जिन्हें देव-वहन-शक्ति प्राप्त है। नयन-हीन धृतराष्ट्र को "अचेतन अप्रकेत उस मानस" का प्रतीक माना गया है जिसे शत इच्छाएँ ही पुत्र रूप में प्राप्त हैं। उन्हें विफलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त होता। ऐसा जान पड़ता है कि महाभारत के युद्ध में द्रौपदी के प्रखर व्यक्तित्व की प्रेरणा और उसके पतियों की पाँच संख्या के कारण ही कवि को इस बौद्धिक रूपक-योजना का भाव मिला है। इस प्रकार के प्रतीक-विधान प्रायः प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच किसी-न-किसी प्रकार के साम्य पर आधृत होते हैं। द्रुपदा, पृथा और धृतराष्ट्र का क्रमशः जीवनी-शक्ति, पृथ्वी माता और इच्छा से अन्ध व्यक्ति के रूप में प्रतीकीकरण स्पष्ट है। युधिष्ठिर पर आकाश-तत्त्व का आरोपण भी अर्थ-गरिमा से युक्त है। उसे पढ़कर 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म का यह चित्र अनायास ही याद आ जाता है—

भीष्म ने देखा गगन की ओर
मापते मानो युधिष्ठिर के हृदय का छोर।

अर्जुन में निहित इन्द्र के अग्नि-तत्त्व का भी संकेत उनके ओज से माना जा सकता है लेकिन शेष तीन पाण्डवों पर प्रतीकों का आरोपण केवल रूपक के निर्वाह के लिए ही किया हुआ जान पड़ता है।

श्री नरेन्द्र शर्मा के काव्य से जिसका थोड़ा बहुत भी परिचय है उसके लिए यह निश्चय कर सकना कठिन हो जाता है कि इस बौद्धिक प्रतिपाद्य को उनकी काव्य-

---

लेखक : नरेन्द्र शर्मा।
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
मूल्य : २.५० रु०।

चेतना का विकास माना जाय अथवा ह्रास। "प्रवासी के गीत", "प्रभात फेरी", "पलाशवन" इत्यादि कृतियों में जिन उष्ण और प्राणवन्त अनुभूतियों तथा व्यक्तिगत और समष्टिगत यथार्थ का चित्रण हुआ है उनका स्थान 'द्रौपदी' में बहुत गौण है। जीवन और जन के कवि के स्वर की दार्शनिक बोझिलता में उसका मस्तिष्क ही प्रधान हो गया है। प्रारम्भ में तो ऐसा लगता है कि "प्रतीक" कवि का प्रतिपाद्य है और द्रौपदी की कथा अभिव्यक्ति का माध्यम। किन्तु आगे बढ़ने पर मस्तिष्क अनुभूति के माध्यम से बोलने लगता है। कवि अपने सहज स्वाभाविक रूप के निकट आ जाता है। इन स्थलों पर उसकी अनुभूति तथा कल्पना का संश्लिष्ट और सन्तुलित रूप दिखाई पड़ने लगा है। लेकिन इसके फलस्वरूप प्रतीक खंडित हो गया है। दूसरे सर्ग से ही आख्यान तत्त्व धीरे-धीरे प्रधान हो गया है और प्रतीक के संकेत आवश्यकतानुसार यदा-कदा दे दिए गए हैं। प्रतिपाद्य के इस द्विविध रूप के कारण आख्यान और प्रतीक का सम्पृक्त सम्बन्ध नहीं बन पाया है।

कृति की प्रतीक-योजना की अपूर्णता का एक कारण और भी है। द्रौपदी की कथा को तो संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया जा सकता था लेकिन महाभारत के जिन विविध पात्रों का समावेश "द्रौपदी" में हुआ है उन सबको प्रतीकात्मक बना देना असम्भव था। "द्रौपदी" की प्रतीक-योजना केवल मुख्य पात्रों और मूल घटनाओं पर आधृत है, इसलिए उसका रूप आलंकारिक ही माना जा सकता है, उसको प्रतीक काव्य नहीं कहा जा सकता।

द्रौपदी को केन्द्र बनाकर महाभारत के प्रसिद्ध आख्यान की छोटी-छोटी घटनाओं को जिस रूप में सूत्रबद्ध किया गया है, उसमें प्रसंग-चयन और उनके विन्यास दोनों का कौशल दिखाई पड़ता है। वास्तव में प्रतिपाद्य के विशाल पृष्ठाधार को इस "लघु-काव्य" में चित्रित करना बड़ा कठिन कार्य था किन्तु अपनी चित्र-कल्पना एवं वर्णन-सामर्थ्य के द्वारा कवि लघु आधार-फलक पर भी विशाल चित्र खींचने में सफल रहा है, कमी केवल इतनी रह जाती है कि एक के बाद एक चित्र क्षिप्र गति से आते और मिटते जाते हैं।' 'अनलजा' द्रौपदी के प्रखर चित्र बड़े सफल बन पड़े हैं, लेकिन उसकी ज्वाला के आलोक में पाँचों पाण्डवों का व्यक्तित्व क्षुद्र बन गया है। यदि यह कहा जाए कि जीवन-शक्ति के रूप में द्रौपदी को नमन करने के कारण कवि ने उसे आवश्यकता से अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है तो अनुचित न होगा। लेकिन इस प्रतीक के निर्वाह के लिए यह तत्त्व बचाया नहीं जा सकता था। शकुनि, गान्धारी, कुन्ती इत्यादि के चरित्र में अनेक मनोवैज्ञानिक स्पर्श देकर इन पौराणिक पात्रों को सजीव रूप में चित्रित किया गया है। विभिन्न पात्रों के चरित्र-विकास के लिए इस लघु विधा के काव्य में अवकाश नहीं था। जिस प्रकार घटनाएँ क्षिप्र गति से आती और चली जाती हैं उसी प्रकार विभिन्न भावनाओं के पूर्ण परिपाक की

झलक मिलती है और समाप्त हो जाती है। आह्लाद और विषाद की अनेक मनःस्थितियों का चित्रण सजीवता के साथ हुआ है।

काव्य का अन्त साधारण रूप में, नारी की मानसिक शक्ति के महिमा-गान और विशेष रूप से पावक-तनया की "पुन्याई" के वर्णन के साथ होता है। इस प्रकार अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कवि का उद्देश्य केवल एक दार्शनिक सत्य की स्थापना तक ही सीमित नहीं रह जाता। वह भारतीय मान्यताओं के अनुसार नारीत्व की त्याग-मूलक शक्ति की स्थापना भी करता है। प्रतिपाद्य के द्विविध रूप की भाँति ही उद्देश्य का रूप भी दोहरा हो गया है।

जहाँ तक नरेन्द्र जी की अभिव्यंजना-शैली का प्रश्न है, वह परिचय की अपेक्षा नहीं करती। हिन्दी का पाठक उससे दीर्घकाल से परिचित है। शब्दावली विषयानुरूप है। दार्शनिक गाम्भीर्य का निर्वाह संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा किया गया है। अनुभूतियों और चित्रों के अंकन में शब्दों का रूप सहज और सरल है। लक्षित और उपलक्षित दोनों प्रकार की चित्र-योजनाओं के सुन्दर प्रयोग मिलते हैं। हाँ, जहाँ युद्ध के अमंगल की सूचना देने वाले ज्योतिष के संकेतों का विवेचन किया गया है वह प्रसंग कुछ अनावश्यक सा जान पड़ता है। कृति की छन्द-योजना में 'दिनकर' के कुरुक्षेत्र की छन्द-योजना का प्रभाव दिखाई पड़ता है। परम्परागत काव्य-रूपों के अन्तर्गत इसे नहीं रखा जा सकता था। इसीलिए कदाचित् कवि ने उसे 'लघु काव्य' नाम दिया है। उसमें महाकाव्य के उपयुक्त पूर्ण कथा को खण्ड काव्य के से संक्षिप्त कलेवर में प्रस्तुत किया गया है।

दार्शनिक सत्य पर आधृत "द्रौपदी" तत्त्वदर्शी पन्त जी की षष्ठिपूर्ति के अवसर पर उन्हें समर्पित की गई है। यह समर्पण पन्त जी के व्यक्तित्व के अनुरूप ही है। लेकिन ऐसा लगता है कि जीवन के कवि नरेन्द्र समय से पहले ही दर्शन की ओर उन्मुख होने लगे हैं।

वेणु लो गूँजे धरा

डॉ० रामेश्वर खण्डेलवाल 'तरुण'

'हिमकिरीटिनी', 'हिमतरंगिनी', 'माता', 'युगचरण' और 'समर्पण' शीर्षक काव्यरचनाओं के विख्यात और अभिवन्द्य कवि पं० माखनलाल चतुर्वेदी का यह नया काव्य-संग्रह है। 'वेणु लो गूँजे धरा'—नवीन रुचि का प्रकाशक यह कौशलपूर्ण नामकरण ही कवि के जीवन-दर्शन, काव्य-दृष्टि और प्रस्तुत रचना की आकृति-प्रकृति को बड़ी मार्मिकता से व्यंजित करता है। मनुहार की भावना का वाहक यह प्रतीक-चित्र भारतीय हृदय के लिए गहरी सांस्कृतिक संवेदना से सम्पन्न है, और कवि के रसवादी दृष्टिकोण तथा विश्व-मानव के सुख की आकांक्षा का द्योतक है। नये जीवन और जीवन-संदर्भों के निरूपण के लिए इस प्रतीक को आज के लिए भी कवि ने जीवन्त और ताज़ा बना दिया है। 'भूमिका' में कवि ने अपनी ओर से स्पष्टीकरण किया है—'मेरे निकट तो 'श्यामसुन्दर' मीठा, आकर्षणशील परम सत्य है। जब वायु ज़ोर से चलती है, मुझे लगता है उसने वेणु ले ली है, और जब अन्धड़ का सन्नाटा सुनता हूँ तो लगता है धरा गूँजने लगी है।...'' इस प्रतीक के माध्यम से प्रस्तुत रचना में ९-१० कविताओं की वस्तु निवेदित हुई है।

इस संग्रह में देश-प्रेम, भक्ति, प्रणय, प्रकृति, जीवन आदि विषयों पर छोटी-छोटी (केवल एक ही कविता लम्बी है, साढ़े छह पृष्ठ की) ७२ मुक्तक रचनाएँ हैं, जिनमें से कुछ तो विषय-निरूपिणी कविताएँ हैं और कुछ अनुभूतिपरक गीत या ऐसी रचनाएँ हैं जिनका मूल उच्छ्वास गीतात्मक है। भाव-स्वर का वैविध्य ही इन रचनाओं का प्रावेशिक परिचय है—''उनकी संख्या भले ही कितना हो किन्तु उनके स्वर की विविधता का ही ध्यान रखना होगा'' (भूमिका)।

कवि का दृष्टिकोण सर्वत्र नवीन, प्रजातान्त्रिक, वाद-मुक्त तथा स्वच्छन्द है। इस ग्रन्थ में धूल का महत्त्व, लघु, हीन और पतित के प्रति ममत्व, जगत् के बन्धनों की

'वेणु लो गूंजे धरा' (काव्य-संग्रह) : लेखक : माखनलाल चतुर्वेदी।
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६०।
मूल्य : तीन रुपये।
पृष्ठ संख्या : १०४; कलापूर्ण नयनरञ्जक आवरण; स्वच्छ प्रसन्न मुद्रण।

मौलिकता, कलाकार के स्वर का मूल्य और उसके दायित्व की गरिमा, उच्च साहित्य के सृजन की प्रेरणा, निम्न जीवन-मूल्यों का तिरस्कार, जीवन की सहज अनुरक्ति आदि से सम्बन्धित विचारों और भावनाओं का सुन्दर निरूपण हुआ है। युवकोचित प्रेरणा, देशाभिमान, ऐक्य व संगठन, देश का भौगोलिक व प्राकृतिक सौंदर्य, सांस्कृतिक गौरव, नवीन रक्त के बलिदान, बलिपंथों की बाधाएँ व उनका मुसकानयुक्त अतिक्रमण आदि से सम्बन्धित भावनाएँ तो मानो कवि के रक्त की रसीली लालिमा ही है।

दूसरा धरातल है साधना, आस्तिकता, रहस्य, भक्ति और आराधन का। इन उदात्त भावनाओं की अभिव्यक्ति अनुभूतियों से गदराये मन और कंठ से हुई है। 'सूर्य किरनें, चन्द्र किरनें एक हैं, अनबन कहाँ है?' (अभेद-दर्शन की भावना), 'कहो कि इतनी चाँदी मत बो उस चाँदी बोने वाले से' (प्रभु की अमित दानशीलता), 'कब मिलोगे, साँस की पहचान की कड़ुई कुरेदन?' (महामिलन की उत्कण्ठा), 'तड़ित की तह में समायी मूर्ति दृग झपका उठी है' (चिर सुन्दर के दर्शन), 'यह कैसी आँख मिचौनी है, किसने मूँदी, क्यों खेल रहा?' (रहस्य-जिज्ञासा), 'गुपचुप के संवादों जैसे, लौट गये वे कौन?' (जिज्ञासा), 'कौन बोलता है अमृत स्वर। उठ-उठ कर भीतर ही भीतर॥' (आत्मान्वेषण)—आदि उद्गारों द्वारा कवि के स्वर की पावनता व गाम्भीर्य का तथा संग्रह की वस्तु के वज़न का कुछ अनुमान हो सकता है।

प्रकृति भी संग्रह का एक आकर्षक और शक्तिशाली तत्त्व है। कवि ने प्रकृति के माध्यम से मूल्यवान् तथ्यों और अनुभूतियों को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया है। भू-नभ-व्यापी प्रकृति के गम्भीर सौंदर्य, रस और शक्ति की बखेर और उछाल पर कवि मौन-मुग्ध है, और साथ ही वह एक विचित्र बेचैनी, कसमसाहट और आकर्षण से भरा हुआ है। अनादि कोश की सम्पन्नता के ये उद्गार देखिए—

कहो कि इतनी चाँदी मत बो, उस चाँदी बोने वाले से;
कहो न यों बरबाद करे, अपनी बखेर खोने वाले से।

× × ×

किरन-जाल में बांधे कितने रंग, रूप, रस, गंध अनोखे;
पनघट से मरघट तक कितने अमर और ये कितने चोखे?

× × ×

सूरज डूब रहा, छवि देखो, सूरज ऊग रहा है छवि बाँधे!
छबियाँ ऊग-ऊग उट्ठी हैं. सिर पर लें या ले लें बाँधे?
दो आंखें! कितना आरोगे? कितना, लो कितना देखोगे?

प्रकृति के अनेक चटकीले सांकेतिक दृश्य-चित्र इस संग्रह में बिखरे मिलेंगे।

काव्य के वस्तुपक्ष और शैलीपक्ष के सापेक्षिक महत्त्व और अनुपात के बारे में सनातन वादविवाद (जो कभी-कभी आत्यन्तिक विषमताओं की सीमा को भी छू लेता है) जो कुछ और जैसा कुछ भी रहा हो, किन्तु इस संग्रह में स्थिति स्पष्ट है: वस्तु और शैली का स्वस्थ संतुलन। आदि से अन्त तक जीवन्त और उदात्त अनुभूतियाँ, जो शाश्वत और सामयिक जीवन की तत्त्वचिन्ता के पुष्ट स्नायुजाल पर खड़ी हैं, निरूपित हुई हैं। स्थूल विचार और तथ्य भी, काव्य की प्रक्रिया से, गल कर भाव और रस रूप में परिणत हुए हैं। भावुकता और चिंतनशीलता के योग से काव्य-वस्तु, छंदों में बिछाये जाने से पूर्व, खूब फेंटी गई है। उच्छृंखलता और फेनिल उबाल का प्रश्न नहीं। भाव व विचार कविमन के द्वारा अच्छी तरह जीये जा चुके हैं अतः उनमें प्रौढ़ता और गाम्भीर्य है। वे सीधे जीवन से उतरे हैं। सृजन की मूल प्रेरणा के उद्गम का संकेत देने वाली ये पंक्तियाँ विषय-वस्तु की ताज़गी और प्राण-पोषकता का स्वयं ही परिचय दे देंगी—

चिर तरुणी क्षिति, चिरनवीन गति, चिर यौवन की बाढ़ सँभालो।

× × ×

जीवन वही कि जो जीवन की अमर तरुण मौलिकता जाने !

× × ×

कितनी मौलिक जीवन की द्युति, कितने मौलिक जग के बन्धन !

जीवन की मौलिक शक्तियों और ऊँचे जीवन-मूल्यों (दया, दाक्षिण्य, सेवा, प्यार, श्रद्धा, श्रम, बलिदान, समर्पण आदि) के प्रति गाढ़ी और गहरी अवस्था लबालब भरे इस संग्रह के रस-बुझे बोल मन में चिर-तारुण्य की प्राणमयी जीवनोष्मा का संचार करने में पूर्णतया समर्थ हैं। अन्तर्मन के तहखानों में रहने वाली सीलन, बू, अँधेरा, घुटन और सड़ाँध की अभिव्यक्ति को ही यथार्थ जीवन की ईमानदार अभिव्यक्ति मानने वालों को कदाचित् यहाँ अपने लिए अनुकूल सामग्री कम मिले या न मिले।

अभिव्यक्ति-पक्ष अथवा शैली-पक्ष भी वस्तु के अनुरूप ही प्रौढ़ है। कवि की शैली अभिव्यक्ति की विभिन्न मुद्राओं और भंगिमाओं के चमत्कार के कारण सदैव लुभावनी रही है; और यही उसकी शैली की मौलिकता व विशिष्टता है। कवि की भाषा-नीति सदैव उदार रही है। आत्मप्रकाशन का पूरा सुख पाने के लिए अपने विह्वलकर अभिप्रेत को एकदम फ़िट रूप, आकार और आवरण दे डालना—यह चाहे जिस साधन से भी हो—कवि के भाषा-प्रयोग का रहस्य है। जहाँ वर्दी, नाक़िस,

आशिक़ी, फ़क़त, शौकीन, क़ीमत, ज़ालिम, बेक़ाबू, नक्शा, सीनाज़ोरियाँ, फ़रियादें, क़रम, नज़र, गुनाह जैसे उर्दू लफ़्ज़ों का बेखटके प्रयोग हुआ है वहाँ पतनोन्मुखी, प्रज्ञा, दिग्वसना जैसे संस्कृत के तत्सम शब्द भी प्राप्त होते हैं। ऊगन, खिलन जैसे भाववाचक संज्ञा-शब्दों के भी प्रयोग हुए हैं। पंखनियाँ, उजाड़ियाँ जैसे नये शब्द भी दिखाई पड़ते हैं। उट्ठी, बैरिन, झोले, एँड एँड, कूता, गदराये आदि देशज, व्यावहारिक व अल्पप्रचलित शब्दों से भी काम लिया गया है। आँखियाँ, बखेर, लांबी, बरज, ग्रीषम, बहिना में भाषा का कोमलीकरण व देशज माधुर्य मोहने वाला है। कथन-लाघव के लिए संज्ञा-शब्दों से विभक्तियों के लोप के उदाहरण तो पच्चीसों जगह मिल जायेंगे—यथा, फूलों, अंगों, बूँदों सिचकर, बालों भर आईं, कल्प की बाहों, आदि। वर्ण-मैत्री की स्थापना के लिए यमक के स्थूल चमत्कार का रीतिकाल-सुलभ मोह भी पंक्तियों के बीच यत्र-तत्र दिखाई पड़ जाता है—रंग, बदरंग; अटारी, कटारी; अर्पण, तर्पण, समर्पण, आदि। सब कुछ मिलाकर भाषा बड़ी समर्थ और जानदार है।

कवि का शिल्प अनेक स्थलों पर बड़ा सूक्ष्म है : महीन वस्त्र पर घना बारीक काम किया गया है। 'प्रार्थना-पाल' (आम पकाने का)' और 'सुप्ति के कटहल' में नये स्वस्थ प्रयोगों की चेतना दिखाई पड़ती है। मानवीकरण, प्रतीकों का प्रयोग और प्रकृति पर चेतना का आरोप, जो छायावाद के विशिष्ट व्यंजन हैं, यहाँ पुष्ट और मर्यादित रूप में मिलेंगे। छंद-प्रयोग के सम्बन्ध में कवि स्वच्छन्द है। भाव के आरोह-अवरोह के साथ, कविता या गीत ने बीच में, सहसा ही छन्द-परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। पंक्तियों के लाघव-विस्तार का भी अनेक स्थलों पर कोई नियम नहीं। अनेक स्थलों पर यति-भंग भी दिखाई पड़ा है जो मुद्रण की ही त्रुटि कही जा सकती है। पर छंदों में खूब प्रवाह और गति है जो लेखनी की उम्र को साफ़ बता देती है। कवि का कथन है :

पथरा चलीं पुतलियाँ, मैंने विविध धुनों में कितना गाया।

किन्तु इस संग्रह में ऐसे स्थल भी हैं जहाँ सूक्तियाँ (पृ० १५, ४०, ४१, ७६) भाव-पृथक्करण (जैसे, पूजा-सेवा पृ० ५१), उपदेशात्मक उद्बोधन (पृ० ४२, ६६), दार्शनिक सम्बन्ध-निरूपण ('तू' और 'मैं' का सम्बन्ध) तथा अभिधात्मक कथन आदि उभर आये हैं। संग्रह में अनेक स्थलों पर कवि अपने पाठकों की बहुत कड़ी परीक्षा लेता है। जो रस का सच्चा ग़रज़मन्द है उसे बुद्धि के महीन नाख़ून और उंगलियों के प्रयोग का श्रम करना होगा—मींग और गूदा मिलेगा अवश्य। रमणीय कल्पनाओं, भावों, सूझों और उन्मेषों का आनन्द लेते हुए उक्तिवैचित्र्यपूर्ण चमत्कारों और रूपकों के बीच में से कवि के अभिप्रेत को ढूँढ निकालने में काफ़ी स्वास्थ्यप्रद श्रम

होगा। जहाँ मलमल के पट में सहज छनते जल की तरह मन में उतरने वाली ऐसी पंक्तियाँ हैं—

बोल रे, मानस के पंछी, मन की बोली बोल !

× × ×

सन्ध्या के बस दो बोल सुहाने लगते हैं
सूरज की सौ-सौ बात नहीं भाती मुझको !

× × ×

बाटों में कुछ कांटों का भ्रम, कुछ गति का श्रम
तुम साथ रहोगे पंथी को इतना क्या कम ?

वहाँ ऐसी पंक्तियों का भी अभाव नहीं दिखाई पड़ेगा—

विषमताएँ ले किरण उतरी धरा पर
चंचलता लिपटी अमावस की स्थिरा पर
चाह जैसी चपल चमकें ढल गईं
गगन से वसुधा अकेली पड़ गई...।

× × ×

प्रज्ञा दिग्वसना, कि प्राण का पट क्यों खेंच दिया ?

संक्षेप में, 'वेणु लो गूंजे धरा' छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के श्रेष्ठ तत्त्वों और संस्कारों से सम्पन्न रचना है। वाणी के चरम-विकास की गोलाई तो कैसे कहा जाए, क्योंकि क्षितिज पर पहुँच कर भी क्षितिज सदा दूर है ! सभी स्रष्टाओं की तरह स्वयं कभी भी अपनी सीमा और लाचारी से अवगत है—

साँसों से गीत बे-अनुपात रही।

कान्त हीरक-कनी सी आभावान् यह कृति हिन्दी-काव्य क्षेत्र में अवश्य ही अभिनन्दित होगी, ऐसा हमारा विश्वास है

झूठा सच

श्री० प्रकाशचन्द्र गुप्त

'झूठा-सच' श्री यशपाल का अब तक लिखा सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है और निश्चय ही हिन्दी की अमर कला-कृतियों में इसकी गणना होगी। आधुनिक भारतीय जीवन की अभूतपूर्व झांकी यह उपन्यास प्रस्तुत करता है। इसका कैन्वैस विशाल है और स्वर्गीय प्रेमचन्द की कृति, 'रङ्गभूमि', का स्मरण दिलाता है। जीवन की अतल गहराइयों में कथाकार इस उपन्यास में उतर सका है और इस प्रकार आज के भारतीय जीवन के व्यापक प्रसार और संश्लिष्ट सूक्ष्मता दोनों ही की झाँकी हम इस उपन्यास में पाते हैं। लगभग १२५० पृष्ठों में फैली यह कथा युग के प्रतिनिधि जीवन से हमें परिचित कराती है।

कथा का आरम्भ बँटवारे के पूर्व लाहौर की एक गली में होता है। यह पहला ही उपन्यास है जिसमें यशपाल जी ने पंजाबी जीवन का अङ्कन किया है। यद्यपि यशपाल बड़े निर्विकार कलाकार हैं, बँटवारे से पूर्व लाहौर की गलियों और मोहल्लों के जीवन का चित्रण उसमें खूब डूब कर उन्होंने किया है। इस कारण इस चित्रण में एक आत्मीयता है, एक गहरा रङ्ग है, जो उनकी कला में हम अन्यन्त्र नहीं पाते।

गलियों और मोहल्लों के नाम पाठक की स्मृति में गूँजते रहते हैं: भोला पाँधे की गली, शाहालमी दरवाज़ा, सैंद मिट्ठा, बन्नी हाता, माई हीराँ का गेट। इन नामों के साथ ही हवा में कुछ उदासी-सी भर जाती है। इन गली-मोहल्लों में जीवन का जो अदम्य प्रवाह था, वह सूख गया। प्रबल आँधी के झकझोरों से यह मानवता दूर-दूर बिखर गई। न जाने तूफ़ान में कहाँ-कहाँ यह पत्तियाँ उड़-उड़ कर पहुँचीं।

ग़लियों में विवाह के गीत होते हैं, शोक मनाया जाता है; प्रेम, मिलन और

दो भाग—पहला भाग "वतन और देश"; दूसरा भाग "देश का भविष्य"।
लेखक : यशपाल।
प्रकाशक : विप्लव कार्यालय, लखनऊ।
मूल्य : पहला भाग ११ रु०; पृष्ठ संख्या ५३७।
दूसरा भाग १४ रु०; पृष्ठ संख्या ७०६।

विरह के अनेक दृश्य लुके-छिपे अभिनीत होते हैं। पुरुष गलियों में अखबार पढ़ते हैं, राजनीतिक बहसें करते हैं, जीवन के व्यापारों में गहराई से डूबते हैं। लड़के-लड़कियाँ पढ़ाई समाप्त करके जीविका और प्रेम की खोज में लीन होते हैं।

इस जीवन का बहुत सूक्ष्म अध्ययन श्री यशपाल ने किया है। गली-टोलों के रीति-रिवाज, गीत, रहन-सहन आदि का अन्तरङ्ग चित्रण उन्होंने किया है। उपन्यास में आञ्चलिकता के तत्त्वों का गहरा रङ्ग है। साथ ही इस उपन्यास में एक व्यापकता और कैन्वैस की विशालता है, जिसका अभाव हम आञ्चलिक उपन्यासों में देखते हैं।

देश के बँटवारे के साथ जो भीषण आंधी चली, उसके दृश्यों का निर्मम वर्णन इस उपन्यास में है। जो जघन्य और कुत्सित घटनाएँ उस काल में घटीं, नारीत्व का जो अपमान और तिरस्कार हुआ, उस बीभत्स यथार्थ का भी निर्विकार चित्रण उपन्यास में है। नारी के माँस का व्यापार मानो हर गली और बाजार में हो रहा था और अनेक व्यापारी दुकान लगाये बैठे थे। इस दुःखद और दयनीय सत्य का यशपाल जी ने निरावरण वर्णन किया है। इसमें किसी प्रकार का मोह नहीं है। यह लेखक की निर्मम सत्य के प्रति समर्पण की भावना की अभिव्यक्ति है। एक अजीब उदासी और पीड़ा पत्थर की शिला-सी जमकर पाठक के मन पर बैठ जाती है।

दूसरे भाग में पंजाबी शरणार्थियों के पुनर्वास और आधुनिक कांग्रेसी राजनीति के व्यापारों की कथा है। पश्चिम से भागी हुई मानवता अमृतसर, लुधियाना, जालन्धर, दिल्ली और लखनऊ तक आँधी में धूल के कणों के समान उड़ कर पहुँची। किसी ने खौंचा लगाया, किसी ने कुछ धन्धा अपनाया, किसी ने कुछ। प्रेम के भी अनेक खिलवाड़ इस बीच हुए। पृष्ठभूमि में गान्धी जी के शान्ति के प्रयत्न, कांग्रेसी राजनीति के दाँव पेच और चुनाव आदि के वर्णन हैं।

इस प्रकार यह उपन्यास हमें आधुनिक भारतीय सामाजिक जीवन की एक व्यापक और अन्तरङ्ग झाँकी देता है। इसे हम उपन्यास के रूप में आज के भारत का कथाबद्ध इतिहास कह सकते हैं। इतिहास के पीछे जो पारिवारिक और व्यक्तिगत कथाएँ हैं, वे आज के ही प्रतिनिधि जीवन का परिचय हमें देती हैं।

कथा की इस पृष्ठभूमि में अनेक सजीव पात्र उभर कर हमारे सामने आते हैं। इन पात्रों की संख्या दर्जनों में है। छोटे-बड़े पात्र सब मिलाकर लगभग एक सौ पात्र आज के भारतीय जीवन के इस 'एपिक' में हैं। इनके नाम ही हमें पंजाब की दर्दभरी याद दिलाते हैं : मेलादेई, कर्तारो, खूह वाली सियाणी, भागवन्ती, रामज्यावा,

रामलुभाया, पीतो, वीरूमल, पूरणदेई, दम्मो आदि । हम उन्हें लाहौर की गलियों में गीत गाते, स्यापा करते, लुंगी पहने दातुन करते, अखबार पढ़ते और राजनीतिक बहसें करते अपनी कल्पना में देखते हैं । विशेष रूप से पहले भाग में पंजाबी जीवन का रङ्ग कूँची के हर आघात से कलाकार ने गहरा किया है ।

अनेक पात्रों के और जीवन के बहुरङ्गी ताने-बानों के बीच इस उपन्यास की कथा विशेष रूप से जयदेव पुरी, उस की बहिन तारा और पत्नी कनक से सम्बन्धित है । पुरी एक वामपक्षी कांग्रेस मैन की स्थिति से अपनी कमज़ोरियों और चरित्र की दुर्बलता के कारण एक दुश्चरित्र और बिगड़ा कांग्रेसी नेता बनकर रह जाता है । पुरी में अनेक गुण थे, किन्तु अपने चरित्र की दुर्बलता के कारण वह उन्हें विकसित न कर सका । सभी को उसने धोखा दिया—तारा को, कनक को, अपने माँ-बाप को । पुरी को हम इस कथा के खल-नायक के रूप में देखते हैं, जो चेतावनी है कि मनुष्य को निरन्तर अपनी दुर्बलताओं से जूझना चाहिए, अन्यथा उसके सभी आदर्श धूल में मिल जाते हैं ।

उपन्यास की वास्तविक नायिका तारा है । अनेक मुसीबतों को झेलकर भी वह आदर्श को धुँधला नहीं होने देती । वह अडिग रहती है । तारा और कनक दोनों ही पुरुषों द्वारा अनेक अत्याचारों से संघर्ष करती हुई सफलता प्राप्त करती है । तारा मानो 'लॉग-कैबिन' से उठकर 'व्हाइट-हाउस' में जा बैठती है । इस व्यवस्था में कभी-कभी ऐसा होता है, किन्तु इसे हम जीवन का यथार्थ नहीं कह सकते, क्योंकि यह जीवन का प्रतिनिधि सत्य नहीं है । यह सत्य कनक की जीवन-गाथा में प्रकट हुआ है।

दर्जनों प्रमुख पात्र इस बृहद् कथा में मूर्त और साकार हुए हैं : शीलो, रतन, डॉ० प्राणनाथ, उर्मिला, नैयर, पं० गिरधारी लाल, कान्ता, कंचन, ऊषा, असद, गिल, अवस्थी जी, सूद जी, रावत, मिस्टर और मिसेज़ अगरवाला, डॉ० श्यामा, रिखी राम, सीता आदि । इन चरित्रों को पाठक के लिए भुला देना सम्भव नहीं । इनकी सृष्टि में कथाकार ने उच्चतम कोटि की सृजनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है । इच्छा होते ही मानो वह अपने चतुर्दिक् बहते अदम्य जीवन की कलात्मक सृष्टि करने की सामर्थ्य रखता है ।

सूद जी उपन्यास के विशिष्ट पात्र हैं । उनका चित्रण आज की कांग्रेसी राजनीति को मूर्त करता है । वे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहते, किन्तु किसी को 'पर्मिट', किसी को 'कोटा' दिलवाते रहते हैं । यही उनके शक्ति-सञ्चय का रहस्य है । वे 'टिपिकल' कांग्रेसी बॉस हैं । पृष्ठ ४२० पर—जो संख्या शायद सांकेतिक है—सूद जी का वर्णन इस प्रकार है : "सूद जी के लिए न जमीन जायदाद बटोर लेने की

निन्दा थी, न मकान खड़ा कर लेने और बैंक बैलेन्स जमा कर लेने की अफ़वाह थी। सूद जी से उनके विरोधी भी उन्हें ज़र-ज़न-ज़मीन के मोह से मुक्त मानते थे। उनके हज़ारों समर्थकों ने लाभ उठाया था। हज़ारों लाभ उठाने की आशा में थे। वे सब लोग तन-मन से सूद जी के समर्थक थे। उनकी सहायता के लिए तत्पर थे।"

कथानक का प्रवाह मन्द, अविरल और जीवन की ही स्वाभाविक और अदम्य गति के समान है। कथा का एक छोर हमें पुरी के जीवन-चक्र का परिचय देता है, तो दूसरा तारा का और तीसरा कनक का। पहले भाग में यदि पंजाब की बोली, गीतों और फेरीवालों के शोर की गूँज है, तो दूसरे में राजनीतिक दाँव-पेचों का पर्दाफ़ाश है। कथा का प्रवाह मैदान में बहते किसी गम्भीर नद के प्रवाह के समान धीरे और मन्द है। कह सकते हैं कि भारतीय जीवन की गङ्गा का अदम्य प्रवाह इस उपन्यास में है।

यशपाल की संस्कृत-निष्ठ शैली इस उपन्यास में पंजाबी के रङ्ग में गहरी डूबी है। पंजाबी का कुछ लहजा इस कथा में उनकी शैली ने अपनाया है, जो विशेष आकर्षक है। ताँगे वाले पुकारते है : "हट जा, तेरे बच्चे जीवें। पासे हो जा धिये। बीबिए, भैणे, ओ माई, बच जा।" बूढ़ी कहती हैं : "बल्ली", "सोहणी", "सुखी साँदी" आदि। तरुणियाँ कहती हैं : "जम-जम आओ ! सोहणयो, मोतियाँ वालयो, बादशाहो। सिर आँखों पर आओ !" फेरी वाले चिल्लाते हैं : "लै लो जी केले हरी छाल दे। मरूद अलाबादी, नार काबल कंधार दे जे।" "माइयो, बिब्बियो, भैणो, धिय्यो फलाँ वाला आ गया जे।"

यद्यपि इस उपन्यास में विस्तार और गहराई, जीवन की व्यापक झाँकी और उस के सूक्ष्म रूप, दोनों ही मिलते हैं, यद्यपि यह उपन्यास हमें आज के भारतीय जीवन का दिग्दर्शन कराता है, फिर भी इस विराट्, बृहद् कथा को पढ़ कर बन्द करने के बाद किसी समय समृद्ध पंजाबी जीवन की आज की अस्त-व्यस्तता और विशृंखलता ही भारी अवसाद बन कर पाठक की स्मृति में बैठ जाती है, और वह सोचता है, शायद विभाजन की वेदना का ऐसा 'एपिक' काव्य और किसी ने अभी तक नहीं लिखा है।

खग्रास

श्री० रामचन्द्र तिवारी

खग्रास ३४२ पृष्ठ का एक उपन्यास है। इसका आरम्भ राजनीति और विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली प्रमुख घटनाओं के सिंहावलोकन से होता है। सिंहावलोकन के अन्त में जिस विचार से यह खग्रास पाठक की भेंट किया गया है, वह है—"जिस गति से विश्व वर्तमान में आगे बढ़ रहा है उसे देखते हुए यही उचित है कि साहित्य में प्राविधिक और वैज्ञानिक पुट अधिक रखा जाये।"

सात नवम्बर १९५७ की संध्या को नई दिल्ली स्थित सोवियत दूतावास पर चन्द्रमा की यात्रा करके जोरोवस्की नामक रूसी उतरता है और अपनी सहायिका—प्रेमिका के साथ मोटर में अशोक होटल उड़ जाता है। इसके बाद भूभौतिक वर्ष पर चार पृष्ठ का लेख है और फिर एक अमेरिकन स्मिथ और एक हल्की-सी भारतीय रानी से भेंट होती है। जोरोवस्की अपनी चन्द्रयात्रा के अनुभव कहता है और दक्षिण ध्रुव प्रदेश की अन्वेषण-यात्रा पर जाता है। यह बात ग्रंथ के १०६ पृष्ठों तक चली गई है।

१०६ से ११७ तक संसार की राजनीतिक और वैज्ञानिक घटनाओं पर एक लेख है। आगे कुछ देशों के राजनेता और वैज्ञानिक रूस के स्पूतनिक से आतंकित वातावरण में बातें करते हैं। पाकिस्तान बगदाद संधि के देशों की बैठक में कश्मीर का प्रश्न उठाता है। अमेरिका में उपग्रह-निर्माण से सम्बन्धित सर्वोच्च वैज्ञानिक आपस में बोलते हुए १४० पृष्ठ तक पहुँच जाते हैं। १५४ तक फिर राजनीतिक घटनाओं की सूचना प्राप्त करके हम जोरोवस्की और लिजा के साथ दक्षिण ध्रुव प्रदेश में पहुँचते हैं और १८२ पृष्ठ तक वहीं रहते हैं।

अब २२५ पृष्ठ तक अमेरिका के कृत्रिम उपग्रहों और राकेटों के सम्पर्क में आते हैं। स्मिथ और भूदेव, जो एक भारतीय पत्रकार जान पड़ते हैं, के बीच भारत

लेखक : आचार्य चतुरसेन, प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मथुरा,
पृष्ठ संख्या : ३४२, मूल्य : छः रुपये।

की नीति के विषय में हल्की-सी बातचीत सुनते हैं। बर्लिन समस्या पर ५ पृष्ठ की टिप्पणी पढ़ते हैं और फिर उस गुप्त कमरे में पहुंचते हैं जिसमें भारत के डा० भाभा और रूस के प्रो० कुरशातोव परामर्श कर रहे हैं। यह परामर्श २५३ पर समाप्त हो जाता है।

अब पुस्तक का क्षेत्र अलमोड़ा के वन में पहुँचता है और पाँच नये व्यक्तियों से एक नई-सी कहानी चलती है। इनमें एक ओर हैं प्रो० दिलीप कुमार, उनकी पत्नी और तिवारी, जो विलायत से विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करके आये हैं, और दूसरी ओर हैं एक गूढ़ पुरुष, पापा, और उनकी बेटी प्रतिभा। पापा सोना बनाना और विलय होने की विद्या जानते हैं। उनकी अद्भुत प्रयोगशाला एक पहाड़ी के नीचे चट्टानों में है। कहानी की बातचीत के विषय हैं: चन्द्रमा, कीमियागरी, पाकिस्तान, जल-कृषि और शान्ति-दूत भारत। कहानी और पुस्तक का अन्त है—पापा का विलय और प्रतिभा-तिवारी विवाह।

पुस्तक को उपन्यास कहा गया है। उपन्यास साहित्य की एक प्रिय विधा है जिसका उपयोग मनोरंजन के साथ नाना विषयों की विवेचना के लिए किया जा सकता है। केवल सामाजिक और ऐतिहासिक ही नहीं, मनोवैज्ञानिक, जासूसी, तिलस्मी और विभिन्न स्तरों के वैज्ञानिक उपन्यास बहुत सफलतापूर्वक लिखे गये हैं। उपन्यास का क्षेत्र इतना व्यापक होते हुए भी उसकी परिधि और परिभाषा है। उपन्यास में अनिवार्यतः एक कथा होती है और उस कथा की रीढ़ होते हैं पात्र। कथा का विकास पात्रों के चरित्रचित्रण या जीवन-झांकियों द्वारा होता है। इस मोटी कसौटी पर खग्रास उपन्यास नहीं ठहरता।

यदि खग्रास उपन्यास नहीं है तो उसे साहित्य की किस विधा में वर्गीकृत किया जा सकता है? रेडियो द्वारा प्रसारण में विभिन्न विषयों का परिचय देने के लिए एक विधा उपयोग की जाती है जो रेडियो-रूपक या फ़ीचर कहलाती है। यह साधारण नाटक से इस बात में भिन्न होती है कि इसमें एक सूत्रधार होता है जो विषय के विभिन्न पार्श्वों की झांकियों को सम्बद्ध करता चलता है। ये झांकियाँ प्राय: छोटे-छोटे नाटकीय दृश्य होते हैं। जहाँ सामग्री दृश्य के रूप में नहीं बँध पाती वहाँ दो-तीन स्वर कुछ वाक्यों के द्वारा विषय के अन्य पहलू उपस्थित कर देते हैं। इस प्रकार सूत्रधार, पात्र और छुटपुट स्वरों की सहायता से फ़ीचर समन्वित होता है।

इस दृष्टि से खग्रास को एक विशाल फ़ीचर कहा जा सकता है। इसका विषय है—संसार की वर्तमान राजनीतिक और वैज्ञानिक परिस्थिति का विकास; सूत्रधार

है लेखक, तथा अन्य पात्र आवश्यकतानुसार आते-जाते हैं। दृश्य नाटकीय नहीं हैं, लम्बे या छोटे वार्तालाप हैं। कुछ पात्र कल्पित हैं, पर अधिकतर उपयोग किये गये स्वर संसार के सर्वोच्च वैज्ञानिक अधिकारियों और राजनेताओं के हैं।

पुस्तक में विशेषज्ञों का वार्तालाप अत्यन्त साधारण कोटि का है। जोरोवस्की पृष्ठ ८२ पर दिन रात होने का कारण बताते हुए कहता है कि "हमारी पृथ्वी निरन्तर पहले एक ओर सूर्य के चारों ओर घूमती है फिर दूसरी ओर। हमारा एक दिन २४ घण्टे का होता है क्योंकि पृथ्वी को सूर्य से अंधकार में और अंधकार से सूर्य के सामने लौटने में चौबीस घण्टे लगते हैं।" दिन रात होने का कारण एक सातवीं कक्षा का विद्यार्थी इससे अधिक स्पष्टता और शुद्धता के साथ बता सकता है। पृष्ठ २४८ पर डॉ० भाभा से कहलाया गया है कि "पन्द्रह को अठारह बिन्दुओं से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है समुद्र में उतने टन जल है।" तीसरी कक्षा का नन्हा विद्यार्थी भी जानता है कि बड़ी से बड़ी संख्या भी बिन्दु या शून्य से गुणित होकर शून्य बन जाती है। पुस्तक में आज के विज्ञान का विवरण है। आज हम ऐटम को परमाणु, मौलीक्यूल को अणु अथवा व्यूहाणु कहते हैं। परमाणुओं से अणुओं या व्यूहाणुओं का निर्माण होता है। परमाणु के आतंक और विवरण से पुस्तक ओत-प्रोत है। पर ये शब्द एक-दो स्थानों को छोड़कर कहीं भी शुद्ध अर्थ में उपयुक्त नहीं हुए हैं। पृष्ठ २८७ पर "एक परमाणु में निहित कोटि व्यूहाणुओं को जानने" की बात कही गई है। इसी प्रकार उपग्रह, ग्रह और तारा आदि शब्दों के वर्तमान अर्थों के निर्वाह का पूर्ण ध्यान नहीं रखा जा सका है। ब्रह्मांड में सभी पदार्थ विभिन्न मूलतत्त्वों से निर्मित हैं। पुस्तक के ८६ पृष्ठ पर गुप्त सोवियत वैज्ञानिक अभियानों में भाग लेने वाली लिजा पूछती है—"सम्भव है चन्द्रमा में कुछ ऐसे पदार्थ हों, जिन्हें मूलतत्त्वों में तोड़ा जा सकता है।" उत्तर में चन्द्रमा से लौटने वाला जोरोवस्की कहता है—"अवश्य ही ऐसी सम्भावना है।" ये वाक्य विज्ञान के प्रारम्भिक ज्ञान का अभाव सूचित करते हैं।

इस प्रकार के धुँधले वैज्ञानिक ज्ञान का वातावरण पुस्तक भर में छाया हुआ है। उसने पुस्तक को विकृत करके एक अप्रौढ़ रचना में परिवर्तित कर दिया है।

सुहाग के नूपुर

श्री० महेन्द्र चतुर्वेदी

'सुहाग के नूपुर' हिन्दी के यशस्वी कथाकार अमृतलाल नागर की नवीनतम औपन्यासिक कृति है। कथावस्तु का बीज लेखक ने प्रथम शताब्दी ई० के तमिल-महाकवि बौद्ध भिक्षु इलंगोवन की अमर काव्य-कृति 'शिलप्पदिकारम्' से ग्रहण किया है। उक्त महाकाव्य के शीर्षक का हिन्दी-पर्याय ही प्रस्तुत उपन्यास के नामकरण का आधार है।

'शिलप्पदिकारम्' की मूल कथावस्तु प्राचीन काल से ही देश के साहित्य में किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है। अतः सामान्य दृष्टि से देखें तो उसकी 'थीम'—लेखक के अपने शब्दों में—'घिसी-पिटी' ही है। कथा की इस पिष्टपेषितता के प्रति जागरूक होते हुए भी उसमें नये प्राण फूँकने के अदम्य विश्वास से प्रेरित होकर लेखक ने उसे ग्रहण किया है और अपने निर्माण-कौशल, प्रतिपादन-सौष्ठव तथा सहज मार्मिक मानवीय मनोभावनाओं के उद्घाटन की क्षमता के कारण उसे सशक्त मौलिक रचना की गरिमा से मंडित कर दिया है।

उपन्यास की आधार-भूमि दक्षिण भारत के प्राचीन व्यापार-केन्द्र कावेरी-पट्टणम् में है। लेखक ने एक प्रेम-त्रिकोण का निर्माण कर उसके कोण-बिन्दुओं का स्पर्श करते हुए एक बहिरंग वृत्त के रूप में तत्कालीन सामाजिक जीवन, कला तथा अन्तर्देशीय व्यापार को आधार बनाकर चलने वाले राजनीतिक संघर्षों, कुचक्रों एवं सांस्कृतिक जीवन की विकृतियों आदि की भी झाँकी प्रस्तुत कर दी है। प्रेम-त्रिकोण की सृष्टि के फलस्वरूप उपन्यास के मूल भाव के रूप में संघर्ष की परिव्याप्ति है। यह संघर्ष सुहाग के नूपुरों और नर्तकी के घुंघुरुओं का है, कुलवधू और नगरवधू का है। माधवी और कन्नगी के दो छोरों के बीच चेट्टिपुत्र कोवलन का द्विधाग्रस्त मन भटकता है। मूल प्रश्न है..."स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध सहज-स्वाभाविक

लेखक : अमृतलाल नागर।
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
मूल्य : ४.५० रु०, सामान्य संस्करण १.५० रु०।

होते हुए भी नगरवधू के लिए नाटक और कुलवधू के लिए एक चिन्त्य पहेली क्यों बन जाता है ?" इस संघर्ष का स्वरूप बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा कामायनी का मनु अपनी अतृप्त आकांक्षाओं के वशीभूत होकर करता है। वंजिपालिता माधवी समाज की उन परम्पराओं एवं रूढ़ मान्यताओं के प्रति विद्रोह की प्रतीक है जो अदृष्ट-लब्ध परिवेश के लिए निर्दोष व्यक्ति को दण्डित करती है। समाज के कठोर नियम उसे सती होने पर भी सती का गौरव प्राप्त नहीं होने देते। उसके जीवन की यह एकमात्र साध जब अपूर्ण रह जाती है तो उसके भीतर की वह विद्रोह-ज्वाला फूट पड़ती है जिसमें वह सारे समाज को जला डालना चाहती है। किन्तु उसमें भस्म होते हैं स्वयं उसका नारीत्व तथा प्रेम। उसके स्वतन्त्रता-प्रिय मन के आवेश को उसकी पोषिका मा पेरियनायकी का धनलिप्सु और दासी-संस्कारों से युक्त हृदय कभी नहीं पहचान पाता। उसके आवेगमय हृदय की व्यथा को अगर कोई पहचानती है तो उसकी नृत्य-गुरु चेलम्मा। अपने जीवन भर के कड़ुवे-मीठे अनुभवों का सार-तत्त्व वह माधवी के मार्ग-दर्शन के लिए एक ही वाक्य में प्रस्तुत कर देती है :"धूप-सी तपो...पर जाड़े की धूप-सी जो सबके लिए सुहानी होती है।...जीवन भर क्वार की धूप-सी तपकर ही मैं अब इस भेद को पहचान पाई हूँ।" किन्तु माधवी अपने अहं पर कभी विजय नहीं पा सकी...यद्यपि समाज की प्रतिकूल परिस्थितियों के आघात से वह निरन्तर विगलित होता जाता है। हिमालय-सा अजेय उसका अहं प्रतिक्षण हिमालय की भाँति ही गलता रहता है...यही दुःखद प्रक्रिया उपन्यास में आद्यन्त व्याप्त है। ज्यों-ज्यों सुहाग के नूपुर पाने की उसकी अतृप्त लालसा प्रखरतर होती जाती है त्यों-त्यों प्रतिक्रियास्वरूप उसके व्यक्तित्व के सती एवं वेश्या-रूपों का संघर्ष तीव्रतर होता जाता है। 'अपने हठ की बन्द गली में घिरी हुई सारे समाज से जूझती हुई माधवी के नारीत्व एवं मातृत्व के अधिकार पाने के संघर्ष की यह गाथा अन्त में, प्राचीन महाकवि की आदर्श-भावना की प्रेरणा से, राजपुरुष की इस दृप्त विजय-घोषणा में पर्यवसित हो जाती है : 'सुहाग के नूपुरों की महत्त्वाकांक्षा से इसके नृत्य के घुँघरू अब कभी न बौरायेंगे।'

माधवी समाज के अन्याय से प्रताड़िता वंचिता नारी की प्रतीक है—उसमें लेखक की यथार्थ भावना मूर्तिमती हुई है। दूसरी ओर कन्नगी में महाकवि की आदर्श-भावना की प्रतिष्ठा हुई है। उसकी मूक समर्पण-तत्परता ऐसा दृढ़ कवच है जिससे टकरा कर कोवलन का उद्धत अहंकार और माधवी की सारी कुचक्र-शक्ति चूर-चूर हो जाती है। पति-सुख की साधना में वह अपना सब-कुछ उत्सर्ग कर देती है किन्तु एक स्थान ऐसा है जहाँ पर वह अडिग रहती है। अपने पत्नीत्व के अधिकारों के प्रतीक सुहाग के नूपुरों को वह पति की आज्ञा से भी समर्पित नहीं करती। उसका मूल्य-बोध सर्वथा निर्भ्रान्त और स्पष्ट है। जिन नूपुरों के लिए वह निरन्तर पति के विरुद्ध संघर्ष करती है, उन्हें पति की प्रतिष्ठा बचाने के लिए विक्रय करने को

वह तुरन्त तैयार हो जाती है क्योंकि 'ये नूपुर आपकी प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं, विलास के नहीं।' उसकी क्षमाशीलता तथा निरभिमान आचरण के सम्मुख कोवलन का मन काँप उठता है। उसके व्यक्तित्व की महिमा प्रति पग पर कोवलन को अपनी लघुता का बोध करा जाती है। वह जब भी उसे अपदार्थ समझकर तिरस्कार करना चाहता है, तभी उसे स्वयं अपनी हीनता का बोध होता है और कन्नगी हर कसौटी पर कसे जाने के बाद ऊपर उठ जाती है। उसकी शान्त दृढ़ता अजेय-सी लगती है। अपने इस हीनता-बोध के कारण ही कोवलन उससे दूर भागता है—अपने दर्प के बावजूद वह उसे अपने से बड़ा मानता है और इसीलिए उससे एक जगह घृणा भी करता है।

कोवलन पुरुष के सहज चंचल रूप-लिप्सु एवं द्विधाग्रस्त मन का प्रतीक है! स्त्री के दो रूप आरम्भ से ही उसके सम्मुख उभरते हैं। कन्नगी की ओर वह आकृष्ट अवश्य है किन्तु कन्नगी के प्रति उसके मन में जो भाव है वह त्रासयुक्त आदर का है। कन्नगी दासी की भाँति सेवा करते हुए भी अपने दृढ़-शान्त और सुलझे हुए व्यक्तित्व के कारण उस पर मूक अनुशासन करती है—उसके उन्मुक्त विहार के पंख स्वतः निष्क्रिय हो जाते हैं। किन्तु भोजन और भोग ही में जिसका जीवन-दर्शन है और मदिरा ही जिसके जीवन की यथार्थ सिद्धि है, वह अधिक समय तक इस स्थिति को सहन नहीं कर सकता। माधवी उसकी मित्र अधिक है—वह उसे रिझाती भी है, ललचाती भी है। कोवलन की कमज़ोरियों और शक्तियों को जितनी अच्छी तरह वह समझती है, कन्नगी नहीं समझ पाती। स्त्री के इन मायायुक्त और मायारहित दोनों रूपों में से पुरुष की सहज दुर्बलता के कारण मायावी रूप के प्रति ही उसका मन अधिक झुकता है। अहं की घुटन में धीरे-धीरे उसकी तेजोमयी चेतना तिरोहित होती चली जाती है। उसकी मर्यादा-भावना, उसके संस्कारों का देवता धीरे-धीरे मरता चला जाता है। और पतन की चरम स्थिति पर पहुँच कर जब वह उठता है तो उसे एकमात्र सहारा कन्नगी की निष्ठा का ही मिलता है।

'सुहाग के नूपुर' के आकर्षण का मूल केन्द्र उक्त संघर्ष ही है। पुरुष और नारी-मन के विविध पक्षों को उभारने का सफल प्रयत्न करते हुए लेखक ने प्राचीन महाकवि की उदात्त-भावना का आदर करके कन्नगी-कोवलन सम्मिलन में उपन्यास का अन्त किया है। महाकवि का सन्देश पांड्य महाराज के शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है : 'द्विविधा में बँधी हुई स्त्री कभी किसी भी पुरुष को बल नहीं दे सकती।' वस्तुतः माधवी की प्रबुद्ध अधिकार-चेतना ही उसके व्यक्तित्व की सजीवता का आधार है। लेखक ने पाठक की पूरी सहानुभूति उसके प्रति जगायी है। माधवी की नारी-सुलभ लालसा के प्रति तथा उसके चरित्र की परिस्थितिजन्य विकृतियों के प्रति पाठक सदय रहता है और माधवी के इस वक्तव्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिए विवश हो जाता है कि : 'पुरुष जाति के स्वार्थ और दम्भभरी मूर्खता से ही सारे

पापों का उदय होता है। उसके स्वार्थ के कारण ही उसका अर्धांग—नारी जाति पीड़ित है। एकांकी दृष्टिकोण से सोचने के कारण ही पुरुष न तो स्त्री को सती बनाकर ही सुखी कर सका और न वेश्या बनाकर ही। इसी कारण वह स्वयं भी झकोले खाता है और खाता रहेगा।'

'सुहाग के नूपुर' को मैं प्रभावात्मकता और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से एक सफल रचना मानता हूँ। उसके लघु कलेवर तथा सीमित परिस्थिति-विधान में ही नारी-पुरुष-सम्बन्धों के विविध पक्षों का लेखक ने बड़े कौशल से उद्घाटन किया है। गौण पात्रों में चेलम्मा और सेठ मानाइहन विशेष आकर्षक और सजीव हैं। शैलीकार के रूप में नागर जी की महत्ता आज के सक्रिय हिन्दी उपन्यासकारों में किसी से भी कम नहीं। उपन्यास के अनेक वर्णन लेखक की कवित्व-शक्ति के साक्षी हैं—कदाचित् उसका कुछ श्रेय मूल काव्य के वर्णन-सौन्दर्यों को भी हो। 'सुहाग के नूपुर' की भाषा में प्रवाह और कान्ति का सुन्दर सामंजस्य है। प्रस्तुत उपन्यास 'बूंद और समुद्र' जैसे बृहत्-सफल उपन्यास के लेखक की भी गरिमा-वृद्धि करता है।

अजय की डायरी

श्री० मन्मथनाथ गुप्त

यह उपन्यास वर्तमान युग के हमारे मध्यम वर्ग का काफी सच्चा चित्र है। लेखक स्वयं विश्वविद्यालय के वातावरण में हैं, इसलिए यह उपयुक्त ही है कि उन्होंने उस वातावरण के इर्द-गिर्द उपन्यास का ताना-बाना प्रस्तुत किया है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जो चित्रण किया है वह वास्तविक है और किसी भी हालत में काल्पनिक तो है ही नहीं। विश्वविद्यालय में अत्यन्त उच्च शिक्षित लोग होते हैं, कम-से-कम उसके अध्यापकों में तो उच्च शिक्षितों का ही बोल-बाला होता है। फिर भी उसका वातावरण बहुत ही गन्दा चित्रित किया गया है।

हद तो यह है कि लेखक ने यह दिखलाया है कि 'पी' नामक एक व्यक्ति, जिसका काम ही है हर तरह की बेईमानी करना, छात्राओं को भ्रष्ट करना, तरह-तरह के गठबन्धन और अनुचित कार्य करना, वह पुस्तक के अन्त तक विश्वविद्यालय का वाइस चांसलर बन जाता है। स्मरण रहे कि यह तब हुआ जब कि वाइस-चांसलर का चुनाव लोकतान्त्रिक ढंग से होता है और सो भी अत्यन्त उच्च शिक्षित लोगों के मतदान से। इस प्रकार शायद न चाहते हुए भी और शायद लेखक की ग़ैर-जानकारी में यह उपन्यास शिक्षा और गणतन्त्र पर ज़बर्दस्त आक्रमण बन गया है। यह तो स्पष्ट है कि जिन्हें हम उच्च शिक्षित कहते और समझते हैं, वे अपनी शिक्षा का उपयोग केवल स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर रहे हैं, न कि जनकल्याण के लिए जैसी उनसे कदाचित् आशा की जाती है। दोष शिक्षा का है या लोकतन्त्र का ?

विश्वविद्यालय के वातावरण का थोड़ा-सा नमूना निगम नामक एक पात्र के शब्दों में इस प्रकार प्राप्त होता है :—

'मिस भाटिया थर्ड क्लास एम० ए० हैं, हाल ही में उनका पी-एच. डी. का प्रबन्ध विश्वविद्यालय में भेजा गया है। पिछले दो वर्षों में किसी छात्र को एम. ए. में इसलिए प्रथम श्रेणी नहीं दी गई कि कहीं कोई मिस भाटिया के प्रतिपक्ष में

लेखक : डॉ० देवराज, प्रकाशक : राजपाल एण्ड संस, दिल्ली-६,
पृष्ठ संख्या : ३३४, मूल्य : पांच रुपए।

न खड़ा हो जाए। थीसिस दाखिल होते-होते मिस भाटिया की नियुक्ति हो गई।' विश्वविद्यालय के बाहर भी इसी तरह गन्दगी है। राजनीति में और सर्वत्र।

उपन्यास की कहानी इतनी सी है कि अजय किसी प्रकार विश्वविद्यालय में एक अध्यापक का स्थान पाता है। उसका ब्याह शीला नामक पढ़ी-लिखी लड़की से हुआ है, जिसे साड़ियों की अधिक फिक्र है और जो इसलिए दुःखी है कि उसकी बहनों के जहाँ-जहाँ ब्याह हुए हैं, वहाँ मोटर हैं, जब कि अजय के पास मोटर नहीं है।

पहले पति-पत्नी में प्रेम था, पर जब अजय देखता है कि शीला बिल्कुल दूसरे ही संसार में रहती है और उसके शोध आदि में कोई दिलचस्पी नहीं लेती, तो वह उसके प्रति उदासीन हो जाता है। इतने में कार्यवश अजय की कश्मीर-यात्रा का कार्यक्रम बनता है, जिसमें उसका हेम से परिचय होता है। कुछ घनिष्ठता बनती है। साथियों की आँख बचाकर चुम्बन का यदा-कदा आदान-प्रदान हो जाता है। कश्मीर के सौन्दर्य से लेखक को इस प्रकार प्रेम कराने में आसानी होती है। लेखक ने कश्मीर और जम्मू-यात्रा का ब्यौरेवार वर्णन किया है। इस प्रकार कथा की कमी खूब छिप गई है।

कश्मीर यात्रा से अजय के लौटने पर उसकी पत्नी शीला को कई कारणों से यह सन्देह हो जाता है कि हो न हो अजय का किसी सहयात्रिणी से प्रेम हो गया है। वह अजय से पूछती रहती है, और एक दिन अजय आवेश में आकर सच्ची बात बता देता है और कहता है कि हेम से मेरा प्रेम हो गया है। इस पर शीला, जो बहुत उच्च शिक्षित है, उच्च आदर्शों में पली है, तुमार बाँधती है और अजय का जीवन बिल्कुल असम्भव कर देती है। वह हर समय ताने देती है, यहाँ तक कि वह अजय की एक बाँधवी के द्वारा से हेम को गालियाँ भी दिलवाती है। उधर हेम को यह मालूम हो जाता है कि अजय ने इस प्रकार सारी बात बता दी है। अजय इस समय तक समझ चुका है कि उसने ग़लती की है। पर अब तो ग़लती हो चुकी है।

इतने में अजय को अमरीका जाने की एक छात्रवृत्ति मिलती है। वह उच्च शिक्षा के लिए वहाँ जाता है और उसे वहाँ तरह-तरह के अनुभव होते हैं। लेखक ने इस यात्रा का लाभ उठाकर अमरीका की सारी सभ्यता पर अपना वक्तव्य पेश कर दिया है। डेटिंग के सम्बन्ध में लेखक ने जो तथ्य तथा मन्तव्य दिये हैं वे बहुत ही दिलचस्प इस कारण हैं कि लेखक का कुछ मत ऐसा ज्ञान होता है कि भारत में भी डेटिंग ऐसी कोई प्रथा होती तो शायद यहाँ विवाह की नींव पुख्ता होती। पर लेखक शायद यह भूल गया कि हमारे यहाँ वैदिक युग में शमन नाम की जो प्रथा थी वह डेटिंग से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। लेखक ने जगह-जगह पर अपने पात्र को अमरीका-भ्रमण कराते सयय रूस आदि पर प्रतिकूल मंतव्य किया है जो शायद लेखक के मत को प्रतिफलित करता है। हम यहाँ उस पर कुछ न कहेंगे।

अजय के अमेरिका से लौट आने के पहले ही हेम का विवाह हो चुका है और इधर अजय को घर आते ही शीला से नहीं बल्कि अन्य साधनों से ज्ञात होता है कि शीला हाल ही में गर्भ गिरवा चुकी है। शीला कैफियत देना चाहती है, अजय सुनता नहीं है। लेखक ने इस प्रकार एक आधुनिक, शिक्षित किन्तु उलझन में पड़ी भारतीय नारी का चित्र खींचा है, जो बहुत साहसी है। अजय हेम के नाम एक पत्र लिखता है जिसे भेजने का कोई जरिया नहीं है, पर वह पत्र में यह आशा व्यक्त करता है कि कभी यह पत्र जरूर पहुँचेगा और इसी पर उपन्यास समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार यह उपन्यास हमारे वर्तमान शिक्षित समाज पर बहुत ही गम्भीर टिप्पणी है। हमारा शिक्षित वर्ग और केवल शिक्षित ही क्यों, उच्च शिक्षित वर्ग किधर जा रहा है? क्या अजय, शीला, हेम, सब के चरित्रों से यह दृष्टिगोचर नहीं होता कि शिक्षा किसी भी रूप में हमारे जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने में असमर्थ है। एक तरफ 'पी' ऐसे आदमी हैं जो विश्वविद्यालय की राजनीति में, और एक हद तक देश की राजनीति में बड़ा भारी स्थान बना लेते हैं, पर हैं वे बहुत ही गिरे हुए। दूसरी तरफ, अजय, शीला, हेम आदि उच्च शिक्षित पुरुष तथा स्त्रियाँ है जिनमें और तो और पारिवारिक क्षेत्र में भी किसी बात को करने का साहस नहीं है, यहाँ तक कि उन बातों को कार्यान्वित करने का भी साहस नहीं जिनकी सच्चाई के सम्बन्ध में उनको पक्का विश्वास है। अजय शीला के सामने तो डींग मारता है कि मैं हेम से प्रेम करता हूँ, पर वह शीला को छोड़कर हेम से शादी करने के लिए आगे नहीं बढ़ता और पलायनवाद के रूप में अमरीका जाना अपनाता है। हेम भी इस प्रकार कोई साहस नहीं दिखाती और वह इस बीच एक ऐसे व्यक्ति से शादी कर लेती है जिससे वह प्रेम नहीं करती। शीला का भी चरित्र यह है कि वह जानती है कि उसका पति उससे प्रेम नहीं करता, फिर भी वह उसके घर में बनी रहती है और वह शैलेन्द्र से अवैध प्रेम करती है और फिर जब गर्भ रह जाता है तो उसे गिरवा देती है। फिर कैफ़ियत देना चाहती है। अजय नहीं सुनता फिर भी वह कोई साहसी कदम नहीं उठाती। शैलेन्द्र तो भाग ही गया।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उपन्यास हमारे समाज का एक अच्छा-खासा चित्र पेश करता है। पात्रों में होने वाली बातचीन बौद्धिक दृष्टि से बहुत उच्चस्तरीय है, पर जैसा कि हम देख चुके हैं, पात्रों की बातचीत की उच्च-स्तरीयता केवल दृश्यमान है उससे उनकी आत्मा की दीनता और स्पष्ट हो जाती है। पुस्तक हमारे शिक्षित समाज पर एक चाबुक है और जो पाठक इसे ध्यान देकर पढ़ेगा वह आत्म-चिन्तन करने के लिए बाध्य होगा। इससे बढ़कर सफलता एक उपन्यासकार के लिए और क्या हो सकती है?

भाग्यवती

श्री० सत्यपाल चुघ

श्री श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' की रचना हिन्दी साहित्य के प्राय: स्वीकृत प्रथम उपन्यास 'परीक्षागुरु' से पाँच वर्ष पूर्व संवत् १९७७ में हुई। यदि 'भाग्यवती' को उपन्यास मान लिया जाए तो इस रचना को हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना जा सकता है। 'भाग्यवती' के नए सम्पादक विजयशंकर मल्ल ने इस के 'परिचय' के निष्कर्ष-रूप में घोषणा की है कि "यह उपन्यास निर्विवाद रूप से हिन्दी का पहला आधुनिक उपन्यास प्रमाणित होता है"। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों—रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'भाग्यवती' का एक उपन्यास के रूप में उल्लेख ही किया है किन्तु हिन्दी उपन्यास-साहित्य में इसकी प्राथमिकता के सम्बन्ध में ये विद्वान भी मूक रहे हैं। कृष्णशंकर शुक्ल ने 'भाग्यवती' को मात्र 'पुस्तक' कहा है, और स्वयं लेखक ने 'कल्पित कहानी'। अतएव यहाँ इसकी औपन्यासिकता को निश्चित करने के लिए शिल्प-विधान का परीक्षण अपेक्षित है।

श्रद्धाराम की तरह श्रीनिवासदास ने भी 'परीक्षागुरु' को 'उपन्यास' नहीं कहा। फिर भी 'परीक्षागुरु' की भूमिका के निम्न उद्धरण से ही यह आभासित होता है कि वह किसी नई साहित्य-विधा का श्रीगणेश कर रहे थे—"अब तक नागरी और उर्दू भाषा में अनेक तरह की अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं, परन्तु मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गई। इसलिए अपनी भाषा में ये नई चाल की पुस्तक होगी"। उस 'नई चाल' से तात्पर्य उस नूतन शिल्प-विधि से है जो उपन्यास को अन्य विधाओं से पृथक् करती है। श्रीनिवासदास ने नए शिल्प का कुछ स्पष्टीकरण भूमिका में किया है और रचना में शिल्प-सजगता दिखाई भी है। अंग्रेजी-उपन्यासों से प्रभावित शिल्प देखकर ही शुक्ल जी ने इसे अंग्रेजी ढंग का प्रथम मौलिक उपन्यास माना है। इस मत से यह व्यंजित होता है कि शुक्ल जी इससे पूर्वलिखित 'भाग्य-

---

लेखक : श्रद्धाराम फिल्लारी।
प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।
मूल्य : एक रुपया।

वती' को भारतीय ढंग का पहला उपन्यास मानते हैं ।[1]

'भाग्यवती' में 'परीक्षा गुरु' की-सी कोई 'नई चाल' नहीं मिलती । यही नहीं, किसी अन्य शिल्प-कौशल की योजना भी नहीं हुई । यह एक प्रचार-प्रधान सामाजिक लघु-रचना है । यह नारी शिक्षा के उद्देश्य से लिखी गई है । लेखक के अनुसार "बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूँ कि जिसके पढ़ने से भारतखण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो, क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी लिखी होती हैं, परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश-विदेश की बोल-चाल और अन्य लोगों से बरत व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती ।...."[2] इस प्रचारण-शिक्षण के तत्त्व ने ही इस रचना का स्वरूप-निर्धारण किया है ।

'परीक्षा गुरु' के नाटकीय व्यंजनापूर्ण आरम्भ के विपरीत, 'भाग्यवती' का आरम्भ पुरातन विधि से पात्रों के अभिधात्मक आदि परिचय के साथ हुआ है— "काशी नगर में पंडित उमादत्त जी के घर में एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'लालमणि' और एक पुत्री हुई जिसका नाम 'भाग्यवती' रखा ।" आगे की पंक्तियों में लालमणि की सर्वगुणसम्पन्नता तथा प्रसिद्धि की चर्चा के साथ उसके विवाह का प्रसंग उठाया गया है । इससे अल्प आयु में विवाह की सामाजिक समस्या सामने आ जाती है और पति-पत्नी में विवाद होने लगता है । दीर्घ विचारात्मक संवादों में ऐसा वादविवाद कराया गया है कि अपने-अपने तर्कों की प्रमाण-पुष्टि में नारी-शिक्षा का महत्त्व, अल्पआयु विवाह, विवाहों में अपव्ययता, मध्यवर्गीय दिखावावृत्ति, रूढ़ि-विरोध विधवा-विवाह आदि समस्याओं को समेट लिया गया है । तदुपरान्त नारी-शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या-हेतु पति-पत्नी में भाग्यवती की शिक्षा के सम्बन्ध में नीरस प्रश्नोत्तर कराके भाग्यवती को सर्वगुणसम्पन्न बना दिया गया है । इस तरह रचना-आरम्भ में कहानी की नहीं शुष्क निबन्ध-तत्त्व की योजना हुई है, जिसमें उत्सुकता, कौतूहल आदि के तत्त्व का नाम नहीं । भाग्यवती के शिक्षा-प्रसंग के बीच काशीराज अपने दूत के द्वारा पण्डित जी को अपने दरबार में बुलाते हैं । यहाँ पाठक सोचता है कि शायद अब यह रचना कथा बनेगी । निस्सन्देह पाठक बनारसी ठगों की दो घटनाएँ सुनता भी है, किन्तु इनका भाग्यवती के चरित्र या कथा से कोई सम्बन्ध नहीं । वस्तुतः इनसे बाह्यारोपित रोचकता लाने का प्रयास किया गया है । सारांश में भाग्यवती के विवाह

१. श्री बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे ने भाग्यवती से भी पूर्व 'वामाशिक्षक' को भारतीय ढंग का प्रथम उपन्यास माना है । देखिए—हिन्दी गद्य के विविध साहित्यिक रूपों का उद्भव और विकास, पृ० १४७ ।

२. 'भाग्यवती' की भूमिका ।

पूर्व इस रचना के पहले चालीस पृष्ठों में कथा बन ही नहीं पाई और विभिन्न ंगों में सुधारोपदेश की ही चर्चा होती रही है। भाग्यवती के विवाह के बाद पति- ; में उसे अपनी जेठानी, ननद आदि के संगठित ईर्ष्याजनक विरोध का शिकार ना पड़ता है। यही विरोध सास-ससुर तथा पति को भी उसके विरुद्ध कर देता है। ी विरोध से कथा बनती है और तनिक उत्सुकता भी उद्‌बुद्ध होती है। होना तो ; चाहिए था कि इस विरोध का शमन रचना के अन्त में होता और पाठक की जिज्ञासा द्यन्त बनी रहती किन्तु लेखक तनिक भी कौशल प्रदर्शित नहीं कर सका। एक तो ; कथा में किसी रहस्य तत्त्व—तत्कालीन सामान्य विशेषता—की योजना नहीं कर का; जैसे, वह पाठकों को पहले ही स्पष्ट सूचित कर देता है—"अब भाग्यवती ने रे परिवार से अलग हो के जैसे अपनी बुद्धीबल से फिर सब पदार्थ एकट्ठे किए और पत से संपत में पहुँची वह सारा वृतान्त सुनने के योग्य है।"[1] दूसरे, उसने कुछ ही ठों में भाग्यवती को दरिद्र से सम्पन्न और ससुर, जेठानी, ननद आदि को छलछद्म- ा तरीकों से लुटवा कर कंगाल बना दिया; इतना कि वे भाग्यवती से पुनः मिलन लिए व्याकुल हो उठे। इस तरह लेखक ने मानो जादूमय करिश्मों से सत्-असत् ा को पुरस्कार-तिरस्कार-वितरण करा दिया। यह कर्मफल पर विश्वास की दर्शवादी प्रवृत्ति तत्कालीन सामान्य विशेषता है। हमारा विरोध इस प्रवृत्ति नहीं, इसको चरितार्थ करने के त्वराकुल कृत्रिम साधनों से है। भाग्यवती की गृह- न्ध के बाद कथा समाप्त हो जाती है। इस तरह कुल मिलाकर मूल कथा केवल ीस-चालीस पृष्ठों में है। यहाँ भी यह 'कथा' है, 'कथावस्तु' (प्लाट) नहीं। आगे घटना-प्रसंग शृंखलित नहीं और मिलकर कथा नहीं बनाते—ये जैसे भाग्यवती के भिन्न गुणों को दिखाने के पृथक्-पृथक् उदाहरण-मात्र हैं। (इसलिए 'भाग्यवती' रित्र-प्रधान उपन्यासों की चरित्रकथा भी नहीं बन पाई।) लेखक की यह शैली निम्न थन से स्पष्ट हो सकती है; वह लिखता है—"भाग्यवती के धैर्य और क्षमा आदिक ु कुछ अपने ही घर में नहीं थे, वरन् यदि कोई स्त्री-पुरुष भी इसके साथ लड़ना- लना चाहता था तो यह चुप हो रहा करती थी जैसा कि देखिए × × ×" और तब ; लड़ाकी का प्रसंग ले आता है। इसी तरह किसी अन्य प्रसंग की समाप्ति के बाद ा प्रसंग आरम्भ करने के हेतु कहा जाता है—"अब भाग्यवती की यह बात भी ाने के योग्य है कि उसके गुण विद्याचतुराई, धैर्य, सन्तोष से अधिक उसका मन ्वीर कैसा था"[3] और तब चोरों को पकड़ने का प्रसंग लाया जाता है। इन प्रसंगों बीच-बीच ज्ञानोपदेश की 'बातचीत'[4] से निबन्ध-तत्त्व का समावेश भी होता गया

---

१. 'भाग्यवती' पृष्ठ ६१।
२. वही, पृष्ठ ८२।
३. वही, ृष्ठ १२२।
४. जैसे हरिद्वार की यात्रा का कुछ मार्ग उद्देश्यपरक बातचीत करते हुए तय या गया है। 'भाग्यवती' पृष्ठ १०४।

है। यह विभिन्न स्वतन्त्र-प्रसंग—जिनमें कुछ रोचकता भी है—किसी पूर्व प्रसंग क विकास नहीं और न ही किसी कथा को पुष्ट करने की प्रासंगिक लघु-कथाएँ हैं अन्तिम आठ पृष्ठ शुद्ध विचारात्मक हो गए हैं। इस तरह रचनारम्भ की तरह रचनान्त में भी निबन्ध-तत्त्व है। वस्तुतः आद्यन्त चलने वाली किसी कथावस्तु क निर्माण ही नहीं हो सका। अतएव पाठकों की कौतूहल-वृत्ति के सजग रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। अधिकांश घटनाओं का स्वरूप भी एक-सा है—ये धोखेधड़ी या चोरी से सम्बन्धित हैं। रचनारम्भ में नारी-जीवन से सम्बन्धित जिन समस्याओं पर विचा किया गया है, ये घटनाएँ उनसे सम्बन्धित नहीं हैं। दूसरे, मानवीय भावनाओं क उद्वेलित करने वाले स्थलों की सृष्टि नहीं हो सकी, जिससे पाठकों की रमणवृत्ति भ असन्तुष्ट रह जाती है।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से इस रचना में एक ही मुख्य पात्र है और शेष गौण हैं। जैसा कि कृति के नाम से स्पष्ट है इसकी प्रमुख पात्र भाग्यवती है। भाग्यवती क सुशिक्षा, कर्मण्यता, निडरता तथा व्यवहार-कुशलता से दो-दो परिवारों का सुख होना दिखाया गया है। यहाँ इसके बने-बनाये चरित्र का उद्घाटन है, विकास नहीं—यह परिस्थिति-निरपेक्ष स्थिर पात्र है, गत्यात्मक नहीं। यह निष्कलंक पूर्णिमा का चन है—आद्यन्त उच्च गुणों से मण्डित तथा दोष-दुर्बलताओं से रहित। वस्तुतः भाग्यवती "भाग्यवती" ही है। उसकी विजय सर्वत्र निश्चित है। और इस रूप में वह देव है, अपने भाग्य से लड़ने वाली मानवी नहीं, केवल एक स्थान पर उसके तनिक विचलित होने का आभास मिलता है और तब भी 'गीता' के एक श्लोक के स्मरण मात्र से यह 'सोच-समुद्र' से उबरने में समर्थ हो जाती है।[1] जैसे इसके अन्तर का अंकन नहीं हुआ, वैसे ही इसके बाह्य रूप का चित्रण भी। भाग्यवती लेखक के ज्ञानोपदेश की अभिव्यक्ति का माध्यम तथा नारी के उच्चतम आदर्शों के निदर्शन का आधार है

लेखक के चरित्रवर्णन—'चित्रण' बहुत कम हुआ है—में ऐसी अतिरंजित अस्वाभाविकता है कि लेखक की मनमानी ही सर्वत्र दिखाई देती है। भाग्यवती साहित्य-शास्त्र, नायिका-भेद आदि के अध्ययनमात्र से ही कविता करने लगती है। रूमाल पर सूई से कढ़े कुण्डलिया छन्द को भेंट में पाकर राजा जी कहते हैं कि भाग्यवती "के समान काशी भर में दूसरी कोई नहीं होगी।"[2] लालमणी के विवाह का संदेश ऐसे कुल से आता है जो सारी काशी में विख्यात है।[3] भाग्यवती के ससुर पंडित

---

१. भाग्यवती, पृष्ठ ५८

२. भाग्यवती, पृष्ठ ३८

३. भाग्यवती, पृष्ठ २८

जगदीश जी सारी काशी में धनाढ्य हैं और उनका पुत्र मनोहरलाल काशी में अद्वितीय पंडित है।[1] ऐसे 'विख्यात' तथा 'अद्वितीय' पात्र, भाग्यवती के गुण-गौरव के लिए, जैसे एक साथ लुटते-बिगड़ते हैं, वे अनोखे करिश्मे हैं—अपनी-अपनी चरित्र-गत दुर्बलता के नहीं, लेखक की मनमर्ज़ी के। भाग्यवती का भाई कृति के आरम्भ में सर्वगुण-सम्पन्न वर्णित है, और अन्त में कुसंगति में पड़ जाने से बिगड़ा हुआ। इस कुसंगति का चित्रण नहीं, उल्लेख-मात्र है। इसका सुधार छोटी बहिन भाग्यवती के केवल उपदेशात्मक कथनों से करा लिया गया है। सारांश में यहाँ लेखक ही लेखक है, पात्र नहीं। उपन्यास का सम्बन्ध न तो कठपुतलियों से होता है, न देवी-देवताओं से, उसका सम्बन्ध स्पन्दित मानवों से है जो कि इस रचना में नहीं हैं।

यदि साहित्य-रचना के चरित्र की व्याख्या की जाए तो कहा जा सकता है कि चारित्रिकता व्यक्ति के विचारों में नहीं, क्रिया में है। किन्तु क्रिया-मात्र भी चरित्र-परिचायक नहीं, यदि वह संवेदित न हो। वेगवान् जल-प्रवाह के तिरते पत्ते में क्रिया-त्वरा नहीं, विवशता-जड़ता है। 'भाग्यवती' के गौण पात्रों के आचरण इसी पत्ते के तुल्य हैं, इसलिए वे जैसे पात्र ही नहीं हैं। भाग्यवती के घड़े-घड़ाए चरित्र की दृढ़ता भी अपनी नहीं, लेखक की है। इसकी आद्यन्त स्थिरता किन्हीं आस्था-संस्कारों के साथ-साथ चित्रित नहीं हुई, और इस रूप में यह लेखक के कठपुतलीवत् निर्देशन का स्वरूप बन गई है। रचनांत इसे और भी प्रमाणित कर देता है, भाग्यवती का चरित्र-गौरव तथा सफलता उसके कुकर्मों में है, किन्तु अपनी सास को मुक्ति का उपाय वह अपने निर्माणकर्ता लेखक के अनुसार ज्ञान, वैराग्य तथा ईश्वरीय प्रेम को बताती है, जो न तो इसके चरित्र से और न ही कृति के अन्तिम प्रभाव से व्यंजित होता है। इस तरह उद्देश्य की दृष्टि से भी यह रचना शृंखलित नहीं हो सकी।

तत्कालीन देश-काल की व्यंजना से इस काल्पनिक रचना में अवश्य ही वास्त-विकता की वृद्धि हुई है। नारी-शिक्षा तथा नारी-सम्बन्धी अन्य युगीन समस्याओं के अतिरिक्त, अंग्रेज़ी राज्य की प्रशंसा, पुलिस, अन्याय, रिश्वतखोरी तथा पाश्चात्य प्रभाव एवं सामाजिक सुधारों से उस संक्रमित जागरण युग का आभास मिल जाता है। इस देशकाल का सीधा कथन नहीं हुआ, पात्रों के वार्तालाप से इसका संकेत मिलता है।

यह रचना वर्णन-प्रधान है। वार्तालाप स्वल्प हैं और वह भी अपनी विशिष्टता के अभाव-दीर्घता के कारण प्रायः वर्णनात्मक हो गए हैं।

सुधारवादी लक्ष्यानुकूल इस रचना की अभिव्यक्तिक्षम 'सुगम हिन्दी भाषा' है।

---

१. भाग्यवती, पृष्ठ ३६

अन्त में इस रचना के शिल्प-विवेचन से यह कहा जा सकता है कि श्रद्धाराम जी ने 'भाग्यवती' की रचना उपन्यास-लेखन की सजगता से नहीं की थी, फिर भी संयोगवश, इसमें उपन्यास के बीज मिलते हैं, किन्तु इनका विकास नहीं हो सका। और यह रचना संस्कृत की नीतिकथा तथा तत्कालीन निबन्ध का मिला-जुला रूप बन कर रह गई है।

कथासरित्सागर

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

कथासरित्सागर संस्कृत साहित्य का सुप्रसिद्ध रोचक कथा ग्रंथ है। ग्यारहवीं शताब्दी में सोमदेव भट्ट ने इस ग्रंथ की रचना कश्मीर के राजा अनन्त की पत्नी रानी सूर्यमती के मनोविनोद के लिए की थी। वस्तुतः कथासरित्सागर गुणाढच और क्षेमेन्द्र के विख्यात 'बृहत्कथा' ग्रंथों की परम्परा का ही ग्रंथ है जिसमें क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा' को पल्लवित करने का प्रयत्न है। सोमदेव ने ग्रंथ के प्रारम्भ में स्वयं कहा है कि "मैंने मूलग्रंथ के समान ही अपना ग्रंथ तैयार किया है। कथा रस को अक्षुण्ण रखने के लिए मैंने काव्य-तत्त्व का समावेश भी यथोचित मात्रा में ही किया है। पांडित्य के यश के लोभ से प्रेरित होकर मैंने यह रचना नहीं की है। मेरा तो यही प्रमुख ध्येय रहा है कि अनेकानेक कथाओं का विशाल समूह सरलता से स्मृति-पटल पर अंकित रह सके।" इस कथन से स्पष्ट है कि सोमदेव ने बृहत्कथा के पल्लवन में अपनी प्रतिभा का प्रयोग एक सीमित मर्यादा के भीतर रह कर ही किया है। सोमदेव की विलक्षण कल्पना-शक्ति और कथा कहने की मनमोहक शैली के कारण इस ग्रंथ को कथा-जगत् का शिरोमणि ग्रंथ समझा जाता है। इस सुप्रसिद्ध ग्रंथ का हिन्दी रूपान्तर स्वर्गीय श्री केदारनाथ सारस्वत ने किया। प्रस्तुत संस्करण में संस्कृत का मूल पाठ बाएँ पृष्ठ पर, और उसके ठीक सामने दक्षिण पृष्ठ पर हिन्दी रूपान्तर अत्यन्त सरल, शुद्ध और सुष्ठु शैली में दिया गया है। इस प्रकाशन से हिन्दी-जगत् को कथा-क्षेत्र की मूर्धन्य कोटि की प्राचीन रचना का लाभ प्राप्त हो सकेगा।

कथासरित्सागर के हिन्दी-रूपान्तर के विषय में कुछ कहने से पहले हिन्दी-पाठक को ध्यान में रखकर मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि मूल कथासरित्सागर के महत्त्व, गौरव और स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ शब्द कह दूँ। ग्रंथ की प्रशस्ति के लिए नहीं वरन् हिन्दी-पाठक की सुविधा के लिए संस्कृत-ग्रंथ का सामान्य परिचय

मूल लेखक : सोमदेव भट्ट
अनुवादक : श्री केदारनाथ सारस्वत
प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
मूल्य : १०) रु०

इस समीक्षा में अप्रासंगिक नहीं समझा जायगा। यह परिचय मैं ग्रंथ की भूमिका के आधार पर ही प्रस्तुत कर रहा हूँ।

कथासरित्सागर संस्कृत का एक विशाल कथा-ग्रंथ है, जिसमें २१३८८ श्लोक हैं। ग्रंथ का विभाजन दो शैलियों से किया गया है। प्रथम विभाजन जो स्थूल कहा जा सकता है, लम्बकों में है, इसमें १८ लम्बक हैं। दूसरा विभाजन तरंगों में है, इसमें १२४ तरंग हैं। लम्बक शब्द का पैशाची रूप लम्भक है। यह विश्राम-स्थल के लिए प्रयुक्त किया गया है। लम्भक का अर्थ है प्राप्त करना अर्थात् एक विवाह द्वारा एक स्त्री की प्राप्ति लम्भ कहलाती थी और उसी की कथा के लिए लम्भक शब्द प्रयुक्त हुआ था। किन्तु एक लम्भक में अनेक कथाओं का जाल बिछा मिलेगा। कदली-दल के समान एक कथा का कलेवर विविध स्तरों में समाया रहता है और जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ती है उसके गुह्य स्तरों से नाना प्रकार की छोटी-बड़ी कथाएँ नदी-नालों की तरह निकलती जाती हैं। बृहत्कथा में लम्भक का आधार स्त्रियों की कथाएँ ही था। अतः सोमदेव ने भी इस शब्द का प्रयोग करना उचित समझा। सोमदेव ने कथासरित्सागर के प्रथम लम्बक के अष्टम तरंग में गुणाढच-कृत पैशाची भाषा में लिखी सात लाख छन्दों वाली कथा का उल्लेख किया है। गुणाढच एक शापग्रस्त शिवजी का गण था। यह कथा उसने काठभूति से सुनी थी। काठभूति को यह कथा पुष्पदन्त ने सुनाई थी। कथा सुनाने से काठभूति शाप मुक्त होकर पुनः यक्ष होकर चला गया। गुणाढच ने पार्वती के आदेशानुसार इस कथा को, पृथ्वी लोक पर प्रचार करने के लिए, अपने रक्त से अंकित कर लिया था। पृथ्वी लोक पर कथा के प्रचार की समस्या गुणाढच के सामने थी। वह एक ऐसे गुणी व्यक्ति की खोज में था जो इस महान् कथा का मर्म समझ इसे सम्मानपूर्वक ग्रहण करने का अधिकारी हो। उसके शिष्यों ने राजा सातवाहन का नाम बताया। शिष्यों द्वारा गुणाढच ने अपनी रचना राजा सातवाहन के पास भेजी, किन्तु उसने पिशाच भाषा में पिशाच शिष्यों द्वारा रक्त से लिखी कथा को देख कर घृणा का भाव व्यक्त किया और धिक्कारपूर्वक कथा को वापस कर दिया। शिष्यों द्वारा अपनी कथा का अपमान सुनकर गुणाढचको बहुत दुःख हुआ और उसने अग्निकुण्ड बना कर एक-एक पत्र पढ़ कर और पशु-पक्षियों को सुनाकर आग में जलाना शुरू किया। दोनों शिष्य आँखों में आँसू भरे हुए यह दृश्य देखते रहे। कथा के छः लाख श्लोक भस्म हो जाने पर जब एक लाख श्लोकों का नरवाहन-चरित शेष था, तब शिष्यों ने आग्रह किया कि इस अंश को अग्नि की भेंट न करें। गुणाढच ने अपने शिष्यों का अनुरोध मान लिया।

गुणाढ्य जिस समय कथा के एक पत्र को पढ़ रहा था, उस समय जंगल के समस्त पशु-पक्षी कुंड के चारों ओर एकत्र हो गए थे और आँसू बहाकर बड़े निश्चल

भाव से कथा सुनने में लीन थे। उन्हें अपने खाने-पीने की भी सुध नहीं रही थी। इसी बीच राजा सातवाहन बीमार हुआ और वैद्यों ने रोग का निदान करके बतलाया कि राजा को शुष्क माँस का भोजन करने से उदर विकार हुआ है। सूखा माँस पकाने वाले रसोइयों को बुलाया गया और विदित हुआ कि आजकल जंगल से जितना माँस बहेलिये लाते हैं वह सब सूखा ही होता है। बहेलियों ने बताया कि पहाड़ की चोटी पर एक ब्राह्मण अपनी कथा पुस्तक का एक-एक पृष्ठ पढ़कर अग्नि में जला रहा है। जंगल के समस्त पशु-दक्षी निराहार रहकर दिन रात उसकी कथा सुनने में लीन रहते हैं, कहीं चरने के लिए नहीं जाते, इसीलिए उनका माँस सूख गया है। राजा इस कुतूहलपूर्ण वृत्तान्त को सुनकर गुणाढ्य के पास गया। गुणाढ्य के चरणों में नत होकर राजा ने बृहत्कथा की प्रति उससे माँगी और अपने पहले अवज्ञापूर्ण व्यवहार के लिए क्षमा याचना की। गुणाढ्य ने कथा का अन्तिम भाग एक लाख श्लोकों का संग्रह राजा को दे दिया, शेष छह लाख तो वह पहले ही अग्निकुंड में जला चुका था। राजा सातवाहन ने गुणाढ्य के शिष्यों से उस कथा का देशभाषा में रूपान्तर कराया और समस्त देश मे उसका प्रचार किया। संक्षेप में यही बृहत्कथा की कहानी है।

'बृहत्कथा' की मनोरंजकता इसी से स्पष्ट है कि उसे मनुष्य ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों ने भी बड़ी तन्मयता से सुना था। उसका पल्लवन सोमदेव भट्ट ने बड़ी व्यापक शैली से कथासरित्सागर में किया है। बृहत्कथा के मूल स्रोत के संधान का प्रयत्न जर्मन विद्वान् आलसफोर्ड ने किया है। उन्होंने क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी तथा सोमदेव कृत कथासरित्सागर का बृहत्कथा के साथ तुलनात्क अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। कथा सरित्सागर का अंग्रेजी में सी० एच० टॉनी ने अनुवाद किया है। उसकी भूमिका में पैंजर ने सोमदेव के कथा शिल्प की बड़ी उदारता के साथ प्रशंसा की है। उनका कहना है कि 'जब हम इस ग्रन्थ को पढ़ते हैं तब इसकी कथाओं को देखकर मन आश्चर्य से भर जाता है। इसमें ईस्वी सन् से सैंकड़ों वर्ष पहले की जीव-जन्तुओं की कथाएँ हैं। द्युलोक और पृथ्वीलोक के निर्माण की ऋग्वेदकालीन कथाएँ हैं। मानवी प्रकृति का परिचय, भाषा-शैली की सरलता, वर्णन का सौन्दर्य और शक्ति एवं चातुर्य भरी उक्तियाँ इन सबकी रचना अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। कथासरित्सागर अलिफ लैला की कहानियों से प्राचीनतर ग्रंथ है और अलिफ लैला की अनेक कहानियों के मूल रूप इसमें हैं। इनके द्वारा न केवल ईरानी और तुर्की लेखकों को बल्कि बोकैशियों, चौसर, लाफौतेन एवं अन्य अनेक लेखकों के द्वारा पश्चिमी संसार को भी अनेक कल्पनाएँ प्राप्त हुई हैं। सोमदेव ने सोचा कि जैसे हिमालय से आई हुई अनेक धाराएँ आगे-पीछे बहती हुई समुद्र में पहुँच जाती हैं वैसे ही छोटी-बड़ी सभी कहानियाँ उनके इस महान् ग्रन्थ में एकत्र हो जाएँ और वह सच्चे अर्थ में कहानी रूपी नदियों का सागर बन जाए।'

प्रसिद्ध विद्वान् कीथ ने लिखा है कि "सोमदेव ने सरल और अकृत्रिम रहते हुए आकर्षक और सुन्दर रूप में ऐसी कथाओं को बड़ी भारी संख्या में उपस्थित किया है जो विभिन्न रूपों में मनोविनोदकारक अथवा भयानक, प्रेमसम्बन्धी अथवा जल और थल के विभिन्न रूपों के प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए आकर्षक अथवा बाल्यकाल की परिचित कहानियों का सा दृश्य उपस्थित करने वाले रूपों में हमारे लिए अत्यन्त रुचिकर हैं।"

कथासरित्सागर के हिन्दी अनुवाद का रूप अनुवादक ने बहुत सरल और प्रवाहपूर्ण रखा है। कथा-ग्रन्थ होने के कारण अनुवाद में प्रासादिकता के साथ गति-शीलता का निर्वाह सचमुच ही सफलता का प्रमाण पत्र है। संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्ति यदि केवल हिन्दी-भाग को ही पढ़ें तो वह भी बिना किसी रुकावट के कथा का रस लेता हुआ इसका आद्यन्त पाठ कर सकता है। अभी ग्रन्थ का एक तिहाई अर्थात् छह लम्बक ही अनूदित रूप में प्रकाशित हुए हैं। अगले दो भागों में यह ग्रन्थ पूर्ण होना है।

हिन्दी कथा-सरित्सागर की उपादेयता के विषय में एक बात कहे बिना यह समीक्षा अपूर्ण ही रहेगी। वह है इस ग्रन्थ के आदि में जुड़ी हुई भूमिका। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने कथासरित्सागर के महत्त्व का प्रामाणिक रूप से आकलन करने के लिए बहुत ही विद्वत्तापूर्ण विस्तृत भूमिका लिख कर हिन्दी पाठकों का बड़ा उपकार किया है। इस भूमिका को पढ़कर प्रत्येक पाठक का मन कथासरित्सागर में अवगाहन करने के लिए तैयार हो जाता है। मेरा विश्वास है कि इस भूमिका को पढ़ने के बाद कोई भी पाठक मूलग्रन्थ पढ़ने का लोभ संवरण न कर सकेगा।

साठ वर्ष – एक रेखांकन

श्री० नरेन्द्र शर्मा

'साठ वर्ष—एक रेखांकन' श्री सुमित्रानन्दन पन्त के चार आत्मपरिचयात्मक ललित निबन्धों का संग्रह है। निबन्धों में कवि ने अपने अन्तर्बाह्य विकास-पथ की रेखाओं को चित्रात्मक शब्दावली में अंकित किया है। वास्तव में यह निबन्ध कवि के जीवन-छन्द के चार चरणों के समान है। कवि के मानस और कृतियों को आत्मसात् करने के लिए इन निबन्धों का अध्ययन आवश्यक और अनिवार्य प्रतीत होता है।

पन्त जी के काव्य और जीवन के बीच घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध है। अपने काव्य के सम्बन्ध में पहले भी कवि ने विस्तार के साथ लिखा है। किन्तु इस निबन्ध-संग्रह में कवि ने अपने जीवन और काव्य को—मणि और प्रवालों को—अपने ही हाथों से एक माला में बाँध दिया है। इस कारण प्रस्तुत पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

पहले निबन्ध का शीर्षक है 'प्रकृति का अंचल'। इस निबन्ध में कवि ने सन् १६०७ से १६१८ तक के अपने जीवन-वृत्त और प्रारम्भिक काव्य की सुरम्य विकास-रेखाओं को अंकित किया है। निसर्ग-शोभा के मनोरम रंगों से रंजित होकर ये रेखाएँ सजीव रूप ग्रहण करती हुई उभरती हैं।

कूर्माचल की शोभास्थली कौसानी, कौसानी में कवि का घर, घर का आँगन, बूढ़ी दादी (माँ सरस्वती तो कवि के जन्म के सात घण्टे बाद ही चल बसी थीं), धर्मप्राण स्नेहशील पिता, ममतामय स्वजन-सम्बन्धी, प्रारम्भिक पाठ्यक्रम, प्राथमिक पाठशाला, पर्वत-प्रदेश का अपूर्व रूप और ध्वनि-वर्ण का रुचिर संसार, कवि का एकाकी बालक मन और उस मन में संग्रहीत भाव-प्रभाव पर पहले निबन्ध के पूर्वांश में प्रकाश डाला गया है। दूसरे अंश में दृश्यावली बदल जाती है। छोटे गाँव के

लेखक : श्री सुमित्रानन्दन पन्त
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन दिल्ली
मूल्य : ३)

सम्पन्न घर में पला हुआ किशोर कौसानी से अल्मोड़ा आता है। अल्मोड़ा शहर है। कौसानी में कवि आत्म-विभोर था। शहर में वह तुलनात्मक दृष्टि से बहुतों को देख कर, अपनी ओर और अपने आपे की ओर देखता है। वैयक्तिक वैशिष्ट्य और उसके प्रति आकांक्षा मन में पनपने लगती है। शृंगार-सज्जा और आत्माभिव्यक्ति की ओर वह उन्मुख होता है। अनेक के बीच एक बने रहने की साधना और संघर्ष का आरम्भ भी यहीं होता है। अपने स्वभाव और संस्कारों के अनुसार ही वह बाह्य प्रभावों को ग्रहण करता है।

वह भारत में नई चेतना के उदय और नवीन उन्नयन का काल था। स्वामी विवेकानन्द कवि के आदर्शवाद को जगाते हैं, स्वामी सत्यदेव उसे हिन्दी-प्रेम हृदयंगम कराते हैं और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य उसे काव्य-सृजन की ओर प्रेरित करते हैं।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त की पहली साहित्यिक कृति काव्य नहीं एक उपन्यास था। 'हार' शीर्षक यह उपन्यास कवि ने सोलह वर्ष की अवस्था में लिखा था और उसका प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की ओर से १९६० में हुआ है। 'हार' में कुछ पद्य-भाग भी है। गद्य काव्यमय है। लेखक आदर्शवादी, भावुक और कल्पनाप्रवण शिल्पी है। पद्य-शिल्प पर तब अधिक अधिकार न होने के कारण ही कदाचित् कवि उपन्यास-लेखन की ओर उन्मुख हुआ होगा। कुछ एक पद्य-रचनाएँ भी उस समय लिखी गई थीं, जो प्रायः स्थानीय समाचार-पत्रों के साथ लुप्त हो गईं। यह रचनाएँ कवि के उत्साह और काव्य के प्रति उसकी आकांक्षा का ही परिचय देती थीं।

इस काल-विभाग की कृतियों का इतना महत्त्व नहीं है, जितना महत्त्व है उस समय के भाव-प्रभावों का, अर्जित संस्कारों का।

दूसरा निबन्ध है, "विकास-सूत्र और अन्तःसंघर्ष"। इसका काल-विभाग १९१९-१९३० तक है। इसे 'पल्लव'-काल भी कहा जा सकता है। जिसे अब छायावाद का युग कहा जाता है, उसके इतिहास और विकास में पन्त जी के पल्लव-काल ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

अल्मोड़ा से कवि वाराणसी जाता है। छोटे शहर के बाद बड़ा शहर। वहाँ कवि अंग्रेज़ी और बंगला काव्य से परिचय बढ़ाता है। ब्रजभाषा काव्य, द्विवेदीयुगीन खड़ीबोली हिन्दी का काव्य और संस्कृत काव्य से कवि पहले ही परिचित था। काव्याकाश विशद से विशदतर प्रतीत होने लगता है। कवि का मानस अपने भावी कार्य के

अनुकूल बनने लगता है। वाराणसी में कवि का प्रवास उसके प्रारम्भिक विकास में अतिशय सहायक सिद्ध होता है। प्रयाग में वह विकास फूलने-फलने लगता है।

अध्ययन, अभ्यास और सृजन का यह स्वर्ण-युग था कवि के जीवन में। पारिवारिक जीवन में इस समय अनेक दुःखद घटनाएँ घटित हुईं। लाख का घर ख़ाक हुआ। भ्राता और पिता की मृत्यु हुई। कवि का स्वास्थ्य जर्जर हुआ। इस प्रकार इस काल-खण्ड के बीतते-बीतते कवि सम्पन्न और सुरक्षित घर की चारदीवारी और कल्पना के सौन्दर्यलोक में अन्तःसंघर्ष करता हुआ, बाह्य संघर्ष की दुनियाँ में आ गया।

'बाल विहंगिनी' के मधुर गायन से 'परिवर्त्तन' के तांडव-नर्त्तन तक, पल्लव युग का विस्तार बहुत बड़ा है। इसमें रंग रूप रेखाओं की अपूर्व छटा है। छन्दों में प्रवाह है, प्रवाह में स्वच्छन्दता है। सब कुछ नैसर्गिक और स्वाभाविक है। किन्तु 'परिवर्त्तन' में अन्तर्बाह्य-परिवर्त्तन के चिह्न परिलक्षित होने लगते हैं। 'परिवर्त्तन" पन्त जी के भावी अन्तर्कल्प की भूमिका है।

पुस्तक में तीसरा निबन्ध है "प्रभाव और बाह्य संघर्ष", और १९३१ से १९४४ तक, तेरह वर्षों का इसका काल-खण्ड है। यह छायावाद का उत्तरार्द्ध और प्रगतिवाद के विकास का युग है। पन्त जी इस युग में बाहरी दुनिया के संपर्क में आते हैं। काव्यानुशीलन के साथ-साथ वह मनन, चिन्तन और अध्ययन करते हैं। नयनाभिराम से मनोमय की ओर, और व्यक्ति से समाज की ओर वह अग्रसर होते हैं। शिल्प में संयम और अभिव्यक्ति में प्रसाद गुण का समावेश होता है। इस युग के पूर्वार्द्ध का प्रतिनिधित्व 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' को प्राप्त है, और इस युग के उत्तरार्द्ध को अभिव्यक्ति दी है 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' ने। मध्यबिन्दु 'युगान्त' है।

इस युग में लोकरंजन का आदर्श गांधी जी प्रस्तुत करते हैं और सामाजिक विश्लेषण और संगठन की दिशा मार्क्स दिखलाते हैं।

यह युग देश-विदेश में विशाल आन्दोलन का युग था। इस युग का अन्त होते-होते भीषण विश्वयुद्ध हुआ, और हमारे देश में "भारत छोड़ो" आन्दोलन छिड़ा। जिन भावों और आवेशों को इस युग ने जन्म दिया था, उनका अन्त भी इसी युग ने कर दिया। व्यक्ति और समाज और आदर्श और व्यवहार के बीच सामंजस्य स्थापित न हो सका। कट्टर व्यक्तिवाद और उग्र समाजवाद की टक्कर होने लगी। आदर्श साधनहीन हुआ और व्यवहार मात्र कार्यसाधक बन गया। समरसता और समवाय के अन्वेषक और साधक पन्त जी को यह युग जाते-जाते ख़ूब झकझोर गया। झकझोरे हुए सरल तरु को केवल चैतन्य मूल का सहारा था।

आगामी कालखण्ड (१९४५-१९५९) में कवि ने अन्तर्हित मूल चैतन्य का आसरा लिया, और इस प्रकार पन्त जी के काव्य में चेतनावाद का विकास हुआ। पुस्तक के अन्तिम और चौथे निबन्ध का विषय यही चेतनावाद है। उसका सार्थक शीर्षक है 'नव मानवता का स्वप्न'।

मध्य युग के विधि-निषेध और श्रेय-हेय को पन्त जी ने सदैव व्यवधानबद्ध और विषादमूलक माना है। अधुना की सूत्रहीन संकरता और शिखाहीन आत्मतत्परता को भी वह स्वीकार नहीं करते। खण्ड मनुज को वह उसके अखण्ड रूप में ही प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। वह संघर्षों में शान्ति और घन अन्धकार में क्रान्ति के गायक रहे हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द के दर्शन के ज्योति-बीज पन्त जी के अन्तर में सदा से ही विद्यमान रहे हैं। अनुकूल समय और उपयुक्त अवसर आने पर पन्त जी श्री अरविन्द दर्शन को सम्यक् रूप में अपना सके।

प्रस्तुत चार निबन्धों में भावुक, विचारक और काव्य-साधक श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने आठवें वर्ष से साठवें वर्ष तक की अन्तर्बाह्य जीवन-झाँकी को सुन्दर शब्दचित्रों में रेखांकित किया है। ये चारों निबन्ध आकाशवाणी से प्रसारित किये गए थे और राजकमल द्वारा प्रकाशित पुस्तक रूप में उपलब्ध हैं। उन्हें पढ़कर ही इनका महत्त्व जाना जा सकता है। यह पाठक को आनन्द भी देंगे और उनका ज्ञानवर्द्धन भी करेंगे।

पहले ही कहा जा चुका है कि पन्त जी का व्यक्तित्व सरल वृक्ष के समान है। मूल और शिखर की दिशाओं में पन्त जी के व्यक्तित्व का विकास लगभग सीधी रेखाओं में हुआ है। बहुविध विविध सूत्री प्रवृत्तियों से परिचालित व्यक्तित्व और जीवन के चित्र यहाँ नहीं मिलेंगे। इन चित्रों में हमें भूगर्भ फोड़ कर निकले हुए, वान गाव के चित्रों की थर्राहट नहीं खोजनी चाहिए और न रैम्ब्रेण्ट के चित्रों की गहरी वर्णसघनता। इनमें हमें भारतीय पहाड़ी शैली के चित्रों का स्वच्छ शारदीय वातावरण मिलेगा।

"साठ वर्ष—एक रेखांकन" पन्त जी के कवित्वपूर्ण शब्दचित्रों की चित्रशाला है, आत्मपरिचायक चार निबन्धों का संग्रह है, सुचारु रूप से लिखा हुआ चारु पाठ है। इस संग्रह में पन्त जी की 'वाणी' में संग्रहीत कविता 'आत्मिका' और 'पल्लव', 'आधुनिक कवि', 'उत्तरा' तथा 'चिदम्बरा' की भूमिकाओं का सार है। इस संग्रह में कवि का अपना अन्तर्बाह्य संसार है। इसमें कवि का आशय-अभिप्रेत है और वह सार्थक संकेत है, जिसकी सहायता से हम कवि के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने में सफल हो सकते हैं। यह उपयोगी पुस्तक सुमुद्रित, सचित्र और आकर्षक है।

अनुकूल बनने लगता है। वाराणसी में कवि का प्रवास उसके प्रारम्भिक विकास में अतिशय सहायक सिद्ध होता है। प्रयाग में वह विकास फूलने-फलने लगता है।

अध्ययन, अभ्यास और सृजन का यह स्वर्ण-युग था कवि के जीवन में। पारिवारिक जीवन में इस समय अनेक दुःखद घटनाएँ घटित हुईं। लाख का घर खाक हुआ। भ्राता और पिता की मृत्यु हुई। कवि का स्वास्थ्य जर्जर हुआ। इस प्रकार इस काल-खण्ड के बीतते-बीतते कवि सम्पन्न और सुरक्षित घर की चारदीवारी और कल्पना के सौन्दर्यलोक में अन्तःसंघर्ष करता हुआ, बाह्य संघर्ष की दुनियाँ में आ गया।

'बाल विहंगिनी' के मधुर गायन से 'परिवर्त्तन' के तांडव-नर्त्तन तक, पल्लव युग का विस्तार बहुत बड़ा है। इसमें रंग रूप रेखाओं की अपूर्व छटा है। छन्दों में प्रवाह है, प्रवाह में स्वच्छन्दता है। सब कुछ नैसर्गिक और स्वाभाविक है। किन्तु 'परिवर्त्तन' में अन्तर्बाह्य-परिवर्त्तन के चिह्न परिलक्षित होने लगते हैं। 'परिवर्त्तन" पन्त जी के भावी अन्तर्कल्प की भूमिका है।

पुस्तक में तीसरा निबन्ध है "प्रभाव और बाह्य संघर्ष", और १९३१ से १९४४ तक, तेरह वर्षों का इसका काल-खण्ड है। यह छायावाद का उत्तरार्द्ध और प्रगतिवाद के विकास का युग है। पन्त जी इस युग में बाहरी दुनिया के संपर्क में आते हैं। काव्यानुशीलन के साथ-साथ वह मनन, चिन्तन और अध्ययन करते हैं। नयनाभिराम से मनोमय की ओर, और व्यक्ति से समाज की ओर वह अग्रसर होते हैं। शिल्प में संयम और अभिव्यक्ति में प्रसाद गुण का समावेश होता है। इस युग के पूर्वार्द्ध का प्रतिनिधित्व 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' को प्राप्त है, और इस युग के उत्तरार्द्ध को अभिव्यक्ति दी है 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' ने। मध्यबिन्दु 'युगान्त' है।

इस युग में लोकरंजन का आदर्श गांधी जी प्रस्तुत करते हैं और सामाजिक विश्लेषण और संगठन की दिशा मार्क्स दिखलाते हैं।

यह युग देश-विदेश में विशाल आन्दोलन का युग था। इस युग का अन्त होते-होते भीषण विश्वयुद्ध हुआ, और हमारे देश में "भारत छोड़ो" आन्दोलन छिड़ा। जिन भावों और आवेशों को इस युग ने जन्म दिया था, उनका अन्त भी इसी युग ने कर दिया। व्यक्ति और समाज और आदर्श और व्यवहार के बीच सामंजस्य स्थापित न हो सका। कट्टर व्यक्तिवाद और उग्र समाजवाद की टक्कर होने लगी। आदर्श साधनहीन हुआ और व्यवहार मात्र कार्यसाधक बन गया। समरसता और समवाय के अन्वेषक और साधक पन्त जी को यह युग जाते-जाते ख़ूब झकझोर गया। झकझोरे हुए सरल तरु को केवल चैतन्य मूल का सहारा था।

आगामी कालखण्ड (१९४५-१९५९) में कवि ने अन्तर्हित मूल चैतन्य का आसरा लिया, और इस प्रकार पन्त जी के काव्य में चेतनावाद का विकास हुआ। पुस्तक के अन्तिम और चौथे निबन्ध का विषय यही चेतनावाद है। उसका सार्थक शीर्षक है 'नव मानवता का स्वप्न'।

मध्य युग के विधि-निषेध और श्रेय-हेय को पन्त जी ने सदैव व्यवधानवद्ध और विषादमूलक माना है। अधुना की सूत्रहीन संकरता और शिखाहीन आत्मतत्परता को भी वह स्वीकार नहीं करते। खण्ड मनुज को वह उसके अखण्ड रूप में ही प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। वह संघर्षों में शान्ति और घन अन्धकार में क्रान्ति के गायक रहे हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द के दर्शन के ज्योति-बीज पन्त जी के अन्तर में सदा से ही विद्यमान रहे हैं। अनुकूल समय और उपयुक्त अवसर आने पर पन्त जी श्री अरविन्द दर्शन को सम्यक् रूप में अपना सके।

प्रस्तुत चार निबन्धों में भावुक, विचारक और काव्य-साधक श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने आठवें वर्ष से साठवें वर्ष तक की अन्तर्बाह्य जीवन-झाँकी को सुन्दर शब्दचित्रों में रेखांकित किया है। ये चारों निबन्ध आकाशवाणी से प्रसारित किये गए थे और राजकमल द्वारा प्रकाशित पुस्तक रूप में उपलब्ध हैं। उन्हें पढ़कर ही इनका महत्त्व जाना जा सकता है। यह पाठक को आनन्द भी देंगे और उनका ज्ञानवर्द्धन भी करेंगे।

पहले ही कहा जा चुका है कि पन्त जी का व्यक्तित्व सरल वृक्ष के समान है। मूल और शिखर की दिशाओं में पन्त जी के व्यक्तित्व का विकास लगभग सीधी रेखाओं में हुआ है। बहुविध विविध सूत्री प्रवृत्तियों से परिचालित व्यक्तित्व और जीवन के चित्र यहाँ नहीं मिलेंगे। इन चित्रों में हमें भूगर्भ फोड़ कर निकले हुए, वान गाव के चित्रों की थर्राहट नहीं खोजनी चाहिए और न रैम्ब्रेण्ट के चित्रों की गहरी वर्णसघनता। इनमें हमें भारतीय पहाड़ी शैली के चित्रों का स्वच्छ शारदीय वातावरण मिलेगा।

"साठ वर्ष—एक रेखांकन" पन्त जी के कवित्वपूर्ण शब्दचित्रों की चित्रशाला है, आत्मपरिचायक चार निबन्धों का संग्रह है, सुचारु रूप से लिखा हुआ चारु पाठ है। इस संग्रह में पन्त जी की 'वाणी' में संग्रहीत कविता 'आत्मिका' और 'पल्लव', 'आधुनिक कवि', 'उत्तरा' तथा 'चिदम्बरा' की भूमिकाओं का सार है। इस संग्रह में कवि का अपना अन्तर्बाह्य संसार है। इसमें कवि का आशय-अभिप्रेत है और वह सार्थक संकेत है, जिसकी सहायता से हम कवि के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने में सफल हो सकते हैं। यह उपयोगी पुस्तक सुमुद्रित, सचित्र और आकर्षक है।

आत्मनेपद्

डॉ० रघुवंश

हमारे सामने 'अज्ञेय' की नवीन कृति 'आत्मनेपद' है। वैसे तो यह पुस्तक 'अज्ञेय' के अपने व्यक्तित्व, अपने कृतित्व, अपने विचार-विश्वास के बारे में कहे गये या लिखे गये वक्तव्यों, लेखों, निबन्धों तथा प्रश्नोत्तरों का संकलन है, पर अभिव्यक्ति की एकसूत्रता और उद्देश्य की एकरूपता के कारण इसको एक रचनात्मक कृति के रूप में देखना संगत ही नहीं अनिवार्य है। हिन्दी साहित्य में यह एक नया प्रयोग है, यहाँ प्रयोग का अर्थ किसी उपलब्धि की दिशा के रूप में ही समझना चाहिए। 'अज्ञेय' निरन्तर प्रयोग और अन्वेषण के विश्वासी हैं। वह इस कृति में विचारों के माध्यम से भाव-बोध के स्तर पर प्रतिपादित हुआ है। लेखक ने स्वीकार किया है कि यह "सारी पुस्तक ही अपने विषय में है—अपने व्यक्तित्व के, अपने जीवनानुभव के, अपनी रचना की प्रवृत्तियों के, अपने विश्वास के, और उन सूक्ष्म तत्त्वों के जिन्हें लेखक अपने कर्म के बुनियादी मूल्य या प्रतिमान मानता है—जिनकी सूक्ष्मता ही उनकी गहराई को सूचित करती है।" परन्तु अपनी इस 'अत्यन्त आत्मचेतन (सेल्फ कांशस) रचना' में वह इस प्रकार निरभिमान, मुक्त, निश्चिन्त आत्मविश्वास के साथ अपने आपको व्यक्त कर सका है, जो बड़ी बात है। साथ ही इस कृति में लेखक अपने 'मैं' को जिस असम्पृक्ति से 'यह' बना सका है, उससे इसे मात्र चिन्तन, विवेचन, तर्कना की अपेक्षा सर्जन कहना अधिक सत्य है।

परन्तु इससे भी महत्त्व की बात है कि 'आत्मनेपद' में लेखक की आत्मचेतना अहंलीन न होकर विसर्जित है। ऐसे भी आलोचक हो सकते हैं जो इस पुस्तक में लेखक की अहम्मन्यता, आत्मप्रशंसा या आत्मविज्ञापन के सूत्रों को खोज निकालें, पर जो साहित्य को सीधे अर्थों में ग्रहण करते हैं, वे यह तो देख सकेंगे ही कि यह लेखक की दृष्टि नहीं है, वरन् यह भी पहचान सकेंगे कि रचना के रूप में इसमें साहित्य का गहन दायित्व भी व्यंजित हुआ है। आत्माभिव्यक्ति या सर्जनात्मक प्रक्रिया को

लेखक : सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'
प्रकाशक : भारती ज्ञानपीठ, वाराणसी।
मूल्य : ४)

प्रस्तुत करने के प्रयास में साहित्य, कला अथवा जीवन के जिन मूल्यों की स्थापना या व्याख्या इसमें की गई है, वे भी इस प्रकार नहीं कि आरोपित हों। यह सब अपने आप को कहने में, अपनी रचनाओं को लेकर कहने में आ गया है। लेखन ने अपने को, अपने दृष्टिकोण, विचार, आदर्श तथा भावनाओं को स्पष्ट करना चाहा है, पर यह स्पष्टीकरण नहीं है। वह अपना विश्वास व्यक्त करता है, पर आग्रह नहीं करता। वह अपनी रचनाओं की वकालत नहीं करता, केवल अपने और अपनी रचनाओं के सामंजस्य के संवेदन-बिन्दु की व्याख्या करता है।

अज्ञेय ने अपनी इस कृति में अपने आपको उसी सीमा तक स्वीकार किया है, जहाँ तक उनके साहित्यिक कृतित्व से उनके अपने व्यक्तित्व का सम्बन्ध है। इस प्रकार विचारों, भावनाओं, रुचियों, धारणाओं, कल्पनाओं तथा आदर्शों को जिस स्तर पर यहाँ प्रस्तुत किया गया है उसमें एक ओर उनके साहित्य के विषय में अन्त-र्दृष्टि मिलती है, तो दूसरी ओर यह सारा उपक्रम अपने आप सर्जनात्मक है। अज्ञेय ने तार्किक की भांति अपनी बात को प्रतिपादित करने की अपेक्षा व्यंजित ही अधिक किया है। लेखक अपने आपको प्रस्तुत करने में इस बात की सतर्कता बरतता है कि केवल उसका वही अंश व्यक्त हो जो कृतिकार है या जितना उसकी कृतियों में व्यक्त होता है, पर इस इतने अंश को उसने पूरी निर्भीकता तथा अकृत्रिम भाव से प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि यह विवेचन अथवा प्रतिपादन न होकर सर्जन ही लगता है जिसमें लेखक ने अपनी रचना-प्रक्रिया को पुनर्गठित किया है।

अज्ञेय अपनी दृष्टि में तथा अपने मनोभाव से आधुनिक हैं। जितनी स्पष्टता से और बल के साथ उन्होंने अपने मत को प्रस्तुत किया है या प्रतिपादित किया है, उसी विश्वास के साथ वह दूसरों को अपने मत रखने की स्वाधीनता भी स्वीकार करते हैं। और इससे बड़ी बात है कि उनके मन में अपने विचारों के प्रति मोह नहीं है, इसी कारण उनका आग्रह भी नहीं है। अज्ञेय अपने आपको साधारण नागरिक के अतिरिक्त यदि कुछ मानते या मानना चाहते हैं तो कृतिकार, पर यह कृतिकार होना उनके लिए उनकी अपनी प्रकृति की सहज अभिव्यक्ति है, इसके प्रति भी उनके मन में न कोई मोह है और न आग्रह ही। अपने आपको महत्त्व दिए बिना भी दायित्व के प्रति पूर्ण सजग रहना आधुनिकता है, क्योंकि आज से पहले हर दायित्व अपने निर्वाह के पहले महिमामंडित हो जाता था।

काव्य तथा साहित्य के बारे में इस पुस्तक में अज्ञेय ने जो कुछ कहा है वह उनके अपने काव्य तथा साहित्य को समझने में सहायक होगा; साथ ही इससे आधुनिक दृष्टि का स्पष्टीकरण भी हो सकेगा। काव्य के संदर्भ में लिखे गये निबन्धों में उनकी काव्य-दृष्टि के अनेक परिप्रेक्ष्य उभर सके हैं। अज्ञेय के अनुसार 'आधुनिक

कविता न केवल दृश्य यानी दृश्यगम्य है, न केवल श्रव्य यानी श्रव्यगम्य है। उसका प्रयास है कि वह सीधी-सीधी बोधगम्य हो। वह सीधी चेतना को छूना चाहती है, इसलिए निरे शब्दों के निरे अर्थ से आगे जाकर वह ध्वनियों और अन्तर्ध्वनियों, स्वरों और अन्तःस्वरों से उलझती है, और संवादी और विवादी स्वरों को लेकर अन्वेषण करती है।' उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि काव्य उनके लिए किसी अन्य उद्देश्य के लिए साधन मात्र नहीं है, वह अपने आप में सिद्धि है, उपलब्धि है। इस प्रकार उनके अनुसार कविता उपयोग करने की वस्तु नहीं है, क्योंकि उपयोग करना चाहने से वह उपयोगी नहीं होती—'मैं मानता हूँ वह तब उपयोगी होती है जब मैं स्वयं उपयोगी हूँ; उसमें जीवन की पूर्णता तब है जब मैंने पूर्ण जीवन के प्रति अपने को समर्पित किया है।' (प्रवृत्ति : अहं का विलयन)।

अज्ञेय ने अपने इसी निबन्ध में आधुनिक कविता की, व्यक्तित्व तथा व्यक्तित्व के अहं की प्रखरतर अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति से अपने को अलग माना है। उन्होंने कविता को अहं के विलयन का साधन माना है, वह भी इस कारण कि कवि को अपने युग की सीमा को स्वीकार करना होता है। वैसे उन्होंने प्राचीन कवियों के आदर्श को माना है जिनके लिए कविता स्वस्थ व्यक्ति की आनन्द-साधना थी। इसी प्रकार अज्ञेय ने प्रयोग को वैशिष्ट्य के लिए नहीं स्वीकार किया है, उनके अनुसार 'जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाय—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।' कविता की आधुनिक दृष्टि के बारे में अज्ञेय से किंचित् मतभेद रखकर भी इस प्रकार की व्याख्याओं से उनके व्यक्तित्व तथा कवित्व को समझने में आसानी होती है।

आज के नये साहित्य की दृष्टि है कि यद्यपि साहित्य का उद्देश्य साहित्येतर नहीं है फिर भी उसमें समग्र जीवन की अन्तर्व्याप्ति है। यही कारण है कि इस पुस्तक के केन्द्र में साहित्य और लेखक के व्यक्तित्व के होने पर भी उसकी परिधि में जीवन के व्यापक प्रश्न और समस्याएँ आ गयी हैं। अज्ञेय जिस प्रकार व्यक्ति को प्रधान मान कर उसके विकास को समाज-निरपेक्ष नहीं मानते हैं, उसी प्रकार साहित्य के दायित्व को लेखक का अपना दायित्व मानकर भी वह इसको सामाजिक दायित्व से विच्छिन्न नहीं मानते। अर्थात् जिन मूल्यों की उपलब्धि लेखक अपनी रचना-प्रक्रिया में करता है, वे अन्ततः समाज और व्यक्ति के सहज और स्वस्थ सम्बन्ध पर आधारित मूल्यों से भिन्न नहीं हो सकते। इसी कारण अज्ञेय अपने को प्रमुखतः तथा मूलतः लेखक-कवि मानकर कवि-कर्म के दायित्व को अपने लिए प्रथम मानते हैं। फिर भी अपने इस दायित्व में वह अपने सामाजिक नागरिक दायित्व को निहित स्वीकार करते हैं।

'आत्मनेपद' में केन्द्र बिन्दु स्वयं लेखक है, पर यहाँ यह स्पष्ट समझना चाहिए

कि यह व्यक्ति कृतिकार का है मात्र व्यक्ति का नहीं। लेखक के व्यक्तित्व के साथ जो सामाजिक व्यक्ति आ जाता है वह इसी कारण कि अज्ञेय की दृष्टि में लेखक के दोनों व्यक्तित्व इतने निरपेक्ष नहीं हो सकते। इस पुस्तक में साहित्य और कला सम्बन्धी मूल्यों के अतिरिक्त जीवन के जिन व्यापक मूल्यों की चर्चा की गई है उनकी चर्चा का स्तर और दृष्टि सदा साहित्यकार की रही है। यही कारण है कि सारा चिन्तन, मनन तथा तर्क लगता है जैसे लेखक की व्यापक सर्जन-प्रक्रिया के अंग के रूप में उपस्थित हों।

जो अज्ञेय की कृतियों से तथा उनके विचारों से परिचित हैं उनके लिए इस पुस्तक की बातें, स्थापनाओं अथवा मूल्यों की विवेचना के रूप में, नयी नहीं हैं। पर लेखक के व्यक्तित्व के साक्षात्कार के कुछ ऐसे क्षण, स्तर, तथा आयाम इस कृति में प्रस्तुत हैं कि इनके माध्यम से उन्हीं की संवेदना सरल ही नहीं, कहीं-कहीं गहन भी हो जाती है। उदाहरण के लिए अज्ञेय ने प्रयोग तथा प्रेषणीयता के प्रश्न को, उपलब्धि के क्षण के साक्षात्कार को, कवि के आत्यन्तिक दायित्व के प्रश्न को, अन्य अवसरों पर भी विवेचित किया है और अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति रूप में इनको संप्रेषित करने का प्रयत्न भी किया है। पर यहाँ इन्हीं सत्यों को अपने व्यक्तित्व के उद्घाटन के माध्यम से अत्यन्त सीधे और इसी कारण प्रभावशील ढंग से कहा गया है। इसी प्रकार स्वातन्त्र्य तथा विवेक जैसे मूल्यों को अज्ञेय के साहित्य में अन्यत्र भी अभिव्यक्ति मिली है या यों कहा जाय कि इन्हीं की उपलब्धि को उन्होंने अपनी सर्जन-प्रक्रिया माना है। पर यहाँ जिन संदर्भों में इनका विवेचन हुआ है, इनको स्वीकृति मिली है, उससे सहज बोध और आत्मीयता के स्तर पर इनकी दीप्ति बढ़ी है।

यहाँ इसको रचनात्मक कृति विशेष दृष्टि से कहा गया है। प्रारम्भ में कहा गया है कि यह प्रयोग है। यह स्वयं में उसी सीमा तक कृति है, जिस सीमा तक यह कृतिकार के समग्र व्यक्तित्व के उन तत्वों को उद्घाटित करने में सफल है जिनसे उसका सारा साहित्य परिव्याप्त है। इस कारण यह लेखक के सारे साहित्य की एकसूत्रता है, उनसे अलग स्वतन्त्र कृति नहीं। यही इसकी विशेषता है और यही इसकी सफलता भी।

एक अन्य स्तर पर भी 'आत्मनेपद' पर विचार किया जा सकता है। अज्ञेय और उनका साहित्य दोनों ही हिन्दी साहित्य में विवाद के विषय रहे हैं। उनके साहित्य से अधिक उन पर भी आक्रमण हुए हैं। उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुकूल कभी कोई प्रतिवाद नहीं किया। उनके मौन स्वभाव के कारण अनेक बार निष्पक्ष भाव के लोगों में उनके प्रति कौतूहल जागा हो, उनका व्यक्तित्व कभी रहस्य लगा

हो, उनके चरित्र में कहीं विसंगति लगी हो तो आश्चर्य नहीं। और यह लेखक ने भी माना है जो स्थिति समझना चाहते हों उनकी सहानुभूति की अवहेलना उसके मन में कभी नहीं रही। इस पुस्तक की इस दृष्टि को स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है—'कुछ वर्षों से लगता रहा है कि यह कुतूहल, (जिसे आज भी कुछ अच्छा या स्वस्थ या उचित नहीं मानता हूँ), और अशमित कुतूहल से अनेक प्रकार के तनाव, एक दीवार-से मुझे उनसे अलग करते रहे हैं जिन्हीं के लिए आखिर मैं लिखता हूँ।' और यही नहीं लेखक ने अपने व्यक्तित्व का इस इस स्थिति में उद्घाटन अपने कृति-कर्म के लिए भी आवश्यक माना है—'उसका दबाव कृतिकार के व्यक्तित्व के भीतर भी पहुँचता है और कृति-कर्म में बाधक बनता है।' इस पुस्तक में अनायास ही ऐसे सूत्र बिखरे पड़े हैं और कहीं कहीं प्रश्नोत्तर के रूप में सीधे समाधान भी हैं जिनसे ऐसे लोगों के मन में लेखक का वास्तविक व्यक्तित्व उद्घाटित हो सकेगा। यहाँ ऐसे लोगों का प्रश्न नहीं है जो किन्हीं निश्चित पूर्वग्रहों से ऐसा करते हैं या करते रहे हैं। साहित्य के व्यापक संदर्भ में यह भी महत्त्व की बात है।

अनुसंधान की प्रक्रिया

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

जिस समय स्व० सर आशुतोष मुखर्जी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के उच्चस्तरीय पठन-पाठन की व्यवस्था की थी, उस समय से अब तक भारतवर्ष के लगभग बाईस विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य के एम० ए० स्तर तक के वैज्ञानिक अध्ययन की एक विशिष्ट परम्परा स्थापित हो गई है। इस परम्परा के स्थापित करने में डॉ० श्यामसुन्दर दास जैसे विद्वानों को अथक परिश्रम करना पड़ा था। साथ ही नागरी प्रचारिणी सभा तथा अन्य संस्थाओं द्वारा साहित्य-सम्बन्धी मूल सामग्री की खोज और उसे एक स्थान पर सुरक्षित रखने के निरन्तर प्रयास से यह कार्य अधिक सरलता और तीव्रता के साथ सम्पन्न किया जा सका। मूल साम्गी के उपलब्ध हो जाने के पश्चात् उसके वैज्ञानिक संकलन, सम्पादन और प्रकाशन की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। हिन्दी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की इस सुदीर्घ परम्परा में विभिन्न विश्वविद्यालयों और आचार्यों का विशेष योग रहा है। इस प्रारम्भिक कार्य के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् अनुसंधान कार्य की ओर बढ़ना अनिवार्य ही था। अनेक अनुसन्धाताओं के अनवरत परिश्रम और उनकी लगन के फलस्वरूप पिछले लगभग पच्चीस वर्षों में हिन्दी साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में भी यथेष्ट प्रगति हुई है। इस दृष्टि से विभिन्न विश्वविद्यालयों ने जो कार्य किया है, वह निस्सन्देह श्लाघनीय है। काशी, प्रयाग, लखनऊ, आगरा, सागर, दिल्ली, पंजाब तथा अन्य विश्वविद्यालयों में जो अनुसन्धान-कार्य अब तक हो चुका है और हो रहा है उससे हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों, कवियों एवं लेखकों, प्रवृत्तियों, दार्शनिक परम्पराओं, शास्त्रीय एवं व्यावहारिक पक्षों आदि के अध्ययन की एक रूपरेखा हम लोगों के सामने आई है और एक वैज्ञानिक अध्ययन-प्रणाली निर्धारित हुई है। हिन्दी साहित्य की यह प्रगति हम सब लोगों के लिए सन्तोष का विषय है। किन्तु अब एक ऐसी स्थिति आ गई थी कि पिछले वर्षों में किए गए कार्य का लेखा-जोखा होता,

---

सम्पादक : डॉ० सावित्री सिन्हा और डॉ० विजयेन्द्र स्नातक।

हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के निमित्त नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण, जून, १९६० ई०। मूल्य, पाँच रुपए। पृ० सं०, १८७।

उसके बिखरे हुए रूप को समेटने की कोशिश की जाती, निर्देशकों और अनुसंधाताओं की कार्य-प्रणाली को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया जाता और विभिन्न विश्वविद्यालयों में किये गए कार्य का विधिवत् नियोजन किया जाता। हर्ष की बात है कि १९५२ में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० नगेन्द्र ने हिन्दीवाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य के प्रकाशन के उद्देश्य से हिन्दी अनुसंधान परिषद् की स्थापना की। १९५९ में आयोजित हिन्दी-अनुसन्धान-गोष्ठी के तत्त्वावधान में दिये गए अभिभाषणों में अनुसन्धान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों के विवेचन का अवसर प्रदान करने का श्रेय भी डॉ० नगेन्द्र को है। परिषद् द्वारा 'अनुसन्धान का स्वरूप' और 'हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध' शीर्षक दो ग्रन्थ पहले प्रकाशित हो चुके थे। 'अनुसन्धान की प्रक्रिया' उस माला का तीसरा और अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है।

'अनुसन्धान की प्रक्रिया' में डॉ० हरवंशलाल शर्मा ('हिन्दी अनुसन्धान की प्रगति'—१), डॉ० सत्येन्द्र('हिन्दी अनुसन्धान की प्रगति'—२) ,डॉ० नगेन्द्र('अनुसंधान और आलोचना'), डॉ० दीनदयालु गुप्त ('हिन्दी साहित्यिक अनुसन्धान के प्रकार') आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ('विषय-निर्वाचन'—१), डॉ० भगीरथ मिश्र ('विषय-निर्वाचन'—२), डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ('शोध-सामग्री'), डॉ० माताप्रसाद गुप्त ('पाठानुसन्धान'), डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ('भाषावैज्ञानिक अनुसन्धान'), डॉ० ए० चन्द्रशेखर ('भारत में भाषावैज्ञानिक अध्ययन'), डॉ० ताराचन्द ('इतिहास और साहित्य'), और डॉ० राजबली पांडेय ('अनुसन्धान की प्रक्रिया और प्रविधि') के अभिभाषण हैं। सभी वक्ता अपने-अपने विषयों के अधिकृत विद्वान् हैं और उन्होंने अनुसन्धान के विविध प्रकार-भेद, प्रविधि-प्रगति आदि का तात्त्विक विवेचन अत्यन्त स्पष्ट शैली में किया है। अनुसन्धान की दृष्टि से निस्सन्देह विवेच्य विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रत्येक आचार्य-निर्देशक और अनुसन्धाता को उनका अध्ययन करना वांछनीय है। इन अभिभाषणों के अध्ययन और अपने अनुभव के प्रकाश में उन्हें अनेक ऐसी बातें ज्ञात होंगी जिनसे उनका कार्य अधिकाधिक सरल होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि अनुसन्धान-कार्य के निर्देशक और अनुसन्धाता ही दो प्रधान स्तम्भ हैं। दोनों ही के लिए पहले दो भाषण हिन्दी में किए गए अनुसन्धान-कार्य के ऐतिहासिक विवरण की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। पहले और दूसरे भाषणों में स्वीकृत शोध-प्रबन्धों के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ हैं, किन्तु वे पूर्ण नहीं कही जा सकतीं। शेष अभिभाषणों का अध्ययन निर्देशक और अनुसन्धाता के विभिन्न व्यावहारिक पक्षों से सम्बन्धित है। अनुसन्धान-कार्य प्रारम्भ कराने और करने से पूर्व जिन मूलभूत तत्त्वों पर दृष्टि रखना आवश्यक है उन पर विद्वानों के विचारों पर ध्यान रखना आवश्यक है। डॉ० नगेन्द्र के भाषण में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या पर विचार किया गया है। वह समस्या है अनुसन्धान और आलोचना का परस्पर

सम्बन्ध । अनुसन्धान में कोरा तथ्य-संग्रह ही नहीं रहता—यद्यपि यह भी उसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। कुछ शोध-प्रबन्धों के तो विषय ही ऐसे होते हैं जिनमें तथ्यानुसन्धान ही प्रमुख होता है । सामान्य अर्थ में आलोचना से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता । किन्तु अनुसन्धान और आलोचना का परस्पर सम्बन्ध तो होता ही है । बिना आलोचनात्मक बुद्धि के तो अनुसन्धाता का कार्य सम्पन्न हो ही नहीं सकता । इसलिए विचारणीय यह है कि यह सम्बन्ध कहाँ तक और कितना है । यह सर्वमान्य है कि अनुसन्धान के फलस्वरूप या तो नवीन सामग्री सामने आनी चाहिए या उसमें किसी ज्ञात विषय का सुसम्बद्ध प्रणाली में तथा मौलिकता एवं नवीनता लिए हुए तटस्थता के साथ प्रतिपादन होना चाहिए । ये दो ही उसके प्रदान उद्देश्य हैं। अन्य उद्देश्य आनुषंगिक हैं और इन्हीं दो उद्देश्यों के अन्तर्गत आ जाते हैं । स्पष्ट है कि दोनों उद्देश्यों, प्रधानतः दूसरे उद्देश्य, की पूर्ति के लिए अनुसन्धाता को विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक बुद्धि से प्रेरित होकर कार्य करना पड़ेगा । इसलिए जहाँ ये दो उद्देश्य पूर्ण होते दिखाई नहीं देते, जहाँ कोरी आलोचना है, वहाँ अनुसन्धान, 'रिसर्च' नहीं है । ऐसे ग्रन्थ को 'थीसिस्' या 'शोध-प्रबन्ध' नहीं कहा जा सकता। नितान्त आधुनिक विषयों के सम्बन्ध में प्रायः यह समस्या सामने आती है—विषय-निरूपण 'थीसिस्' के रूप में हुआ है, या वह कोरी आलोचना है । निस्सन्देह आलोचना अपने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चीज़ है । किन्तु एक विधिवत् आलोचनात्मक अध्ययन और अनुसन्धान के बीच कोई विभाजन-रेखा होनी चाहिए । कहां तथ्यानुसन्धान पर ज़ोर देना चाहिए कहाँ आलोचना पर, यह विषय विचारणीय है । हर्ष की बात है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में डॉ० नगेन्द्र ने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक और तटस्थता के साथ इस जटिल समस्या पर विचार किया है । आशा है कि उनके विचार अन्य विद्वानों को इस सम्बन्ध में सोच-विचार करने के लिए प्रेरित करेंगे । डॉ० माताप्रसाद गुप्त का भाषण अनुसन्धान की एक और समस्या की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है । पाठ की समस्या भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है । 'रिसर्च' को तथ्यानुसन्धान के रूप में ही लिया जाय, या भले ही आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना उत्कृष्ट अनुसन्धाता की कल्पना न की जा सके, मूल और शुद्ध पाठ के बिना दोनों प्रयास निष्फल होंगे । हिन्दी का सामान्य विद्यार्थी भी यह जानता है कि अशुद्ध पाठों के कारण साहित्य में कितनी भ्रामक धारणाएँ प्रचलित हैं । उन सबके निराकरण की आवश्यकता है । यह निराकरण पाठानुसन्धान द्वारा ही हो सकता है । अब समय आ गया है कि हिन्दी के प्रमुख कवियों की कृतियों के संशोधित और प्रमाणीकृत पाठ अनुसन्धाताओं के सामने रखे जाएँ । डॉ० माता प्रसाद गुप्त का कहना ठीक ही है कि पाठानुसन्धान अन्ततः सत्य का ही अनुसन्धान है—और यही अनुसन्धाता का उद्देश्य है । प्रस्तुत 'अनुसन्धान की प्रक्रिया' शीर्षक ग्रन्थ में इन तथा ऐसे ही अन्य अनेक विषयों और पक्षों पर विचार किया गया है ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अनुसंधान के दो ही प्रधान स्तम्भ हैं—निर्देशक और अनुसंधाता । प्रस्तुत ग्रन्थ में यद्यपि दोनों के लिए उपयोगी अनेक बातों का समाहार किया गया है, तो भी सम्पूर्ण ग्रन्थ पढ़ जाने के पश्चात् कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ में निर्देशकों के लिए सामग्री का बाहुल्य है, अनुसन्धाताओं के लिए कम । डॉ० राजबली पाण्डेय के 'अनुसन्धान की प्रक्रिया और प्रविधि' शीर्षक भाषण का अनुसन्धाताओं से सीधा सम्बन्ध है और उसमें उनके लिए अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण दिशाओं की ओर संकेत किया गया है । फिर भी यदि डॉ० पाण्डेय ने इस विषय पर कुछ और विस्तार से विचार किया होता तो अनुसन्धाताओं, विशेषतः नए-नए अनुसन्धाताओं, का बहुत बड़ा उपकार हो जाता । आधुनिक संघर्षपूर्ण और आर्थिक विषमताओं के युग में एक अनुसन्धाता कम-से-कम समय में किस प्रकार अच्छे से अच्छा कार्य कर सके, यह विचारणीय है । अनुसन्धान-कार्य के प्रथम एकाध वर्ष तो प्रायः बिना किसी ठोस कार्य के ही निकल जाते हैं । यह चिन्त्य है । यूरोप और अमेरिका में इस प्रकार समय नष्ट नहीं किया जाता । अनुसन्धाता पुस्तकालयों, हस्तलिखित या मुद्रित ग्रन्थों आदि का किस प्रकार प्रयोग करे, वह किस प्रकार विषय की योजना, वर्गीकरण, प्रबन्ध-लेखन आदि करे यह सब तो उसे जानना ही चाहिए, किन्तु वह क्या पढ़े, कितना पढ़े, किसी ग्रन्थ में से अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए कितनी सामग्री ले, नोट्स किस प्रकार ले, थीसिस् के सर्वप्रथम ड्राफ़्ट में ही किस प्रकार बिना समय नष्ट किए संशोधन-परिवर्धन करे, किस विषय के लिए कौन-सी प्रतिपादन-पद्धति ग्रहण करे, ग्रन्थ-सूची किस प्रकार तैयार करे, पत्र-पत्रिकाएँ किस प्रकार देखे, संदर्भ कैसे तैयार करे, ये तथा ऐसी ही अन्य अनेक छोटी-बड़ी बातें भी उसे जाननी चाहिएं । मेरा यह अनुभव है कि इन बातों के जाने बिना छात्रों का बहुत-सा समय बेकार नष्ट होता है और उनकी शक्ति का ह्रास होता है । जो कार्य छः महीने में समाप्त हो जाना जाहिए वह एक वर्ष में पूरा होता है । यह भी ठीक है कि हमारे पुस्तकालयों और संग्रहालयों में जैसे वैज्ञानिक साधन उपलब्ध होने चाहिएँ वैसे नहीं हैं (यूरोप और अमेरिका के पुस्तकालयों में किसी विषय से सम्बन्धित पेपर-कटिंग्स तक तैयार मिल जाती हैं), तो भी अनेक बातें तो स्वयं अनुसंधाता को जाननी चाहिएं । उदाहरण के लिए, अनुसन्धाता को यह जानना चाहिए कि आधुनिक पुस्तकालयों के 'ओपिन् शेल्फ़ सिस्टम' का किस प्रकार उपयोग किया जाय, अथवा, नोट्स या नोट्स की फ़ाइलें किस प्रकार तैयार की जायें कि थीसिस लिखते समय उसे कम-से-कम झंझट का अनुभव करना पड़े, अथवा, ग्रन्थ-सूची तैयार करते समय कार्ड्स किस प्रकार तैयार किए जायें । इस प्रकार की प्रक्रिया और प्रविधि का यही उद्देश्य होना चाहिए कि अनुसन्धाता प्रारम्भ से ही अपने समय और अपनी शक्ति का सदुपयोग कर सके; उसे भटकना न पड़े । निर्देशक ही उसे ये सब बातें बताएगा, यह ठीक है किन्तु निर्देशक हर घड़ी उसके साथ नहीं रह सकता । इसलिए स्वयं अनुसन्धाता को ही इस प्रक्रिया और प्रविधि पर अधिकार

प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। यह अधिकार प्राप्त किए बिना कार्य प्रारम्भ कर देने वाले प्रतिभाशाली और परिश्रमी छात्रों तक को मैंने अत्यन्त विकल होते देखा है। इसीलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में यदि इस सम्बन्ध में भी किसी विद्वान् ने अनुसंधाताओं का मार्ग निर्देशन किया होता तो उसकी उपादेयता और भी अधिक बढ़ जाती।

'अनुसन्धान की प्रक्रिया' ग्रन्थ निस्सन्देह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। दोनों सम्पादक बधाई के पात्र हैं। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय का यह गौरव-चिह्न है।

❀ ❀ ❀

संदेशरासक

डॉ० हरिवंश कोछड़

सन्देशरासक अपभ्रंश भाषा का एक प्रसिद्ध काव्य है। इसकी रचना अब्दुल रहमान नामक एक मुसलमान लेखक ने १२वीं शती ईसवी के आस-पास की थी। अपभ्रंश साहित्य में अद्यावधि उपलब्ध काव्य-ग्रन्थों में से यही एक काव्य है जो कि एक मुसलमान कवि द्वारा रचित है। यह काव्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसकी महत्ता का अनुभव करते हुए श्री जिनविजय मुनि तथा प्रो० हरिवल्लभ भायाणी ने इसका सम्पादन किया और सिंधी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत भारतीय विद्याभवन बम्बई से १९४५ ई० में इसको प्रकाशित करवाया। तभी से यह काव्य साहित्यिकों के समक्ष आया। निस्सन्देह ग्रन्थ का सम्पादन बड़ी विद्वत्ता से किया गया। सन्देशरासक की व्याकरण की दृष्टि से भाषा, उसमें प्रयुक्त छन्दों का विवेचन तथा प्रत्येक पद्य का सार आदि सब अंग्रेजी भाषा में दिया गया। ग्रन्थ के अन्त में अकारादि क्रम से पद्यानुक्रमणिका और शब्दकोष देकर ग्रन्थ को और भी अधिक उपादेय बनाया गया है।

प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के संस्कृत टिप्पनक, अवचूरिका आदि संस्कृत टीकाओं की सहायता से भी सन्देशरासक के कई स्थल स्पष्ट न हो सके और कई स्थानों पर अर्थ में कुछ असंगति प्रतीत होती थी। अतः आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने श्री विश्वनाथ त्रिपाठी के साथ—जो उनके एक सुयोग्य छात्र रहे हैं—सन्देशरासक का 'नये सिरे' से सम्पादन किया है। श्री मुनि जी द्वारा प्रकाशित पुस्तक के समय पूना, लोहावत, पाटन भण्डार और बीकानेर से प्राप्त चार हस्तलिखित प्रतियाँ मिल सकी थीं, जिनमें से प्रथम तीन के ही आधार पर मुनि जी ने सन्देशरासक का सम्पादन किया था। पूर्व प्रकाशित पुस्तक के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी जी को दो अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हुईं। इनमें से एक जयपुर के लूणकर्ण पाण्ड्या के श्री दिगम्बर जैन मन्दिर से प्राप्त हुई और दूसरी प्रति का केवल एक पत्र अलीगढ़

लेखक : अब्दुल रहमान।
सम्पादक : श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी तथा श्री विश्वनाथ त्रिपाठी।
प्रकाशक : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, बम्बई-४, मार्च १९६० ई०
मूल्य : सजिल्द, आठ रुपये।

विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के रीडर डॉ० रामनरेश त्रिपाठी से प्राप्त हुआ। प्रस्तुत सन्देश रासक के सम्पादन में इनसे भी सहायता ली गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ तीन प्रमुख खण्डों में विभक्त है—(१) प्रस्तावना पृष्ठ सं० १ से ५० तक, डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित, (२) भूमिका पृष्ठ संख्या १ से ८६ तक और (३) संदेश रासक का मूलपाठ और हिन्दी में अनुवाद पृष्ठ सं० १ से ५५ तक। भूमिका भी विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा लिखी गई है और मूलपाठ का अनुवाद भी उन्होंने किया है। परिशिष्ट रूप में अवचूरी नाम से संस्कृत टीका भी दे दी गई है और अन्त में शब्दार्थ-सूची भी जोड़ दी गई है।

सन्देश रासक के कई स्थलों पर अपने दृष्टिकोण से शुद्ध पाठ का सुझाव आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने दिया है। पाठ-संशोधन के सम्बन्ध में उनकी एक लेखमाला नागरी प्रचारिणी पत्रिका में भी निकलती रही। उसी को भूमिका रूप में—प्रस्तावना रूप में कहना अधिक संगत होगा—प्रस्तुत संस्करण में जोड़ दिया गया है। संदेश रासक के अनेक पद्यों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए संस्कृत-टीकाओं द्वारा पर्याप्त सहायता मिली है। किन्तु प्रस्तुत संदेश रासक में इस प्रकार की टीकाओं से भी बढ़कर सहायता आचार्य द्विवेदी जी को अपने प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं के विशद ज्ञान और उस ज्ञान के लिए पृष्ठभूमि के रूप में उपयुक्त संस्कृत भाषा के पाण्डित्य से प्राप्त हुई। नवीन पाठ का सुझाव कहीं उन्होंने व्याकरण को, कहीं छन्द को, कहीं तुक को, कहीं यमक अलंकार को और कहीं संस्कृत-टीकाओं को दृष्टि में रखकर, दिया है। पाठ-संशोधन में कहीं-कहीं पर भाषा एवं साहित्य की परम्परा से और प्राकृत कोषों से भी सहायता ली गई है। उपरिनिर्दिष्ट साधनों से सहायता न मिलने पर उन्होंने अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का भी प्रयोग किया है। जैसे ग्रन्थ के २-७२ पद्य में 'ओसहे' के स्थान पर 'आसहे' पाठ को स्वीकार करने का प्रस्ताव उन्होंने रखा है।

भूमिका में श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ने रासक का विकास, कवि, ग्रन्थरचना-काल, काव्य की भाषा, छन्दादि विषयों पर प्रकाश डालते हुए काव्यान्तर्गत रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, विरह-वर्णन और ऋतु-वर्णन आदि विषयों पर गम्भीर और विशद विवेचन प्रस्तुत किया है।

संदेश रासक के मूलपाठ सम्बन्धी खण्ड में श्री त्रिपाठी ने मूल पद्यों का हिन्दी में अनुवाद भी दे दिया है। इस अनुवाद की सहायता से पाठक को पद्यों के अर्थ-ज्ञान में पर्याप्त सहायता मिलेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु इस खण्ड में एक बात खटकती है कि कहीं-कहीं अर्थ आचार्य द्विवेदी द्वारा सुझाये गये नवीन पाठ के अनुकूल नहीं। उदाहरणार्थ २-४८ पद्य में 'णं ससिसूर णिवेसिय रेहइ गंडयलि' में पाठ-संशोधन

में निर्देश किया गया है कि 'रेहइ' का अर्थ है—राजते अर्थात् शोभित होता है। यह पद टीकाकारों ने छोड़ दिया है। यह ससि पद की क्रिया है। किन्तु अनुवाद में भी इस पद का अर्थ उपेक्षित रहा। इसी प्रकार २-१०३ पद्य में 'वियसेविणु' का जो अर्थ सुझाया गया है वह अनुवाद से मेल नहीं खाता। इसी तरह प्रस्तावना पृष्ठ २३ पर निम्नलिखित पद्य में

'तुह विरह पहर संचूरिअाइं विहडंति जं न अंगाइं।
तं अज्ज कल्ल संघडरण ओसहे णाह तग्गंति॥ २·७२

'ओसहे' के स्थान पर 'आसहे' पाठ का सुझाव देकर जो अर्थ किया गया है वह भी अनुवाद में दिये अर्थ से मेल नहीं खाता।

ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं और आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का ध्यान भी इधर गया है। फलतः अपने प्राक्कथन में उन्होंने लिखा है कि "कई स्थानों पर वे (श्री विश्वनाथ त्रिपाठी) मेरे सुझाए पाठों का उपयोग नहीं कर सके हैं। मैं उनके स्वतन्त्र विचारों का आदर करता हूँ।" परन्तु प्रश्न उठता है कि जब आचार्य द्विवेदी जी के सुझाए पाठों से उनके सहायक सम्पादक ही सहमत नहीं हो पाये तो क्या वह पाठकों से ऐसी आशा करेंगे कि वे सहमत हो सकें।

सम्भवतः अनुवाद बहुत शीघ्रता से किया गया है और उसे भली भांति दोहराने का अवसर श्री त्रिपाठी को नहीं मिला। २-१०५ पद्य में 'उज्जगउ णिसिहि' का अर्थ छूट गया है। २-११० पद्य में 'पियह कहिय...' 'इत्यादि अन्तिम चरण का भी अनुवाद रह गया है। २-१११ पद्य में प्रयुक्त 'अंसु जलोहु' के 'जलोहु' का भाव अनुवाद में नहीं आ सका। इसी प्रकार अनुवाद सम्बन्धी अन्य भी साधारण त्रुटियाँ रह गयी हैं।

ग्रन्थ को पूर्णरूपेण शुद्ध बनाने का प्रयत्न किया गया है फिर भी मुद्रण की कुछ अशुद्धियाँ रह ही गई हैं। प्रस्तावना में पृष्ठ २८ पर सींचती रहती के स्थान पर सींचते रहते; पृष्ठ ३३ पर लगभ; पृष्ठ ४२ पर बादलों से भरता हुआ; पृष्ठ ४४ पर घटण के स्थान पर घहण; पृष्ठ ४८ पर अपेक्षा कर सकता सकता है। भूमिका में पृष्ठ १४ पर व्यस्तत; पृष्ठ २८ पर अणुभूत; पृष्ठ ५७ पर शृङ्गारपक; पृष्ठ ६६ पर मानव व्यापापों पर आदि। ऐसी अशुद्धियाँ नगण्य हैं और इनसे अर्थावबोध में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती।

दो एक स्थलों पर वाक्य-रचना सम्बन्धी भी कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। उदाहरणार्थ—भूमिका में पृष्ठ १२ पर 'किन्तु जैसा कि हम ने पिछले अध्याय के

अन्तर्गत' इत्यादि वाक्य में 'पिछले अध्याय का' क्या अर्थ है स्पष्ट नहीं हो सका। पृष्ठ ६५ के अन्त में और पृष्ठ ६६ के आरम्भ में एक ही अनुच्छेद (पैरे) में एक ही भाव को अभिव्यक्त करने वाले एकसमान दो वाक्यों का प्रयोग किया गया है— 'भयभीत विद्युत के चमकने पर ही पगडण्डियाँ दिखाई पड़ती हैं' और 'पग-पग पर आकाश में विद्युत् के प्रकाश से पगडण्डी दिखलाई पड़ रही हैं।' पृष्ठ ७३ पर 'वाताहता कदली तरु' भी उचित नहीं। पृष्ठ ८१ पर ७ वीं पंक्ति में 'वह सबसे उस ग्रीष्म की खबर लेती है' वाक्य में सम्भवतः 'पहले' शब्द छूट गया है। आशा है कि अगले संस्करण में ये छोटी-मोटी त्रुटियाँ दूर हो जाएँगी।

प्रस्तुत सन्देश रासक वर्ण्य विषय, छपाई, कागज़, जिल्द, आकार आदि की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर और आकर्षक है। श्री मुनि जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ अंग्रेज़ी में प्रकाशित होने से हिन्दी पाठकों को अधिक आकृष्ट न कर सका। यह कमी प्रस्तुत सन्देश रासक से दूर हो गई है। (हमारे इस कथन से यह न समझा जाए कि हिन्दी वाले अंग्रेज़ी भाषा नहीं जानते।) आशा है हिन्दीसाहित्य-सेवी इस ग्रन्थ का समुचित आदर करेंगे और हिन्दी भाषा के आदिम स्वरूप पर शोधकर्त्ता के लिए तो यह ग्रन्थ अनिवार्य सिद्ध होगा।

दिग्विजय-भूषण

डॉ० महेन्द्रकुमार

हिन्दी मध्यकालीन साहित्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा है कि मुद्रण के अभाव में अब तक इसके अनेक ग्रन्थरत्न लुप्त हो गये और अब भी होते जा रहे हैं। मध्यप्रदेश, बुंदेलखंड, उत्तरप्रदेश के अनेक स्थानों में अब भी ऐसे पुस्तकालय विद्यमान हैं जहाँ इन अलभ्य ग्रन्थों को दीमक चाटती जा रही है और बहुत संभव है कि नागरी प्रचारिणी सभा जैसी संस्थाओं ने इनके जो 'नोटिस' लिये हैं वे कालान्तर में इनके नष्ट हो जाने पर उल्लेख मात्र रह जाएँ। यह स्थिति तो बड़ी संस्थाओं की है; इनके अतिरिक्त जिन लोगों के पास ऐसे ग्रन्थ व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में सुरक्षित हैं उनकी यह दशा है कि किसी को इनका दर्शन कराना भी वे पाप समझते हैं—भले ही उचित व्यवस्था के अभाव में इनके अवशेष तक न रहें। इधर प्रकाशकों का तो कहना ही क्या! ये लोग पाठ्यपुस्तकों का ही प्रकाशन करते हैं जबकि सम्पादन के उत्साही विद्वान् आर्थिक कठिनाइयों तथा उपयुक्त साधनों के अभाव में उनके उद्धार का साहस नहीं कर पाते। कहना न होगा कि इन सब विषमताओं के होते हुए भी, गोकुलप्रसाद 'बृज' कृत 'दिग्विजय भूषण' का सम्पादन कर डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह ने रीतिसाहित्य में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है। ग्रन्थ के आरम्भ में ७२ पृष्ठों में कवि के आश्रयदाता महाराज दिग्विजय सिंह 'भूपविजय' तथा उसके वंश के विस्तृत और प्रामाणिक परिचय के साथ ११२ पृष्ठों की भूमिका और दी गई है जिसमें उन कवियों का संक्षिप्त परिचय है जिनकी रचनाओं का इस ग्रन्थ में प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त विद्वान् सम्पादक ने कठिन स्थलों को यथावश्यक स्पष्ट कर ग्रन्थ की उपयोगिता में और वृद्धि की है। जहाँ तक सम्पादन-कार्य की वैज्ञानिकता का प्रश्न है उसका दावा यद्यपि स्वयं सम्पादक महोदय नहीं करते किन्तु जिस विश्वास के साथ उन्होंने उसका स्वच्छ पाठ प्रस्तुत किया है उसे देखते हुए इसे अवैज्ञानिक कहने का साहस भी नहीं किया जा सकता। अस्तु!

मूल लेखक : गोकुस प्रसाद 'बृज'
सम्पादक : डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
प्रकाशक : अवध साहित्य मन्दिर
मूल्य : १५ रुपये

'दिग्विजय-भूषण' में कुल मिलाकर १८ परिच्छेद हैं जिन्हें 'प्रकाश' संज्ञा दी गई है। यह ग्रन्थ वस्तुतः मूल रूप में न होकर रामस्वरूप नामक किसी व्यक्ति की ब्रजभाषा-टीका-सहित है। यह टीका कवि के जीवन-काल—अर्थात् सं० १९२५ वि० के आसपास लिखी गई थी और तभी जंगबहादुरी यन्त्रालय, बलरामपुर में इसका प्रकाशन भी हुआ था। डॉ० सिंह ने इसी प्रति को प्रस्तुत संस्करण का आधार बनाया है। ग्रन्थ के आरम्भ में टीकाकार ने भूमिका दी है जिसमें उसका अपना परिचय है। इसके पश्चात् प्रथम प्रकाश में मंगलाचरण के उपरान्त देश-नगरादि वर्णन है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम प्रकाशों में क्रमशः सृष्टिक्रम, सूर्यवंशावली, चन्द्र-वंशावली और नृपवंशावली का वर्णन प्रस्तुत किया गया है जो मूलतः परम्परानुसार ही है। इसके पश्चात् षष्ठ प्रकाश से रीति-विवेचन आरम्भ होता है। इसमें ग्रन्थकार ने ऐसे छन्दों का संग्रह किया है जिनके अन्तिम चरण में एक ही अलंकार विद्यमान है। सातवें प्रकाश में ऐसे छन्द संग्रहीत हैं जिनके चारों चरणों में एक ही अलंकार का निरूपण हुआ है। अष्टम प्रकाश के अन्तर्गत उन छन्दों का संग्रह किया गया है जिनमें दो-दो अलंकारों का सांकर्य है जबकि नवम और दशम प्रकाशों में क्रमशः संसृष्टि और क्रमसंसृष्टि सम्बन्धी छन्दों को एकत्रित किया गया है। इन छन्दों में सामान्यतः तीन अलंकारों से लेकर ६-६ अलंकारों की संसृष्टि दर्शायी गई है। एकादश प्रकाश में जयदेव के 'चन्द्रलोक' की शैली पर १०८ अलंकारों के संक्षिप्त लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इसके पश्चात् द्वादश प्रकाश में चित्रालंकार, त्रयोदश में अनुप्रास एवं चतुर्दश प्रकाश में शेष शब्दालंकारों—वीप्सा, श्लेष और वक्रोक्ति-वर्णन के अतिरिक्त दूती-वर्णन अत्यन्त विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। अंतिम पाँच प्रकाशों में क्रमशः नखशिख, षड्ऋतु, नायिका-भेद तथा कवि प्रौढ़ोक्ति का अपेक्षाकृत संक्षिप्त वर्णन है। इन प्रकाशों के अन्तर्गत भी 'बृज' कवि ने नायिका-भेद सम्बन्धी अत्यन्त संक्षिप्त लक्षणों को छोड़ अन्य किसी विषय का लक्षण नहीं दिया—प्रायः विषय को स्पष्ट करने के निमित्त तत्सम्बन्धी सरस छन्दों का संग्रह मात्र कर दिया है।

इस प्रकार स्पष्ट ही है कि 'दिग्विजय-भूषण' मूलतः अलंकार-ग्रन्थ है। परन्तु इसके साथ नायक-नायिका-भेद, षड्ऋतु, नखशिख और कविप्रौढ़ोक्ति का जो वर्णन उसमें प्रस्तुत किया गया है उसके औचित्य पर प्रश्न किया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में दो कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। प्रथम तो यही कि रीतिकाल के अन्तिम चरण का यह कवि इन सरस विषयों को ग्रन्थ में समाविष्ट करने का लोभ-संवरण नहीं कर सका। दूसरे अलंकार के क्षेत्र को व्यापक समझते हुए उससे सम्बद्ध विविध विषयों को स्पष्ट करना भी वह असंगत नहीं समझता। एकादश प्रकाश के अन्तर्गत 'लोकोक्ति' अलंकार के प्रसंग में नायिका के इन भेदों—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया, वाग्विदग्धा, अनुशयाना और धीरा का वर्णन इसीलिए

प्रस्तुत किया गया है क्योंकि इनके रूपवर्णन अथवा उक्तियों में यह अलंकार प्रायः विद्यमान रहता ही है। दूती की उक्तियाँ साधारणतः श्लिष्ट होती हैं, अतः श्लेष के वर्णन में दूती-भेद का सविस्तर वर्णन कर दिया तो अपने आप में वह भी असंगत नहीं। इसी प्रकार अलंकार-वर्णन में अप्रस्तुत-योजना के महत्त्व को देखकर उसके उदाहरण-स्वरूप नखशिख-वर्णन[1] तथा अलंकार में चूँकि देश-काल का भी ध्यान रहता है[2] इसलिए षड्ऋतु वर्णन का सन्निवेश भी किसी सीमा तक उचित कहा जा सकता है। ऐसे ही 'कविप्रौढ़ोक्ति' के विषय में भी कहा जा सकता है कि चूँकि इसका चमत्कार भी शब्द और अर्थ में रहता है अतः इसे भी व्यापक अर्थ में अलंकार की परिसीमा के अन्तर्गत रखा जाय तो अनुचित नहीं।[3] पर नायिका-भेद का वर्णन उन्होंने क्यों प्रस्तुत किया इसकी कुछ संगति नहीं बिठाई जा सकती। इस सम्बन्ध में 'बृज' कवि ने यद्यपि यह सफाई दी है कि—

अलंकार को कहत हैं भूषन अंग बिहार।
ताते नायक-नायिका, बरनन कियो बिचार ।।१।। (षोडश प्रकाश)

परन्तु इसके आधार पर काव्यालंकारों को नारी-अंगों के शोभाकारक उपकरण मानना ही पहले तो अपने आपमें असंगत है। यदि यह मान भी लिया जाय कि चूँकि हाव-हेलादि नायिकाओं के अलंकार कहे गये हैं, अतः उनसे सम्बद्ध नायिका-भेद का वर्णन प्रसंगवश करना आवश्यक था; किन्तु जब रचयिता ने उन अलंकारों का नामोल्लेख तक नहीं किया तब किसी भी आधार पर इसमें नायिका-भेद-वर्णन का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमारे विचार में इसकी अपेक्षा यदि अलंकार-ध्वनि का समावेश किया गया होता तो अलंकार-विवेचन सर्वांगीण बन जाता।

जहाँ तक विषय-विवेचन तथा निरूपण-शैली का प्रश्न है, पीछे निवेदन किया जा चुका है कि चित्र और शब्दालंकारों को छोड़ प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तर्गत १०८ अलंकारों को विवेचन का विषय बनाया गया है। इन अलंकारों का आधार आचार्य 'बृज' के शब्दों में यद्यपि जयदेव का 'चन्द्रालोक' है[4] तथापि रसनोपमा, समस्त वस्तु विषयी रूपक, गम्योत्प्रेक्षा, अनुमान, अन्योक्ति आदि ऐसे अलंकार हैं जो इन्होंने जयदेव से ग्रहण नहीं किये। इनके आधार के विषय में यद्यपि ये स्वयं मौन हैं तथापि

---

१. **अलंकार में चाहिए, उपमेई उपमान।**
ताते नखशिख बरनिबो, उचित प्रबन्ध प्रमान ।।१।। (पंचदश प्रकाश)

२. **अलंकार में रहत है देशकाल की बात।**
ताते ऋतु वर्णन करौं, समै सुभाव बिभात ।।२।। (षोडश प्रकाश)

३. **कवि प्रौढोक्ति ते होत है, रचना बिबिध प्रकार।**
ताते बरनन करत हौं, उचित ग्रन्थ निरधार ।।१।। (अष्टादश प्रकाश)

४. **कहे एक सै आठ लिखि चन्द्रालोक बखानि ।।२३।।** (दशम प्रकाश)

लक्षणों को देखते हुए यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि रीतिकाल के अन्य आचार्य-कवियों के समान इन्होंने भी मम्मट, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित के ग्रन्थों का अवश्य आश्रय लिया होगा; ये अलंकार इनकी मौलिक उद्भावना नहीं। इधर जयदेव द्वारा निरूपित रसवदादि अलंकारों का इन्होंने उल्लेख तक नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि यह व्यक्ति रस और अलंकार की काव्यगत स्थिति के विषय में पूर्णतः सजग था। परन्तु यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि इन अलंकारों के लक्षणों अथवा उदाहरणों में ऐसा वैशिष्टय नहीं जिसे मौलिकता की संज्ञा दी जा सके—विषय-निरूपण सामान्यतः वैसा ही है जैसा कि रीतिकाल के इतर आचार्य कर चुके थे। हाँ, विवेचन-शैली में अवश्य ही कतिपय विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं। प्रथम तो यही कि अलंकार-वर्णन का क्रम परम्परागत स्वीकार न करते हुए लक्षण-साम्य के आधार पर रखा गया है। आचार्य भिखारीदास ने अपने 'काव्यनिर्णय' के अन्तर्गत यद्यपि इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किया था तथापि 'बृज' की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ है—उन्होंने इस ग्रन्थ के दशम प्रकाश में एक ही छन्द में छः-छः, सात-सात अलंकारों को बिना किसी सांकर्य के एक साथ दर्शाकर अपनी सजगता का स्पष्ट परिचय दिया है। 'दिग्विजय-भूषण' की दूसरी विशेषता यह है कि रचयिता ने अलंकारों के लक्षणों की अपेक्षा उनके उदाहरणों की स्वच्छता पर अधिक बल दिया है; यही कारण है कि उसने अपने पूर्ववर्तियों के समान सर्वत्र स्वरचित छन्द उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत नहीं किये—जहाँ उसे किसी कवि का छन्द अधिक उपयुक्त जँचा, उसको ग्रहण करने में उसे तनिक भी संकोच नहीं हुआ। इससे जहाँ एक ओर विषय-विवेचन अधिक स्वच्छ और सुबोध हुआ है, वहाँ दूसरी ओर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार ने कवि-कर्म की अपेक्षा आचार्य-कर्म को अधिक मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध में तीसरी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि आचार्य 'बृज' ने 'अलंकार' शब्द को अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। नायिकाओं के अलंकारों का वर्णन यद्यपि उन्होंने नहीं किया तथापि इस दोहे के द्वारा कि—

रस राजा सिंगार रस उचित विभूषन ताहि।
रच्यौ अलंकृत जे सकल रस सिंगार के माँहि ॥२४॥ (दशम प्रकाश)

यह संकेत अवश्य कर दिया है कि हाव-हेलादि भी अलंकार की परिसीमा में ग्रहण करने चाहिये। इस बात की पुष्टि उनके नखशिख-वर्णन से और हो जाती है जिसमें शृंगार-रस के दो उपकरण किसी-न-किसी प्रकार आ जाते हैं। दूसरे नख-शिख, षड्ऋतु, तथा नायिका-भेद-वर्णन से एक यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि 'बृज' ने इन विषयों को अपने ग्रन्थ में इसलिए भी ग्रहण किया है क्योंकि वे वर्ण्य विषयों का अलंकारों से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते रहे होंगे। केशव ने अपनी 'कविप्रिया' के अन्तर्गत वर्ण और वर्ण्य अलंकार का वर्णन वस्तुतः इसीलिए किया था। वे यह

समझते थे कि उपमान-स्वरूप ये दोनों ही गृहीत होने के कारण अलंकार की परि-सीमा से बाहर नहीं रहते—यद्यपि इसका संकेत वे नहीं कर पाये। यदि केशव एक-दो दोहों में इस प्रकार का तर्क दे गये होते तो उनके अलंकार-विवेचन की परिपाटी और संगति पर प्रश्नवाचक चिह्न न लगा रहता। हमारे विचार में आचार्य 'बृज' ने अत्यन्त विश्वास के साथ उक्त दोहे के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से उस अभाव की पूर्ति की है जो केशव अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट न कर सकने के कारण नहीं कर पाये। यदि हावादि का वर्णन इस ग्रन्थ में पृथक् रूप से हो गया होता तो निश्चय ही 'कविप्रिया' की परम्परा का प्रबल समर्थन इस ग्रन्थ में दृष्टिगत होता। इन तीनों विशेषताओं के अतिरिक्त इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। इसमें ऐसे अनेक कवियों की रचनाओं का समावेश हुआ है जिनका उल्लेख आजतक किसी भी साहित्य के इतिहासकार ने नहीं किया। किन्तु इन सब महत्त्वपूर्ण बातों के होते हुए भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल पाता कि एकादश प्रकाश को ग्रन्थ के मध्य में स्थान क्यों दिया गया; अलंकार-विवेचन का आरम्भ इसी से क्यों नहीं हुआ। ऐसा करने से उसके विवेचन को व्यवस्थित रूप मिलता: पहले अलंकारों का सामान्य परिचय और तत्पश्चात् उनके सांकर्य और संसृष्टि को दर्शाना उपयुक्त रहता। इसी प्रकार शब्दालंकारों का वर्णन अर्थालंकारों से पूर्व होता तो वह और भी संगत रहता, क्योंकि अर्थ की अपेक्षा शब्द का चमत्कार स्थूल रहता है और स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना विवेचक की प्रतिभा तथा पाठक दोनों के अनुकूल रहता है। इस सम्बन्ध में यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि ग्रन्थकार यह मानकर चला है कि अलंकारों का सामान्य परिचय पाठक को अवश्य है। किन्तु इस तर्क को स्वीकार कर लेने पर एकादश प्रकाश के समावेश के औचित्य का प्रश्न उपस्थित होता है। हमारे विचार में एकादश प्रकाश का महत्त्व उतना ही है जितना दूसरे प्रकाशों का है—दोष तो इन प्रकाशों के वर्णन-क्रम का है, जिसकी उपेक्षा सहज नहीं की जा सकती। आज ग्रन्थकार हमारे समक्ष नहीं; होता तो संभव है कुछ समाधान करता।

जो हो, इतना तो निश्चित है कि अपनी सीमाओं के होते हुए भी अलंकार-निरूपण का यह अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें विषय-विवेचन की स्वच्छता एवं सुबोधता के अतिरिक्त उदाहरणों का जो विपुल संग्रह उपलब्ध होता है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं; अलंकार-विवेचन के इतिहास में आलोचना की स्वस्थ परम्परा का दिग्दर्शन भी कराता है। ऐसे ग्रन्थ को प्रकाश में लाने के लिए डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह निश्चय ही बधाई के पात्र हैं।

❀ ❀ ❀

हिन्दी अभिनवभारती

डॉ० आर्येन्द्र शर्मा

भरत का 'नाट्यशास्त्र' तथा उसकी अभिनवगुप्त-कृत व्याख्या 'अभिनव भारती' संस्कृत-साहित्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। मूल नाटचशास्त्र के अब तक दो संस्करण, बम्बई और बनारस से प्रकाशित हुए हैं। अभिनवभारती के भी पहले २७ अध्याय, तीन भागों में, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित हो चुके है ; शेष नौ अध्यायों का प्रकाशन अभी शेष है। प्रथम भाग (१-७ अध्याय) का द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है।

मूल ग्रन्थ के दोनों संस्करण जिन पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रस्तुत किए गये हैं, उनमें परस्पर पर्याप्त पाठभेद है। फिर भी इन संस्करणों में 'नाट्यशास्त्र' का मौलिक रूप हमें मिल जाता है। किन्तु 'अभिनवभारती' के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसकी उपलब्ध पाण्डुलिपियाँ इतनी अशुद्ध और त्रुटिपूर्ण है कि बहुसंख्यक स्थलों पर वास्तविक पाठ का पता ही नहीं चलता। अनेक स्थलों पर ग्रन्थ के कुछ अंश अपने उचित स्थान से हटकर अन्यत्र पहुँच गये हैं, जहाँ पूर्वापर संदर्भ से इनकी कोई संगति नहीं बनती है। पाण्डुलिपियों के ये पाठ-दोष बड़ौदा के संस्करणों में सम्पादकों के प्रयत्न के बावजूद, दूर नहीं किये जा सके हैं। फलतः, 'अभिनवभारती' के बीसियों महत्त्वपूर्ण अंश अभी तक साहित्य-शास्त्र का अध्ययन करने वालों के लिए अनुपलब्ध-जैसे ही बने हुए हैं।

हर्ष की बात है कि अब दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी-अनुसंधान-परिषद् ने 'अभिनव-भारती' के उद्धार का कार्य हाथ में लिया है। इसका संशोधन और सम्पादन तथा इसकी हिन्दी में व्याख्या करने के लिए वृन्दावन गुरुकुल के आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि को चुना गया है। आचार्य विश्वेश्वर जी साहित्यशास्त्र के पारङ्गत विद्वान् हैं। 'ध्वन्यालोक' तथा 'वक्रोक्तिजीवित' जैसे ग्रन्थों की विशद

मूल लेखक : अभिनव गुप्त
अनुवादक : श्री आचार्य विश्वेश्वर
प्रकाशक : दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मूल्य : २५) रुपये

व्याख्याएँ प्रस्तुत करके वे विद्वत्समाज में आदर पा चुके हैं। प्रकाशन की योजना का श्रेय डा० नगेन्द्र को है ; उन्हीं की प्रेरणा और प्रयत्नों के फलस्वरूप इस अमूल्य ग्रन्थ का एक भाग संशोधित और सुसम्पादित 'हिन्दी अभिनवभारती' के रूप में आज हमें देखने को मिल सका है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में विस्तृत भूमिका है, जिसमें भरत, 'नाट्यशास्त्र', भरत के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों और नाट्यशास्त्र के व्याख्याताओं का परिचय प्रस्तुत करने के बाद अभिनवगुप्त के काल, जीवन-वृत्त तथा कृतियों के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया गया है, और अन्त में 'अभिनव-भारती के संशोधन, संपादन तथा प्रकाशन का इतिहास दिया गया है। प्रस्तुत संस्करण में "पाण्डुलिपि-मूलक सम्पादन-पद्धति" का आश्रय न लेकर "विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धति" का अवलम्बन क्यों करना पड़ा, इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य विश्वेश्वर जी ने कहा है, "(अभिनव-भारती की) अधिक पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध नहीं हैं। किसी एक ही-सी मूल प्रति पर आधारित जो दो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं, उनके पाठ अत्यन्त अशुद्ध हैं। ऐसी दशा में यदि उनकी अर्थ-सङ्गति आदि पर विचार किये बिना पाण्डुलिपि में स्थित पाठों को ही ज्यों का त्यों रख दिया जायगा तो पाण्डुलिपिमूलक सम्पादन-पद्धति के अनुसार तो वह आदर्श सम्पादन हो जायेगा, किन्तु उससे न तो ग्रन्थ के साथ न्याय होगा और न ग्रन्थकार के साथ। वह तो केवल 'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः' वाली बात होगी। उसे वैज्ञानिक पद्धति कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता है।

"ऐसे ग्रन्थों के सम्पादन के लिए हमें दूसरे ही प्रकार की सम्पादन-पद्धति का अवलम्बन करना होगा। इस दूसरी सम्पादन-पद्धति का नाम हमने 'विवेकाश्रित-सम्पादन-पद्धति' रखा है। इस पद्धति में किसी विशेष सन्दिग्ध स्थल के शुद्ध पाठ का निर्धारण पाण्डुलिपि के आधार पर न होकर विवेक के आधार पर करना होता है। यदि किसी स्थल का पाठ सम्पादक की दृष्टि में स्पष्ट रूप से असङ्गत और अशुद्ध है तो केवल पाण्डुलिपि में होने से ही उसको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है...... ऐसे स्थल पर सम्पादक को अपने विवेक का आश्रय लेकर शुद्ध पाठ को उपस्थित करना चाहिए। साथ ही पाण्डुलिपि-स्थित अशुद्ध पाठ को भी पाद-टिप्पणी में दे देना चाहिए। हमने इसी पद्धति का अवलम्बन करके इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। जिस स्थल का पाठ हमारी दृष्टि में अशुद्ध था, उसको हमने अपने विवेक के आधार पर शुद्ध करके अशुद्ध पाठ को टिप्पणी में दे दिया है। साथ ही वह पाठ क्यों अशुद्ध है, और जो पाठ हम प्रस्तुत कर रहे हैं, वह क्यों शुद्ध है, इसकी विस्तृत विवेचना भी हमने पाठ-समीक्षा में दे दी है। (भूमिका, पृ० ५०)

सम्पादन की उपर्युक्त पद्धति, परिस्थिति के अनुसार, उपयुक्त ही है। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह पद्धति अधिकांश में सफल भी सिद्ध हुई है। 'अभिनव-भारती'

के अनेक दुर्ज्ञेय स्थल सुगम बन गये हैं ; अनेक आपाततः असङ्गत अंशों की सङ्गति बन गयी है, और बीसियों त्रुटियों तथा अशुद्धियों का समाधान हो गया है। आचार्य विश्वेश्वर जी ने अपनी पैनी दृष्टि, बहुज्ञता और अथक परिश्रम की सहायता से अतीव उपादेय और समुचित संशोधन सुझाये हैं ; और साथ ही, पूर्व संस्करणों में दिये हुए पाठ क्यों त्याज्य हैं, इसका भी विस्तृत विवेचन, प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पाठ-संशोधन के अवसर पर, "पाठ-समीक्षा" के अन्तर्गत किया है।

किन्तु सम्पादक कितना ही विवेकी, बहुज्ञ और ईमानदार क्यों न हो, "विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धति" के आधार पर किये गये संशोधन में दो तरह की त्रुटियाँ, स्वभावतः हो जाती हैं—(१) बहुज्ञ होने पर भी सर्वज्ञ न होने के कारण सम्पादन से तथ्य-विषयक भूलें हो जाती हैं, या संशोधन के लिए अपेक्षित अन्य ग्रन्थों से परिचित न होने के कारण, अथवा उन्हें भूल जाने के कारण कभी-कभी संशोधन त्रुटिपूर्ण रह जाता है। (२) अपने विवेक के आधार पर संशोधन का अधिकार पाकर सम्पादक मूल (पाण्डुलिपि के) पाठ में कभी-कभी अनावश्यक संशोधन भी कर बैठता है, जिससे ग्रन्थकार का आशय पाठकों के लिए सुगम तो हो जाता है, किन्तु मूल पाठ के साथ अन्याय भी हो जाता है। (पाश्चात्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि पाण्डुलिपियों में पाठ-भेद मिलने पर सुगम पाठ की अपेक्षा दुर्ज्ञेय पाठ ही प्रायः मूल पाठ या उसके निकट होता है।)

प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इस प्रकार की त्रुटियां आ जाना अनिवार्य था। उदाहरण के लिए—

१. पृ० ८७ पर, "इतिहास" शब्द के निर्वचन में, पाण्डुलिपियों का पाठ "ह इह शब्द आगमः" दिया गया है, और उसका संशोधन 'ह-शब्दो निश्चयार्थः, इह आगमपरः" इस प्रकार किया गया है। मूल में "निश्चयार्थः" का कहीं चिह्न नहीं है, न इसकी अपेक्षा ही है। इसी प्रकार "आगमपरः" का "परः" भी अनावश्यक है। "ह इति शब्द आगमे" इतने ही संशोधन से काम चल सकता था। यह पाण्डुलिपि के पाठ के बहुत निकट है।

२. पृ० ९३ पर, "जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्" की व्याख्या में पाण्डुलिपियों के पाठ स्पष्टतः त्रुटि-पूर्ण हैं, संशोध्य हैं। किन्तु जो संशोधन किया गया है, वह भी त्रुटि-पूर्ण हो गया है। संशोधन है—ऐकस्वर्ये काक्वभावाच्छ्रुत्यादौ गीतरूपापत्तेरिति हि वक्ष्यामः [ना० शा० १७], और इसका अर्थ किया गया है, "केवल एक स्वर होने पर कण्ठध्वनि का भेद न होने के कारण [गद्यरूप पाठ्य भाग भी] गीत रूप हो जायगा, यह बात आगे कहेंगे।" इस अंश की पाठ-समीक्षा में (पृ० ९४ पर) कहा गया है, "इसका यह अभिप्राय है कि सामान्यतः ऋग्वेद की ऋचाएँ गद्यात्मक हैं,

गीत रूप नहीं। गद्यात्मक होने से उसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीनों प्रकार के वैदिक स्वरों का प्रयोग होता है।...यदि त्रैस्वर्य के स्थान पर एक स्वर माना जाय तो 'काकु' या भिन्न कण्ठध्वनि नहीं बनेगी और मन्त्रों का उच्चारण सामवेद के समान गीतरूप हो जावेगा।" किन्तु (१) ऋग्वेद की ऋचायें गद्यात्मक कहां हैं ? समस्त ऋग्वेद पद्य-बद्ध है। ऋचाओं के सामान्य पाठ में त्रैस्वर्य रहता है, और यज्ञ-कर्म में एकश्रुति, इसका अर्थ यह नहीं है कि छन्दोबद्ध ऋचाएं गद्यात्मक हैं। (२) एकश्रुति होने पर मन्त्रों का उच्चारण सामवेद के समान गीतरूप हो जायेगा, यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि पाणिनि का जो सूत्र 'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' पृष्ठ ९३ पर उद्धृत किया गया है, उसी से स्पष्ट है कि जप, न्यूङ्ख, और साम-गान में एकश्रुति न होकर त्रैस्वर्य रहता है। (इस सूत्र की व्याख्या में काशिका कहती है—सामानि वाक्यविशेषस्था गीतय उच्यन्ते, तत्रैकश्रुतिर्न भवति।)

इस प्रकार उपर्युक्त संशोधन ठीक नहीं हैं। संशोधन क्या होना चाहिए, इसका पता सम्भवतः 'अभिनव भारती' के सत्रहवें अध्याय से लग सकता है, जिसमें 'काकु' आदि की विवेचना की गयी है। ('अभिनव भारती' का यह भाग मुझे उपलभ्य नहीं है।)

३. पृ० १२२ पर 'तत्र' येऽङ्गहारा अङ्गानां हरणानि, अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्तयः, ताभिः सम्पन्ना' यह संशोधित पाठ दिया गया है। मूल पाठ है-समुचितस्थानप्राप्तास्तैः (प्राप्तिस्तैः)। यहाँ प्राप्ताः अथवा प्राप्तिः का संशोधन प्राप्तयः तो ठीक है, किन्तु 'तैः' का संशोधन 'ताभिः' करना अनावश्यक है। तैः (पुंलिङ्ग) का सम्बन्ध ये अङ्गहाराः (पुंलिङ्ग) से है, प्राप्तयः (स्त्रीलिङ्ग) से नहीं, 'समुचितस्थान-प्राप्तयः तो अङ्गहाराः की व्याख्यामात्र है।

४. पृ० २१४ पर उद्धृत श्लोकार्ध का पाण्डुलिपियों में पाठ है—वेष्टित—ग्रथितगुम्फसंहतैः। इसे संशोधित किया गया है—वेष्टितैर्ग्रथितगुम्पसंहतैः (वेष्टितै-ग्रन्थितगुम्फसंहतैः—मुद्रणदोष) इस रूप में, क्योंकि मूल पाठ में 'छन्दोभङ्ग हो जाता है" और वेष्टितैः पाठ से "उस छन्दोदोष का निवारण हो जाता है"(पाठ-समीक्षा)। किन्तु छन्द की दृष्टि से वेष्टितग्रथित—और वेष्टितैर्ग्रथित—में क्या भेद है ?—तैः भी गुरु है, और—त भी संयोग (-ग्र) से पूर्ववर्ती होने के कारण गुरु है। वेष्टित-ग्रथित—पाठ में कोई छन्दोभङ्ग नहीं है। वेष्टित को वेष्टितैः बनाना न केवल अनावश्यक है, प्रत्युत अनुचित भी है, क्योंकि <u>वेष्टित</u> को <u>ग्रथित</u> तथा <u>संहत</u> के साथ समस्त हो कर ही आना चाहिए, अलग तृतीयान्त रूप में नहीं।

संशोधन में उपर्युक्त ढंग की त्रुटियाँ अल्पसंख्यक हैं, और ग्रन्थ के परिमाण को देखते हुए वे नगण्य हैं ; उनसे न संशोधन का महत्त्व कम होता है, न संशोधक-

सम्पादक की साधुवाद-पात्रता में कमी आती है। हाँ, ये त्रुटियाँ विचारणीय अवश्य है; साथ ही "विवेकाश्रित-सम्पादन-पद्धति" का किस सीमा तक अनुसरण किया जाए, यह भी विचारणीय है।

आचार्य विश्वेश्वर जी संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद और उनकी व्याख्या-विवेचना करने में बेजोड़ हैं, यह उनके अब तक अनूदित ग्रन्थों से प्रमाणित हो चुका है। 'अभिनव-भारती' के अनुवाद में भी हमें उनकी विषय-मर्मज्ञता, प्रौढ़ विवेचन-शैली और व्याख्यान-कुशलता पदे-पदे देखने को मिलती है। अनुवाद और भाष्य दोनों ही ग्रन्थ के महत्त्व के अनुरूप हैं।

किन्तु कुछ त्रुटियाँ अनुवाद और भाष्य में भी रह गयी हैं। उदाहरण के लिए—

१. पृ० २२० पर, क्रोध-निरूपण-विषयक मूल ग्रन्थ इस प्रकार दिया गया है—

तत्र चिरकालदुःखानुसन्धिप्राणो विषयगतात्यन्तिकनाशभावना—तदाकांक्षा-प्राणतया सुखदुःखानुवेधवान् क्रोधः, और इसका अनुवाद यह किया गया है—"[किसी अनिष्ट वस्तु के सम्पर्क से] चिरकाल तक दुःख की [अनुसन्धि अर्थात्] प्राप्ति [ही जिसका प्राण है अर्थात् उससे] उत्पन्न होने से [उस अनिष्ट] वस्तु के विषय में [उसके] आत्यन्तिक-नाश की भावना, और [इष्ट वस्तु की अप्राप्ति से उत्पन्न क्रोध के स्थल में क्रोध की पृष्ठभूमि में] उस [इष्ट वस्तु] की [प्राप्ति की] आकांक्षा प्रबल होने से क्रोध सुख-दुःख दोनों के सम्पर्क से युक्त [किन्तु दुःखप्रधान] होता है।"

प्रारम्भिक अंश में कोष्ठक यथास्थान नहीं हैं। चिरकाल तक "दुःख की प्राप्ति से उत्पन्न होने से" का कोई ठीक अर्थ नहीं लगता। सम्भवतः, "दुःख की प्राप्ति से उत्पन्न होने से" कहना अभीष्ट है। किन्तु यह भी ठीक नहीं। "अनुसन्धि" का अर्थ 'प्राप्ति' नहीं, अपितु 'अनुचिन्तन' या 'भावना' करना चाहिए। (पृ० २१९ पर "अनुसन्धि" का अनुवाद 'कामना' किया गया है।) "दुःखानुसन्धिप्राण" का भी अर्थ 'दुःख की अनुसन्धि से उत्पन्न' ठीक नहीं है, "दुःखानुसन्धि ही जिसका जीवन (मुख्य तत्त्व, सारभूत अंश) है", ऐसा कहना अधिक उचित होता। आगे, "अनिष्ट वस्तु के आत्यन्तिक नाश की भावना" यहाँ तक ठीक है। किन्तु—"भावनाकांक्षाप्राणतया" को "भावना—तदाकांक्षाप्राणतया" इस प्रकार शुद्ध करना और "तदाकांक्षा" का अर्थ "इष्टवस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा" करना ठीक नहीं है। क्रोध में इष्ट-प्राप्ति की आकांक्षा कैसे हो सकती है? इष्ट-प्राप्ति न होने और अनिष्ट-प्राप्ति होने से ही

तो क्रोध उत्पन्न होता है ! वस्तुतः यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय अनिष्ट वस्तु के नाश की आकांक्षा से है, और इसीलिए पाण्डुलिपि का पाठ विषयगतात्यन्तिकनाशभावना-कांक्षाप्राणतया ठीक ही है, जिसका अर्थ होगा, "क्रोधविषय के (अर्थात्, जिसके प्रति क्रोध है, उसके) आत्यन्तिक नाश की भावना (कल्पना, विचार) तथा (नाश की) आकांक्षा ही जिसका प्राण है, ऐसा होने से।" क्रोध में, अनिष्ट के नाश की कल्पना अथवा उसे स्वयं नष्ट करने की इच्छा होना स्वाभाविक है। साथ ही, यह कल्पना और इच्छा सुखमयी भी है। इसीलिए क्रोध को दुःख-प्रधान किन्तु "सुखानु-विद्ध" माना गया है। ['नाशभावनाकांक्षा' का अर्थ 'नाश हुआने (भावन) की इच्छा' भी हो सकता है।] मूल का अन्तिम अंश संशोधनीय जान पड़ता है। सुख-दुःखानुवेधवान् क्रोधः के स्थान पर सुखानुवेधवान् क्रोधः होना चाहिए। क्रोध दुःख-प्राण है, यह पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ अनिष्ट-नाशेच्छा-रूप सुखानुवेध भी क्रोध में रहता है, यही कहना अपेक्षित है—ठीक उसी प्रकार जैसे पहले (पृ० २१६) हास के विवेचन में 'अल्पदुःखानुवेधः सुखानुगतः' कहा है, अथवा जैसे बाद में (पृ० २२२) प्राक्तनसुखस्मरणानुविद्धः सर्वथैव दुःखरूपः शोकः, तथा, 'सुखानुविद्धा जुगुप्सा' कहा है। फलतः सुखानुवेधवान् क्रोधः यही पाठ संगत है, सुखदुःखानुवेधवान् अशुद्ध है।

२. पृ० २२४ पर इस सुखदुःखरूपता के विवेचन में भी थोड़ी गड़बड़ हो गयी है। मूलग्रन्थ में रसों की सुखदुःखरूपता की नहीं, रति, हास, क्रोध आदि भावों की सुखदुःखरूपता का निरूपण किया गया है। रस तो सदा सुखरूप ही होते हैं, शृंगार भी और करुण भी। स्वयं 'अभिनव-भारती' में ही, पृ० ४७८ पर, कहा गया है—तत्र सर्वेऽमी (रसाः) सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्या-ऽऽनन्दसारत्वात्; तथा पृ० ५०७ पर—अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनं (रसरूपेण) आस्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का। फलतः, विश्वेश्वर जी का यह कहना ठीक नहीं है कि "नाट्यरसों को उन्होंने (अभिनव गुप्त ने) केवल सुखात्मक न मानकर सुख-दुःख उभयात्मक माना है। इसी आधार पर उन्होंने शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत चार रसों को सुखप्रधान; तथा रौद्र, भयानक, करुण एवं बीभत्स इन चार रसों को दुःखप्रधान रस माना है। सुखात्मक रसों में गौण रूप से दुःख का और दुःखात्मक रसों में गौण रूप से सुख का सम्बन्ध भी रहता है। यह उनका सिद्धान्त है। परन्तु उत्तरवर्ती कुछ आचार्य रसों को केवल सुखात्मक मानते हैं।" (पृ० २२४) अभिनव-गुप्त रसों को सर्वथा सुखरूप ही मानते हैं।

३. पृ० ४६० पर, केलीकन्दलितस्य इत्यादि श्लोक का तीसरा चरण है—आघ्रातोऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः। इसका अनुवाद किया गया है, "तुम्हारे मुखकमल से उत्पन्न आसव पीने से नहीं, केवल सूँघने मात्र से (तनिक से सम्पर्क से) ही विकार को उत्पन्न करने वाला है", तथा पाठ-समीक्षा में कहा गया है,

"(श्लोक का) पाठ ठीक नहीं है। 'वक्त्राम्बुजन्मासवः' मुखकमल से उत्पन्न आसव यह अर्थ अभिप्रेत है। परन्तु उसमें 'अम्बुज' शब्द नहीं आया है, केवल 'अम्बु' शब्द दिया गया है। उससे तो मुख के जल से उत्पन्न यह अर्थ होता है, जो उचित नहीं प्रतीत होता है। और छन्द की रचना में 'अम्बु' के आगे 'ज' बढ़ाने का अवसर भी नहीं है। इसलिए यह पाठ दोष नहीं, अपितु कवि की अव्युत्पत्ति का सूचक है।"

यह ठीक नहीं है। वक्त्राम्बुजन्मासवः का अर्थ है मुख-कमल का आसव, अर्थात् अधरासव। वक्त्राम्बुजन्म=मुख-कमल। "मुखकमल से उत्पन्न आसव" कहना अनावश्यक है, बल्कि अनुचित भी है। आसव मुखकमल में वर्तमान है, उससे उत्पन्न नहीं है। कालिदास ने रघुवंश में 'मुखासव' शब्द का प्रयोग किया है, और जयदेव ने गीतगोविन्द में कहा है 'देहि मुखकमलमधुपानम्।' मुखकमल और वक्त्राम्बु-जन्मासव एक ही चीज है। फलतः यहाँ 'ज' आदि बढ़ाने का प्रश्न भी नहीं उठता। श्लोक का पाठ बिलकुल ठीक है। कवि अव्युत्पन्न नहीं है।

४. पृ० ४६१ पर, यद्विश्रम्य विलोकितेषु इत्यादि श्लोक में, कृष्ण के अनुराग में दिन पर दिन कृश होती जाने वाली गोपियों का वर्णन है। चौथा चरण इस प्रकार है—कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः। इसका अनुवाद दिया गया है, "कृष्ण के तरुण होने और गोपवनिताओं के तरुणी होने के कारण उनके वेष का यही हाल होना है।" श्लोक में गोपियों की दशा का वर्णन है, कृष्ण की नहीं। इसलिए अनुवाद के "उनके" का अर्थ 'गोपियों के' होना चाहिए। किन्तु, "कृष्ण के तरुण होने और गोपियों के तरुणी होने के कारण उनके वेष का यही हाल होता हैं" पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण और गोपियाँ दोनों ही विरह-व्यथित हैं। यह गड़बड़ हुई इसलिए है कि अनुवाद में 'कृष्णे यूनि' और 'सयौवनासु वनितासु' दोनों सप्तमियों का एक ही अर्थ किया गया है, 'तरुण.. तरुणी होने के कारण।' वस्तुतः 'कृष्णे यूनि' का अर्थ है 'कृष्ण के (अब) युवा हो जाने पर' और 'सयौवनासु वनितासु' का अर्थ है 'तरुणी-वनिता-विषयक, तरुणी वनिताओं की।' गोपवनिताएँ पहले ही से सयौवना हैं, 'सयौवना' विशेषण उद्देश्य-गत है। कृष्ण अब युवा हुए हैं, 'यूनि' विशेषण विधेय-गत है। इसके अतिरिक्त, "उनके वेष का यही हाल होना है" भी ठीक नहीं है। हिन्दी में 'वेष' प्रायः वस्त्रादि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'उनकी यही दशा है' कहने से अभिप्राय स्पष्ट हो सकता था।

संशोधन की त्रुटियों के समान अनुवाद की ये त्रुटियाँ भी नगण्य ही हैं। आचार्य विश्वेश्वर जी ने 'अभिनव-भारती' जैसे क्लिष्ट और पाठ-दोषों से भरे हुए ग्रन्थ की सैकड़ों गुत्थियाँ सुलझायी हैं और बीसियों दुर्बोध स्थलों की विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्या की है। इतने बड़े काम की तुलना में दो-चार त्रुटियों को 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते' ही कहना चाहिए। वस्तुतः विश्वेश्वर जी ने, और डॉ० नगेन्द्र ने,

'हिन्दी अभिनव-भारती' का प्रकाशन करके संस्कृत और हिन्दी दोनों की बहुत बड़ी सेवा की है, जिसके लिए वे हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

अन्त में एक बात और। 'अभिनव-भारती' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की छपाई भी उतनी ही सावधानी से होनी चाहिए थी, जितनी सावधानी से उसका संशोधन, सम्पादन और अनुवाद-भाष्य किया गया है। यह देखकर दुःख होता है कि ग्रन्थ में छपाई की अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं, जिनका शायद दशमांश ही 'शुद्धिपत्र' में दिया गया है। आशा है, इस भाग के अगले संस्करण में, तथा अन्य भागों के पहले संस्करणों में भी, इस सम्बन्ध में पूरी सावधानी रखी जाएगी।

काव्यप्रकाश

डॉ० सूर्यकान्त

संस्कृत के वैयाकरणों में जो समादर एवं महत्त्व पाणिनि मुनि को प्राप्त है लगभग वही समादर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों में आचार्य मम्मट को दिया जाता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के उपरान्त संस्कृत के वैयाकरणों ने उसी ग्रन्थ की व्याख्या तथा उसी पर भाष्योपभाष्य करने प्रारम्भ कर दिये थे जिसका एक परिणाम यह हुआ कि पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के ग्रन्थ पाठ्यपद्धतियों से धीरे-धीरे विलुप्त होते चले गये। संस्कृत के काव्यशास्त्र में मम्मट के काव्यप्रकाश पर भी यही बात लागू होती दीख पड़ती है। मम्मट से पश्चवर्ती आचार्यों ने प्रायः इनके ही ग्रन्थ को लेकर अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण किया—हाँ केवल आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ही इस बात के अपवाद अवश्य हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्यप्रकाश से पूर्ववर्ती ग्रन्थ पाठ्य-परम्परा से धीरे-धीरे विलुप्त हो गये। किसी आचार्य की महत्ता का मूल्यांकन करने के सिए केवल यही एक महान् तथ्य पर्याप्त समझा जा सकता है। आज भी संस्कृत काव्यशास्त्र का जिज्ञासु इस ग्रन्थ के अध्ययन के बिना काव्यशास्त्र का सम्यक् एवं यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

ऐसे महान् ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ निर्मित हुईं, जिनकी संख्या ७० के लगभग बतायी जाती है। वस्तुतः इस ग्रन्थ पर टीका-निर्माण भी टीकाकार के पांडित्य का परिचायक समझा जाता रहा है, यहाँ तक कि ग्रन्थ पर टीका लिखने के आधार पर काव्यप्रदीपकार गोविन्दठक्कुर को आचार्य पद से गौरवान्वित किया गया है। ये टीकाएँ काव्यप्रकाश के गम्भीर शास्त्रीय विवेचन को तो सुलझाती ही हैं, साथ ही किन्हीं स्थलों पर ग्रन्थ की विषय-सामग्री के स्रोतों का भी निर्देश करती हैं। इससे प्रतीत होता है कि एक ओर मम्मट ने एक प्रकाण्ड पण्डित के समान अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के—भरत, भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, महिमभट्ट, मुकुलभट्ट, भोजराज, अग्निपुराणकार आदि के—ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया

मूल लेखक : मम्मट।
हिन्दी-व्याख्याकार : आचार्य विश्वेश्वर।
प्रकाशक : ज्ञानमण्डल वाराणसी।
पृष्ठसंख्या ६६+५६७।   मूल्य : १८) रु०

था, और दूसरी ओर एक विशदमति सम्पादक के रूप में लगभग एक सहस्र वर्ष की काव्यशास्त्रीय सामग्री का एकत्र व्यवस्थापन ध्वनि-सिद्धान्त को महत्ता देते हुए इसी के पृष्ठाधार पर सम्पन्न किया।

संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषा में भी इस ग्रन्थ का अनुवाद किया गया। हरिमंगल मिश्र का हिन्दी सरलार्थ काव्यशास्त्र के एक सामान्य छात्र का मार्गप्रदर्शन करता है, तथा डॉ० सत्यव्रतसिंह का हिन्दी-भाष्य जिज्ञासुजनों के लिए सामग्री उपस्थित करता है। इन दोनों अनुवादों के होते हुए भी आचार्य विश्वेश्वर ने काव्यप्रकाश की हिन्दी-व्याख्या प्रस्तुत करके आचार्य मम्मट के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि तो अर्पित की ही है, साथ ही काव्यशास्त्र के छात्रों एवं मनीषियों का महान् उपकार भी किया है। इस दिशा में आचार्य जी चार महान् ग्रन्थ प्रस्तुत कर चुके हैं— हिन्दी ध्वन्यालोक, हिन्दी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, हिन्दी वक्रोक्तिजीवित और हिन्दी अभिनवभारती। आचार्य जी की यह पांचवीं रचना उनकी प्रौढ़ व्याख्या-शैली तथा उनके प्रकाण्ड पाडित्य का निदर्शन है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका में उन्होंने काव्यशास्त्र के विभिन्न नाम और इस शास्त्र के उद्गम पर प्रकाश डालने के उपरान्त इसका इतिहास प्रस्तुत किया है, जिसका कालनिर्णय निम्न है—

१. प्रारम्भ काल : अज्ञात काल से भामह तक

२. रचनात्मक काल : भामह से आनन्दवर्द्धन तक (६०० वि०-८०० वि०)

३. निर्णयात्मक काल : आनन्दवर्द्धनकाल से मम्मट तक (८०० वि०-१००० वि०)

४. व्याख्या काल : मम्मट काल से जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डित तक (१००० वि०-१७५० वि०)

इसी प्रसंग में विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों का संक्षिप्त विवेचन देने के उपरान्त, भरत से विश्वेश्वर पण्डित तक ४१ काव्याचार्यों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि होना चाहिए था सर्वाधिक परिचय मम्मट का ही दिया गया है। इसमें उनके काल तथा वंश का निर्णय करने के उपरान्त इस सम्बन्ध में पूर्वापरपक्ष-निर्देश-पूर्वक विस्तृत प्रकाश डाला गया है कि काव्यप्रकाश की रचना में अल्लट नामक आचार्य का सहयोग किस अंश और किस रूप तक रहा है। इस प्रकार यह भूमिका-भाग अधिकांशतः काव्यशास्त्र के इतिहास से सम्बद्ध है, जिस पर अंग्रेज़ी में एस० के० डे० तथा हिन्दी में कन्हैयालाल पोद्दार और बलदेव उपाध्याय प्रकाश डाल चुके थे; प्रस्तुत इतिहास अधिकांशतः उन्हीं तथ्यों, निष्कर्षों और मान्यताओं पर आधृत होता हुआ भी स्वच्छ एवं सारगर्भित प्रतिपादन की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

ग्रन्थ के प्रमुख खण्ड के दो भाग हैं—मूल भाग और व्याख्या भाग। काव्यप्रकाश कारिका-वृत्ति शैली में लिखित है। इसके अधिकतर संस्करणों में कारिका-भाग को विभिन्न काव्यांगों के लक्षण एवं स्वरूप-निर्धारण के आधार पर छोटे-छोटे खण्डों में पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किया गया है तथा इन्हें 'सूत्र' नाम से अभिहित किया गया है। मूल-भाग में आचार्य विश्वेश्वर ने भी यही प्रणाली अपनायी है। व्याख्या-भाग में इन्होंने पहले मूल पाठ का सरल अनुवाद किया है। इसके उपरान्त अनेक स्थलों पर उस विषय से सम्बद्ध पूर्व स्रोत का निर्देश अत्यन्त गम्भीर और स्वच्छ रीति में प्रस्तुत करके पाठक को यह मानने पर बाध्य कर दिया है कि मम्मट पूर्ववर्ती ग्रन्थों का प्रायः ऋणी होता हुआ भी एक व्यवस्थापक आचार्य है। इस व्याख्या की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि मम्मट की सुसम्बद्ध एवं संक्षिप्त भाषा-शैली हिन्दी में अत्यन्त सुबोध संपन्न हुई है तथा जटिल विषयों को हृदयंगम कराने में अधिकांश सक्षम बन गयी है, उदाहरणार्थ—द्वितीय उल्लास में शब्दशक्ति प्रकरण के अन्तर्गत तात्पर्यार्थ वृत्ति तथा संकेतग्रह-विषयक स्थल और लक्षण-विषयक प्रसंग; चतुर्थ उल्लास में भरतसूत्र की व्याख्या और पंचम उल्लास में व्यञ्जना की स्थापना का प्रसंग। प्रस्तुत व्याख्या करते समय आचार्य जी के सम्मुख अनेक टीकाएँ हैं। वे आवश्यक स्थलों पर उनका अभिमत देते जाते हैं। उदाहरणार्थ चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के भेदोपभेदों का प्रसंग द्रष्टव्य है। इस व्याख्या की अन्य विशेषता यह है कि जो स्थल काव्यप्रकाश में सामान्य रूप से निर्दिष्ट हुए हैं उन पर भी विवेचनात्मक प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ-काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, ध्वनि और स्फोट, करुण और विप्रलम्भ श्रृंगार का पारस्परिक भेद, शान्त रस आदि। रसविषयक कतिपय प्रसंगों में आचार्य जी ने आधुनिक मनोविज्ञान के आलोकाधार पर भी प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ के अन्त में दो परिशिष्ट दिये गये हैं। प्रथम परिशिष्ट में ग्रन्थ के सभी सूत्रों को और द्वितीय परिशिष्ट में सभी उदाहरणों को अकारादि क्रम में संग्रहीत किया गया है। इनसे सामान्य छात्रों, विशेष अध्येताओं एवं अनुसन्धाताओं—सबको जिज्ञासा-निवृत्ति में सहायता मिलेगी।

अन्त में मैं आचार्य विश्वेश्वर जी का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ। उनकी यह रचना उनकी प्रौढ़ एवं विकसित व्याख्या-शैली का, तथा उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का अद्भुत निदर्शन है। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की विकसित परम्परा से समुज्ज्वल मम्मट के इस ग्रन्थ में आचार्य जी जैसे बहुशास्त्रज्ञ विद्वान् के लिए अत्यधिक सामग्री के व्यवस्थित संकलन का पर्याप्त अवकाश था और इस अवसर से उन्होंने पूर्ण लाभ उठाया है। परिणामस्वरूप उनकी यह व्याख्या आकर-ग्रन्थ के रूप में समादृत रहेगी और हिन्दी की शास्त्रीय आलोचना-पद्धति के निर्माण में आलोक-स्तम्भ का काम देती रहेगी।

भारतीय साहित्यशास्त्र

डॉ० बच्चनसिंह

इधर हिन्दी में भारतीय साहित्यशास्त्र की अच्छी चर्चा हुई है, इस सम्बन्ध में कई ग्रन्थों का प्रकाशन भी हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक इसी श्रृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। मूलतः यह पुस्तक मराठी में लिखी गयी थी, फिर इसका हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत कर दिया गया है। इस पुस्तक की विशेषता लेखक के उस दृष्टिकोण में संनिहित है जिसके आधार पर उसने साहित्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों को अलग-अलग इकाई में अथवा एक दूसरे के विरोधी के रूप में न देखकर एक ऐतिहासिक विकास-क्रम में देखा है। यह प्रयत्न अपने आप में कम श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता। इसकी दूसरी विशेषता है इसका लोकप्रिय ढंग से लिखा जाना। जिस प्रकार यूरोप में काव्यशास्त्र का इतिहास एक विकास-क्रम में प्रस्तुत किया गया है, उसी प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र को एक विकास-क्रम में प्रस्थापित करने का कार्य यदि कोई अपने हाथ में ले तो बहुत अच्छा हो।

'विषय प्रवेश' में लेखक ने एक श्लोक उद्धृत करते हुए अपनी प्रतिपादन-पद्धति का भी उल्लेख कर दिया है—

सरितामिव प्रवाहाः तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः॥

आरम्भ में समग्र काव्य के विवेचन के लिए 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है—भामह—काव्यालंकार, उद्भट—काव्यालंकार सार संग्रह, वामन—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, रुद्रट—काव्यालंकार। रुद्रट के बाद काव्य के विभिन्न अंगों की विवेचना होने लगी और उन्हें दूसरे प्रकार की संज्ञा मिली। जैसे, काव्य-मीमांसा, ध्वन्यालोक, व्यक्तिविवेक आदि। सन् ९०० ई० के लगभग 'साहित्य' शब्द व्यापक अर्थ में रूढ़ हो गया। लेखक का कथन है कि 'अलंकार' और 'साहित्य' की तरह 'काव्य-लक्षण' शब्द भी काव्य-विवेचना के लिए व्यवहृत होता था।

लेखक : गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे
प्रकाशक : पाप्यूलर बुकडिपो, बम्बई
मूल्य : १२·५० रुपये

'सौन्दर्यम् अलंकारः' की चर्चा करते हुए उसने सौन्दर्य-प्रतीति को ही काव्यात्मा कहा है। अलंकारशास्त्र में अन्तर्भुक्त काव्यसौन्दर्य की विवेचना को आधुनिक एस्थेटिक नहीं मान लेना चाहिए। आधुनिक पंडित कहीं-कहीं इस तरह मोहग्रस्त भी हो उठे हैं। लेखक का कहना है—'अलंकार शास्त्र में काव्यसौन्दर्य की विवेचना है किन्तु इसी आधार पर उसे एस्थेटिक कहना ठीक न होगा। एस्थेटिक में सभी ललित कलाओं के सौन्दर्य की विवेचना आती है। सभी—इन्द्रियग्राह्य एवं केवल मनो-ग्राह्य-कलाओं का सौन्दर्य उस शास्त्र का विषय है। काव्यशास्त्र उसका एक अंश मात्र हो सकता है। किन्तु यह अंश सम्पूर्ण शास्त्र नहीं हो सकता।

यहीं पर कवि, नागरक, सहृदय का उल्लेख करते हुए विदग्ध-गोष्ठियों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। लेखक का अनुमान है कि काव्यशास्त्र के निर्माण, मोड़ और परिवर्तन में इन गोष्ठियों का महत्त्वपूर्ण योग रहा होगा। योरोपीय काव्य-शास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के विकास-क्रम से परिचित लोगों को ज्ञात है कि वहाँ पर गोष्ठियों ने उनके निर्माण में पर्याप्त योग दिया है। इसी सिलसिले में उसने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अभ्यासियों को सावधान किया है कि कोरी मौलिकता ले आने की आकांक्षा बहुत-सी भद्दी भूलों की सृष्टि भी कर सकती है। आजकल शास्त्रीय सिद्धान्तों की इस ढंग से पुनर्व्यवस्था की जा रही है कि समस्त शास्त्रीय परम्परा के विकृत हो जाने का खतरा है। उदाहरणार्थ 'रस विमर्श' ग्रन्थ में वीर रस का स्थायी भाव 'अमर्ष' प्रस्तावित किया गया है। आलोच्य ग्रन्थ का लेखक नयी व्यवस्था का विरोधी नहीं है। पर वह विकृति-मूलक व्यवस्था का समर्थक अवश्य नहीं है। इसके लिए वह आवश्यक समझता है कि व्यवस्थापक समूची शास्त्र-व्यवस्था पर पुनर्विचार करे और देखे कि एक स्थान पर परिवर्तन करने से सम्पूर्ण शास्त्र-व्यवस्था में क्या परिवर्तन अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में संस्कृत-ग्रन्थों की मान्यताओं को अविरल रूप में प्रस्तुत करना पंडितों का पहला कर्त्तव्य है। आलोच्य ग्रन्थ के लेखक श्री देशपांडे को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में हो चुके हैं।

आगे के अध्याय में लेखक 'नाट्यशास्त्र में काव्य-चर्चा' का उल्लेख करते हुए उन कारणों पर प्रकाश डालता है जो काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र से अलग करते हैं। मुख्य रूप से 'लक्षणों' का अलंकारों में परिवर्त्तन इसका मुख्य विषय है। इसी अध्याय में उसने भामह का अलग सम्प्रदाय न मानकर भरत और भामह का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। लेखक की मान्यता रामस्वामी, शंकरन्, काणे सुशीलकुमार डे की स्वीकृतियों के विरुद्ध पड़ती है। इस सम्बन्ध में लेखक की उपपत्तियाँ नई ही नहीं हैं वरन् पाठकों को नए ढंग से सोचने के लिए बाध्य भी करती हैं। ये उपपत्तियाँ लेखक के पांडित्य तथा नई व्याख्यात्मक दृष्टि की परिचायक हैं। उसका

स्पष्ट मत है '............साहित्यशास्त्र में भिन्न-भिन्न मत सम्प्रदाय हुए ऐसा समझने की जो आधुनिक अभ्यासकों की प्रवृत्ति है वह हमारे विचार में ठीक नहीं है। भरत का रससम्प्रदाय, भामह का रस के विरोध में अलंकारसम्प्रदाय, वामन का रीतिसम्प्रदाय, आनन्दवर्धन का ध्वनिसम्प्रदाय इस प्रकार की भाषा से हम इतने अधिक परिचित हुए हैं कि इस शास्त्र का कुछ विकास हुआ है यह कल्पना हमारे मन को स्पर्श तक नहीं करती। हमारा सत्य मन है कि साहित्यशास्त्र की विचार-धारा में विकास होता गया है और यह विकास उपलब्ध साहित्यग्रन्थों के आधार से उपपन्न हो सकता है।'

इस ऐतिहासिक क्रम-विकास के विभिन्न मंजिलों की चर्चा उसने अत्यन्त बोध्यगम्य ढंग से की है। भामह-दंडी से रुद्रट के विकास को एक क्रम में देखा जा सकता है। भामह-दंडी को सौन्दर्य काव्य-धर्म के रूप में उपलब्ध हुआ। बाद में आचार्यों ने देखा कि पूर्वाचार्यों के अलंकारों में कुछ सौन्दर्य की प्रतीति के लिये आवश्यक हैं कुछ केवल पोषक हैं। इसके फलस्वरूप 'गुणालंकार' के विवेक का प्रारम्भ हुआ। रुद्रट ने रस पर अधिक जोर दिया। यहीं से शब्दार्थ का विवेचन आरम्भ हुआ और आनन्दवर्धन ने उसकी विशद व्याख्या की। इस सम्बन्ध में पुनः राजशेखर से लेकर मम्मट तक की विवेचना प्रस्तुत की गई है।

अन्तिम अध्याय में लेखक ने पंडितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना है, क्योंकि उसमें साहित्यशास्त्र के पुनर्लेखन का पांडित्य-पूर्ण प्रयास किया गया है। लेखक ने पंडितराज के रसविवेचन, भावध्वनि आदि के मौलिक विश्लेषण की संक्षिप्त चर्चा की है। यही नहीं भाषा-काव्य से प्रभावित होकर भी उन्होंने क्रमागत काव्यशास्त्र को नया रूप देने का विचार किया होगा। काव्य-शास्त्र के विवेचन के साथ-साथ उनकी काव्य-रचना भी भाषा-काव्य से प्रभावित ज्ञात होती है।

विचारों की स्वच्छता, दृष्टिकोण की नवीनता और विवेचन की गम्भीरता की दृष्टि से यह अपने ढंग की अकेली पुस्तक है। भारतीय काव्यशास्त्र को एक अविच्छिन्न विकास-क्रम में देखने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण और श्लाघ्य प्रयास है। यदि इसकी भाषा का कुछ और संस्कार कर दिया जाता तो यह हिन्दी की प्रकृति के अधिक अनुकूल होकर और भी श्रेयस्कर सिद्ध होती। पुस्तक के उत्तरार्ध की उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा है।

सौन्दर्य-तत्त्व

डॉ० हरद्वारी लाल

'सौन्दर्य-तत्त्व' डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त द्वारा, बंगाली में रचित पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। भूमिका-लेखक और अनुवादक डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित हैं। भूमिका के अतिरिक्त पुस्तक में चार अध्याय हैं। पारिभाषिक शब्दावली तथा नामानुक्रमणिका अन्त में दी गई है।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में सौन्दर्य-शास्त्र पर मौलिक और गम्भीर ग्रन्थों का अभाव है। सौन्दर्य-तत्त्व मौलिक तो नहीं किन्तु गम्भीर अवश्य है। इसमें दर्शन का गाम्भीर्य है। 'सुन्दर' का तत्त्व-चिन्तन इसमें किया गया है। स्पष्ट है कि तत्त्व-चिंतन में दार्शनिक दृष्टिकोण की विशिष्टता होती है। पश्चिम में प्लेटो से लेकर क्रोचे तक तत्त्व-चिन्तकों ने जीवन और जगत् की अन्य समस्याओं के साथ 'सुन्दर' का भी विवेचन किया है। सुप्रसिद्ध लेखक डॉ० दासगुप्त ने सौन्दर्य-तत्त्व के सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास को संक्षेप किन्तु स्पष्ट और सशक्त विवेचना के रूप में प्रस्तुत किया है। उद्भट दार्शनिक के हाथों में यह विवेचना युक्ति और तर्कों से सुगठित, विकस्वर विचारों से सम्पन्न तथा दर्शन की गम्भीर शब्दावली से शालीन हो गई है। भारतीय सौन्दर्य-दर्शन भी तुलना और विवेचन के लिए प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत अलंकार-शास्त्रियों की यत्र-तत्र विशद व्याख्या की गई है। ध्वन्यालोक, रसगंगाधर आदि मूर्द्धन्य ग्रन्थों से सारगर्भित उद्धरण लेकर भारतीय विचार-धारा को स्पष्ट किया गया है। अन्त में, उपसंहार में पौर्वात्य और पाश्चात्य विचार-सरणियों के सामञ्जस्य की ओर दिशा-संकेत किया गया है। पद-पद पर डॉ० दासगुप्त के विशाल अध्ययन, गम्भीर दार्शनिक दृष्टि, संयत विवेचन और भाषा-शक्ति का परिचय मिलता है।

भूमिका यद्यपि उसी स्तर की नहीं है तथापि गम्भीर ग्रन्थ के समझने में सहायक अवश्य है।

लेखक : डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त
अनुवादक : डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित
प्रकाशक : भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
मूल्य : ७ रुपये

ग्रन्थ की सीमाएँ तथा ग्रन्थकार के अभिनिवेश भी स्पष्ट हैं। अनुवाद बहुत हद तक सफल होते हुए भी जहाँ-तहाँ अस्पष्ट अप्रचलित पदों के प्रयोग से दुरूह हो गया है। अंग्रेजी में सोचकर मातृभाषा (बंगला) में लिखने के प्रयत्न से वाक्य भी कहीं-कहीं अजीब से हो गये हैं। सबसे बड़ा दोष यह है कि सौन्दर्य-तत्त्व को केवल तर्कों के बल से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है जब कि हम जानते हैं कि तर्कोऽप्रतिष्ठः। फलतः सारी पुस्तक के पढ़ने पर भी हम किसी निर्णीत सत्य को नहीं पकड़ पाते। वस्तुतः प्रश्न यह है कि क्या दर्शन अपनी सामान्य-गामिनी तथा तर्कों पर आश्रित दृष्टि द्वारा 'सुन्दर' की अनुभूति को विशद बना सकता है? दार्शनिक स्यात् सामान्य सौन्दर्य की परिभाषा बना सके, किन्तु इसमें अनुभूति के ज्वलन्त और जीवन्त तत्त्व नहीं रह सकते। अतएव दार्शनिक दृष्टिकोण सीमित रूप में उपादेय होते हुए भी समस्त सत्य का उद्‌घाटन नहीं करता अर्थात् जीवित सत्य को प्रस्तुत नहीं करता। यही कारण है कि सौन्दर्य-शास्त्र में रसिक, कलाकार, कलाविद्, समाज, नीति, मनोविज्ञान आदि दृष्टि-बिन्दुओं का इतना महत्त्व है।

प्रस्तुत पुस्तक ने कुछ जटिल समस्याओं का समाधान किया है, जैसे, सौन्दर्य क्या है? यह एक आध्यात्मिक तथ्य है या बाह्य वस्तु? यह एक मौलिक अनुभूति है या केवल अस्पष्ट विचार या क्रिया का एक रूप? किन्तु समाधान देने से भी अधिक यह ग्रन्थ भ्रान्तियाँ उत्पन्न करने में सफल हुआ है। स्यात् यह सुनकर आश्चर्य हो कि विद्वान् ग्रन्थकार मनोविज्ञान की नवीनतम प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ है, नहीं तो कलाकार और प्रेक्षक दोनों की मनोदशा, प्रेरणा, आन्तरिक चेष्टाओं को समान न कहता, मानो लेखक के अनुसार, प्रेक्षक भी सृजन के लिए असमर्थ कलाकार ही तो है। विद्वान् लेखक ने प्रतिभा के कारयित्री और भावयित्री दो स्वरूपों के अन्तर को भी नहीं समझा—ऐसा प्रतीत होता है। देखिए पृष्ठ १०५—"सारांश यह है कि सौन्दर्य की सृष्टि और उसका उपभोग करने वाले दोनों व्यक्तियों के उपचेतन के संस्कारों के उद्‌बोधन में पूर्ण साम्य होता है। उनके बीच परिमाणगत पृथक्ता अवश्य है।" इतना ही नहीं, निर्णयात्मक न होने के कारण ग्रन्थ में वदतोव्याघात भी हैं। देखिए पृष्ठ १०६ पर: "किन्तु हमारा विचार है कि अभिव्यक्ति की शक्ति ही परिमाण-भेद से रसबोध की शक्ति नहीं बनती, अपितु दोनों में प्रकार-गत भेद भी रहता है।" सच तो यह है लेखक साधारण किन्तु तथ्यपूर्ण कहावत भी भूल गया—कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः।

ग्रन्थ की अन्य भ्रान्तियाँ संक्षेप में निम्नलिखित हैं:—

(१) प्रकृति सुन्दर है या कला;
(२) सौन्दर्य बाह्य है या आध्यात्मिक;
(३) अभिव्यक्ति कला है या कृतित्व;

(३) कला में शिल्प का क्या स्थान है ?
(५) साहित्य और कला में क्या अन्तर है ?
(६) सौन्दर्य मौलिक अनुभूति है या अन्य मानसिक क्रिया का गुणमात्र ?
(७) कला में अर्थ रहता है या नहीं।

इन सब प्रश्नों पर परस्पर-विरोधी विचार ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये हैं। और क्योंकि प्रत्येक स्थल पर भिन्न तर्कों का सहारा लिया गया है, पाठक किसी निर्णय पर न पहुँचने के कारण भ्रान्त और चकित हो उठता है।

एक महाभ्रान्ति यह उत्पन्न हो गई है कि हम काव्य, मूर्ति, भवन, चित्र, संगीत, नृत्य आदि में अनुभूत सौन्दर्य को विशिष्ट मानते हैं, न कि समान। इन अनुभूतियों को छानते-छानते हम सौन्दर्य की एक सामान्य परिभाषा बना सकते हैं, विशिष्ट तत्त्वों को त्यागकर और समानों का संश्लेष करके। किन्तु यह परिभाषा सौन्दर्य के विषय में सब कुछ बताने पर भी कुछ नहीं बता सकती। कारण यह है कि 'सुन्दर' एक जीवन्त अनुभव है जो विशिष्ट होकर ही सारवान् हो सकता है। 'सुन्दर' को दर्शन के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना मानो 'वीक्षा' को 'अन्वीक्षा' से, 'वर्त्तमान' को 'अतीत' से, प्रकाश को अन्धकार से दिखाने का प्रयत्न मात्र है।

यह निश्चय है कि दार्शनिक शैली की सीमित उपयोगिता है।

हिन्दी-भाषियों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में यह अपूर्व ग्रन्थ है। इससे दूसरे ग्रन्थों और नये विचारों तक पहुँचने के लिए अवश्य प्रेरणा मिलेगी। अनुवाद बहुत ही सफल हुआ है। ग्रन्थ अपने आकार-प्रकार, आभ्यन्तरिक आत्मा और कलेवर, दोनों ही रूपों में सुन्दर है—इसमें सन्देह नहीं।

❀ ❀ ❀

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : षोडश भाग

[हिन्दी का लोक-साहित्य]

डॉ० सत्येन्द्र

हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना का सभी ने हार्दिक स्वागत किया था। इस योजना के फल अब मिलने लगे हैं। पहला फल 'प्रथम खंड' के रूप में और दूसरा फल 'षष्ठ खंड' के रूप में हमारे सामने पहले ही आ चुके हैं। अब यह तीसरा फल : 'हिन्दी का लोक साहित्य' हमें प्राप्त हुआ है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने प्रकाशनों के सम्बन्ध में एक प्रतिष्ठा बना ली है। इसके प्रकाशनों के सम्बन्ध में धारणा है कि इनमें प्रामाणिक सामग्री रहती है, एक शुद्ध सारस्वत दृष्टि मिलती है, क्षुद्रता तथा अहंकार को इसके प्रकाशनों में स्थान नहीं मिलता। भद्रता और शालीनता इनमें रहती है। इन गुणों के साथ हम समझे हुए थे कि इस इतिहास में सम्यक् दृष्टि के साथ सामग्री-विषयक परिपूर्णता होगी, प्रतिपादन और निष्कर्षन में वैज्ञानिक प्रणाली अपनायी जायगी। इसीलिए इस इतिहास की व्यग्रता से बाट जोही जा रही थी।

'हिन्दी का लोकसाहित्य' हाथ में आया तो मन खिल गया, उसके विशाल कलेवर में २८+१८१+७८१=९९० पृष्ठ हैं। मुख पृष्ठ आदि नयनाभिराम-सादा पर प्रभावोत्पादक। और राहुल जी जैसे महापंडित और श्रीकृष्ण उपाध्याय जैसे लोकसाहित्य-तत्त्वज्ञ द्वारा सम्पादित यह 'हिन्दी का लोकसाहित्य' निश्चय ही महत्त्व-पूर्ण और उपयोगी होगा। हिन्दी लोक-साहित्य के प्रेमी के नाते यह ग्रंथ पाते ही मन पढ़ जाने के लिए ललक उठा।

इस खंड में हिन्दी क्षेत्रीय विविध बोलियों के प्रायः प्रामाणिक विद्वानों से ही तत्क्षेत्रीय निबन्ध लिखाये गये हैं, बहुत सी ज्ञातव्य और मननीय सामग्री होने से यह ग्रंथ अभिनन्दनीय विदित होता है।

किन्तु जब कुछ गहरे पैठते हैं तो पहले तो कई बातें प्रश्न रूप में आती हैं। पहला प्रश्न यही आता है कि इस 'बृहत् इतिहास' के लोक-साहित्य विषयक खंड में

सम्पादक : सर्वश्री म० म० राहुल सांकृत्यायन तथा डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय।
प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। मूल्य : २५) रु०

'प्रस्तावना' जैसी चीज़ अपेक्षित है या नहीं ? अपेक्षित है तो उसका प्रतिपाद्य क्या होना चाहिये ? तथा उसकी शैली कैसी होनी चाहिये ? प्रस्तावना में जो विवेचन दिया गया है वह भी कहीं उपलब्ध नहीं है ? स्वयं प्रस्तावना-लेखक डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय की पुस्तक 'लोकसाहित्य भूमिका' में ही प्रायः इन सभी का विवेचन हो चुका है, और प्रायः उन्हीं की पुनरावृत्ति इसमें की गई है। इसके अतिरिक्त भी अन्य पुस्तकें हिन्दी में प्राप्य थीं, जिनमें प्रस्तावना में आये समस्त विषयों पर विवेचन हो चुका है । अतः क्या ये १८१ पृष्ठ वृथा कलेवर-वृद्धि नहीं करते ? फिर आपत्ति यह भी है कि इस समस्त विवेचन में वे कौन सी बातें हैं, जो अन्यत्र और इससे पहले नहीं आ चुकीं, और वे कौन से सिद्धान्त हैं जिनका पहले उल्लेख नहीं हो चुका, फिर यह 'मौलिक' विशेषण क्यों ? विदित यह होता है कि यह विश्लेषण राहुल जी का लिखा हुआ नहीं । इसके अतिरिक्त एक मौलिक आपत्ति यह है कि क्या ऐसे इतिहास-ग्रंथ में 'लोक-साहित्य' के सिद्धान्तों के प्रतिपादन की अपेक्षा थी ? इस सिद्धान्त-प्रतिपादन के लोभ में प्रस्तावना में अपेक्षित विषय की अवहेलना कर दी गई है । प्रस्तावना में समीचीन यह था कि हिन्दी-क्षेत्र की समस्त लोक-साहित्य-विषयक वैविध्य-पूर्ण सामग्री पर समन्वय और सामञ्जस्य की दृष्टि से विचार किया जाता और बृहत् इतिहास में ऐसे संग्रह को देने की समीचीनता दिखायी जाती, हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसके क्रम को प्रस्तुत किया जाता । सामान्य संग्रहों की भूमिकाओं में भी ऐसे ही प्रयत्न किये जाते हैं, यह तो बृहत् इतिहास था, इतिहास-ग्रन्थ था, इसमें तो इसकी अनिवार्यता थी। पर अनिवार्य को छोड़ दिया गया। (जितना धन इन ग्रंथों पर व्यय किया जा रहा है, उतना ध्यान उनके प्रतिपाद्यों पर नहीं दिया जा रहा ।)

यह 'प्रस्तावना' और भी कई दृष्टियों से कुछ आपत्तिजनक प्रतीत होती । सबसे पहली आपत्ति तो डॉ० उपाध्याय के अहंकार के कारण खड़ी हुई है। यह अहंकार तीन प्रकार से विशेषतः प्रकट हुआ :

१. डॉ० उपाध्याय के मत को उनके नाम से घोषित करने के कारण।

"आप पृष्ठ ११ पर सबसे पहले पढ़ते हैं," डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय के मतानुसार "फ़ौकलोर...आदि," फिर पृष्ठ १२ पर आप पढ़ते हैं, "परन्तु डॉ० उपाध्याय के सिद्धान्तानुसार 'फोक-कल्चर' तथा 'फोकलोर' में कोई विशेष अन्तर नहीं···" आदि । इन्हें पढ़कर पहले यह सन्देह होता है कि यह प्रस्तावना शायद किसी अन्य व्यक्ति की लिखी हुई है, और जब आप इसके लेखक का नाम भी डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ही पढ़ते हैं तो डॉ० उपाध्याय के इस साहस और इस धृष्टता से सहम-से जाते हैं । फिर डॉ० उपाध्याय ने स्वयं ही अपनी पुस्तकों पर यों सम्मतियाँ दी हैं :

"भोजपुरी लोकगीत भाग १ ... भोजपुरी लोकगीतों का यह सर्वप्रथम वैज्ञानिक संग्रह है। इस पुस्तक में संग्रहीत गीतों का संकलन लेखक ने भोजपुरी प्रदेश के गाँवों में घूम-घूम कर किया है।

"डॉ० उपाध्याय ने इस ग्रन्थ में लोकसाहित्य को सुव्यवस्थित तथा दृढ़ आधारशिला पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है।" (पृष्ठ ४७) "लोक साहित्य के स्वरूप और सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला हिन्दी में यह अद्वितीय ग्रन्थ है," (पृ० ४८) "डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने अपने शोध-निबन्ध भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन में सर्वप्रथम बैलेड के लिए 'लोकगाथा'* शब्द का प्रयोग किया है," (पृ० ७६) "डॉ० उपाध्याय का सिद्धान्त समन्वयवाद।" (पृ० ८४) द्रष्टव्य है कि ग्रिम, श्लेगल, स्टैन्थल, बिशप पर्सी, प्रो० चाइल्ड के सिद्धान्तों के साथ डॉ० उपाध्याय का सिद्धान्त 'पांचवें सवार' की तरह प्रस्तुत किया गया है। डॉ० उपाध्याय का वर्गीकरण" (पृ० १०३) आदि। लगता है कि हम कोई गम्भीर ग्रन्थ नहीं पढ़ रहे, डॉ० उपाध्याय की किन्हीं पुस्तकों का विज्ञापन पढ़ रहे हैं।

२. स्थान हो या न हो अपनी पुस्तकों तथा अपने कृतित्व का डॉ० उपाध्याय ने बार-बार उल्लेख किया है। भोजपुरी लोकगीत भाग १, भोजपुरी लोकगीत भाग २, 'भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन', 'भोजपुरी और उसका साहित्य', 'लोकसाहित्य की भूमिका,' 'भोजपुरी लोक संस्कृति का अध्ययन,' 'भोजपुरी लोक संगीत,' 'भोजपुरी' गीत और गीतकार।' इन सभी ग्रन्थों को अलग-अलग पैरा दे देकर लिखा गया है और सबके सम्बन्ध में ४-५ से अधिक पंक्तियों में विवरण दिया गया है, जब कि अन्यों की महत्त्वपूर्ण रचनाओं का भी प्रायः उल्लेख मात्र है। इन सभी पुस्तकों का पुनर्वार विवरण 'भोजपुरी' के अध्याय में पृ० १७१-१७३ तक किया गया है। "भोजपुरी लोककथाओं का अभी तक कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने ३०० लोककथाओं का संकलन किया है।" (पृष्ठ १७२) ऐसा तक उल्लेख कर दिया गया है। अपनी अप्रकाशित कई पुस्तकों का तक विज्ञापन इस महान् ग्रन्थ में करने की कृपा डॉ० उपाध्याय ने की है, पृष्ठ ४८ पर देखिए भोज-पुरी लोकसंस्कृति का अध्ययन' जो पाद टिप्पणी के अनुसार प्रेस में है। ' इस ग्रन्थ की रचना डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने बड़े अध्यवसाय, लगन तथा परिश्रम से की है।" इस विशाल-काय ग्रन्थ में डॉ० उपाध्याय "इसे भोजपुरी जनजीवन का कोष समझना चाहिए 'ऐसा पाँच पंक्तियों में यह विज्ञापन है, अपनी आगे छपने वाली पुस्तक का। इसी पुस्तक का पुनः पृष्ठ १७३ पर उल्लेख है, पर इस स्थल पर तो यह भी नहीं लिखा गया कि यह प्रेस में है।

---

*संस्कृत-कोशों में 'लोकगाथा' शब्द मिलता है और उस पद्य या गीत के लिए है जो परम्परा से चला आता हो।

लोकवार्त्ता* शब्द को धराशायी करने के लिए उन्होंने जिन युक्तियों का अवलम्बन किया है। उनमें एक यह है कि अंग्रेजी 'लोर' 'LAR' से निकला है, जिसका अर्थ है 'ज्ञान', पर 'वार्त्ता' का अर्थ 'ज्ञान' होता नहीं। इसलिए फोकलोर के लिए 'लोकवार्त्ता' शब्द ठीक नहीं।

किन्तु जब लोक-संस्कृति विषयक 'उपाध्याय-मत' दिया है, तो इस कसौटी को विस्मृत कर दिया है। वार्त्ता का अर्थ ज्ञान नहीं, इसे बताने के लिए मोनियर विलियम्स तथा आप्टे के कोशों के हवाले दिये गये हैं, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अन्य स्रोतों का भी उल्लेख किया गया है। पर यह नहीं बताया गया कि इनमें कहीं 'संस्कृति' शब्द का अर्थ ज्ञान भी दिया गया है।

सर्वाधिक वैज्ञानिक बुद्धिशाली डॉ० उपाध्याय का हिमालियन मत है कि डॉ० उपाध्याय के सिद्धान्तानुसार 'फोक कल्चर' तथा 'फोकलोर' में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों की सीमाएँ एक दूसरे के छोर को छूती हुई दिखाई पड़ती हैं। अब कहिए, इस 'लाजिक' को आप क्या कहेंगे? जिस भाषा ने 'फ़ोकलोर' शब्द ग्रहण किया, सम्भवत: वहाँ पहले से 'फ़ोक कल्चर' शब्द था नहीं, या जाने क्यों उस भाषा के तथा अन्य भाषाओं के लोग डॉ० उपाध्याय के सिद्धान्त को मानने को तय्यार नहीं दीखते। पर डॉ० उपाध्याय का इस सिद्धान्त-निरूपण में जो आग्रह है, वह बहुत उच्च प्रेरणा से युक्त है, क्योंकि वे लिखते हैं "हिन्दी में लोकवार्त्ता शब्द ने जो अव्यवस्था और गड़बड़ी पैदा कर दी है वह 'लोक संस्कृति' शब्द के प्रयोग से सदा के लिए नष्ट हो जायगी" (पृष्ठ १२), इसी प्रसंग में आपने लिखा है—

"अत: लोक साहित्य के विद्वान् इस शब्द को ग्रहण कर इसका व्यवहार तथा प्रचार जितनी शीघ्रता से करें उतना ही अच्छा है"—यह प्रचार नहीं तो क्या है? और कोई भी सामान्य व्यक्ति बुद्धि से यह समझ सकता है कि 'फ़ोकलोर' तथा 'फ़ोक-कल्चर' जब अंग्रेज़ी में अलग-अलग शब्द हैं तब हिन्दी में भी उनके पर्याय अलग-अलग होने चाहिएं। फलत: 'लोकवार्त्ता' शब्द गड़बड़ बचाता है, लोक संस्कृति गड़बड़ मचा देगा, स्पष्ट को अस्पष्ट कर देगा।

इस आत्मप्रशंसा से पूर्ण प्रस्तावना का यही एक दोष नहीं, और भी कई

---

*'लोकवार्त्ता शब्द को डॉ० अग्रवाल का दिया मानकर उसे धराशायी किया गया है। श्री कृष्णानन्द गुप्त ने मुझे आज ता० २०-३-१९६१ को बताया कि 'लोक-वार्त्ता' शब्द उन्होंने गुजराती में देखा था, वह उन्हें फ़ोकलोर के लिए समीचीन प्रतीत हुआ, इस पर उन्होंने डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल से परामर्श किया। उन्होंने इसे वल्लभसम्प्रदाय की वार्त्ताओं की परम्परा से पुष्ट माना।

स्पष्ट दोष दिखायी पड़ते हैं—जैसे : १ : परिभाषाएँ विवादास्पद है, : २ : विषयक्रम में अव्यवस्था है, : ३ : वर्गीकरण अवैज्ञानिक है, : ४ : कितनी ही बातों में लेखक का पक्षपात नहीं झलकता, वरन् अज्ञान भी प्रतीत होता है । उदाहरणार्थ डॉ० श्याम परमार की पुस्तक 'भारतीय लोकसाहित्य' का उल्लेख जिस सम्मान के साथ होना चाहिए नहीं किया गया । जब कि अपने सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'लोकसाहित्य की भूमिका' का उल्लेख बार-बार किया गया है । 'मोटिफ़' तथा 'टाइप' के सम्बन्ध में आपने लिखा है "इस देश में कभी इस सम्बन्ध में कुछ भी शोध-कार्य नहीं हुआ है" (पृष्ठ १२२) पर इन दोनों पर एक शोध-बन्ध कलकत्ता विश्वविद्यालय से डॉ० सावित्री सरीन का सन् १९५७-५८ में स्वीकृत हो चुका है, जिसमें डॉ० सरीन ने 'टाइप' और मोटिफ़ पर विचार ही नहीं किया, स्टिथ टामसन की योजना का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुन करते हुए ऐसे ५०० के लगभग अभिप्राय खोज निकाले हैं जो स्टिथ टामसन की 'मोटिफ़ इण्डैक्स' में भी नहीं हैं । ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के कृतित्व का भी उल्लेख डॉ० उपाध्याय ने नहीं किया । इनके शोध-प्रबन्ध का विषय था । 'ब्रज की लोक-कहानियों में अभिप्रायों का अध्ययन' । इसी प्रकार डॉ० तेजनारायण लाल के 'मैथिली लोकसाहित्य' पर किये गए अध्ययन का इन्हें पता नहीं । लोक-कथाओं की प्राचीन परम्परा में प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा का उल्लेख नहीं । आपके अनुसार जगद्देव पंवार की लोक गाथा राजस्थान में अत्यन्त प्रसिद्ध है—अन्य क्षेत्रों में यह कितनी प्रिय और प्रचलित है उसका इन्हें पता ही नहीं । कहावतों के सम्बन्ध में डॉ० 'सहल' जी के संग्रह और शोध का भी इन्हें कुछ पता नहीं ।

फिर कुछ होने वाले शोध-कार्यों का भी उल्लेख किया गया है । कौरवी में 'सत्या गुप्ता' जो संग्रह और अध्ययन कर रही हैं उस पर पर्याप्त विस्तार से लिखा है, पर ऐसे ही बुलन्दशहर और मेरठ तथा अन्य क्षेत्रों में जो और संग्रह तथा अनुसन्धान हो रहे हैं उनका जिक्र नहीं, अन्य क्षेत्रों में भी जो उत्साह से कार्य चल रहा है, संग्रह और शोध दोनों में महान् कार्य हो रहा है उसका उल्लेख प्रस्तावना में नहीं । इसी प्रकार राजस्थान के सम्बन्ध में 'परम्परा' नामक महत्त्वपूर्ण पत्रिका तथा राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर का भी उल्लेख नहीं । ऐसी ही भ्रामक बातें कुछ संस्थाओं के सम्बन्ध में भी कही गई हैं । ओरछा की 'लोकवार्त्ता परिषद्' की स्थापना में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की प्रेरणा मानी गई है आदि…। ऐसी भूलों को कहाँ तक गिनाया जाए । ऐसे ग्रन्थों की ऐसी प्रस्तावना में या तो किसी विषय का स्पर्श होना ही नहीं चाहिए, यदि होना है तो परिपूर्ण होना चाहिए ।

फिर ग्रन्थ में आगे जो निबन्ध दिये गए हैं उनमें भी एक नीति नहीं अपनायी गई । मुद्रित साहित्य में कहीं तो आधुनिक 'संग्रह' कर्त्ताओं के नाम से प्रकाशित संग्रहों को भी स्थान दिया गया है, कहीं नहीं, जैसे भोजपुरी में 'परिशिष्ट' लगाकर

यह किया गया है। कहीं आधुनिक लेखकों की 'लोकगीत' जैसी रचनाएँ भी सम्मिलित की गई हैं, कहीं इनका उल्लेख तक नहीं, कहीं लोक-साहित्यकार की दृष्टि से बोली के आधुनिक लोक-कवियों, को भी स्थान दिया गया है—अवधी के अन्दर तृतीय अध्याय में मुद्रित साहित्य में 'लोक जन कवि' शीर्षक देकर 'पढ़ीसजी' काका दीक्षित, देहाती आदि आदि दिये गए हैं। इसी प्रकार बघेली में भी रीवां नरेश, भगवान दीन शुक्ल आदि का उल्लेख है। उधर 'राजस्थानी' में बहुत सा मुद्रित यथार्थ 'लोक साहित्य' छूट गया है, और आधुनिक राजस्थानी लोक और जन कवियों का नामोल्लेख ठीक नहीं हुआ, अन्य बोलियों में भी ऐसा ही हुआ है। उन बोलियों के भी आधुनिक जन-कवियों को लेना चाहिए था। ऐसे स्थायी महत्त्व के ग्रन्थ में ऐसी असावधानी अहितकर प्रतीत होती है। सभी बोलियों के सम्बन्ध में एक-सी नीति से काम लेना चाहिए था। सम्पादक यह कहकर नहीं बच सकता कि उस बोली के प्रामाणिक विद्वान् लेखक ने जो लिख दिया, उसे बहुत समझा गया। प्रस्तावना में दिये वर्गीकरण के अनुसार मूल ग्रन्थ के निबन्धों का सम्पादन नहीं किया गया, इससे प्रस्तावना मूलग्रन्थ से एक अलग वस्तु बन गयी है।

ऐसे ही और भी कितने ही दोष हैं, जो विवेचन के लिए बहुत समय और स्थान चाहते हैं। एक वाक्य में यही कहा जा सकता है कि जहाँ बहुत ही उपयोगी सामग्री इसमें संकलित हुई है, वहाँ उसका सम्पादन ठीक नहीं हुआ, जिससे यह पक्ष-पातपूर्ण, असंतुलित, अव्यवस्थित और अवैज्ञानिक हो गयी है, और 'नागरी प्रचारिणी सभा काशी' की प्रतिष्ठा के अनुकूल कदापि नहीं, न दोनों प्रकाण्ड विद्वानों और तत्त्वज्ञ सम्पादकों के गौरव के योग्य है।

'हिन्दी के बृहत् इतिहास' में 'हिन्दी लोक-साहित्य' के ऐतिहासिक पक्ष पर प्रकाश डाला जाना चाहिए था। हिन्दी के और उसकी बोलियों के शतशः ग्रन्थ, हस्तलिखित और मुद्रित दोनों रूपों में, ऐसे भी मिलते हैं जो 'लोक-साहित्य' मात्र हैं; और ऐसे ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के आरम्भ-काल से आज तक मिलते चले आये हैं। वस्तुतः ऐसे लोक-साहित्य को साहित्य-क्रम से इस खण्ड में देना चाहिए था, और इस लिखित परम्परा का जो रूप आज मौलिक क्षेत्र में विद्यमान है विविध बोलियों में तुलनापूर्वक उसे देना चाहिए था। हिन्दी क्षेत्र के लोक-साहित्य के सामान्य परिचय की दृष्टि से तो यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण माना जाएगा, पर इतिहास के एक खण्ड की दृष्टि से यह कभी सम्मान नहीं पा सकेगा।

मैंने ऊपर जो स्थापनाएँ की हैं उनसे एक बात उभरती है—'क्या सभा प्रस्तावना-लेखन की इस प्रणाली से सहमत है ? क्या वह किसी भी लेखक को इतना स्वच्छन्दता देगी कि वह चाहे जो कुछ लिखे, ग़लत ही क्यों न लिखे ?

हमारा विनम्र सुझाव है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में तो इन बातों का ध्यान अवश्य ही रखा जाए। अतः इस 'षोडश खण्ड' की 'प्रस्तावना' को या तो इसमें से बिल्कुल ही निकलवा दिया जाए, या फिर 'एक ग्रन्थ मुख' और तय्यार कराया जाए जिसमें प्रस्तावना का 'परिहार' दिया जाए, साथ ही एक अध्याय और जोड़ा जाए जिसमें 'हिन्दी लोक-साहित्य' को ऐतिहासिक दृष्टि से लिखा गया हो।

पंचदश लोकभाषा-निबन्धावली

श्रो० सन्तराम 'अनिल'

प्रस्तुत पुस्तक में पन्द्रह निबन्धों का संकलन किया गया है। ये सभी निबन्ध बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना के विभिन्न वार्षिकोत्सवों के अवसर पर पढ़े गये थे। इनमें जिन लोकभाषाओं और उनके साहित्य का विवेचनात्मक परिचय दिया गया है वे हैं—मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका, नागपुरी, संताली, उराँव, हो, अवधी, बैसवारी, ब्रज, राजस्थानी, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी और नेपाली। निबन्ध-क्रमानुसार इनके लेखक इस प्रकार हैं—डॉ० उमेश मिश्र, स्व० कृष्णदेव प्रसाद, गणेश चौबे, डॉ० माहेश्वरी प्रसाद सिंह 'महेश', प्रो० केसरीकुमार सिंह, डोमन साहु 'समीर', जगदीश त्रिगुणायत, जयदेवदास 'अभिनव', रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्रो० बदरी दत्त शास्त्री, डॉ० कृष्णलाल हंस, डॉ० सावित्री शुक्ल तथा सरदार रुद्रराज पांडेय। कुछेक को छोड़कर प्रायः सभी अधिकारी लेखक हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि परिषद् में पढ़े गए निबन्धों का इस पुस्तक में बिना किसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखे हुए ही प्रकाशन कर दिया गया है। ऐसा इसलिए कहा जा रहा है क्योंकि इन निबन्धों में विवेचित १५ लोकभाषाएँ न तो सम्पूर्ण भारत की लोकभाषाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं और न इनमें हिन्दी ही की सभी बोलियों का समाहार हो पाता है। राष्ट्रभाषा परिषद् से प्रकाशित होने के नाते इस निबन्धावली में कम से कम यह तो वांछित था ही कि हिन्दी की सभी बोलियों का इसमें विवेचन होता। खड़ीबोली, जिसके साहित्यिक रूप ने राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त कर लिया है, उस लोकभाषा की उपेक्षा भी यहाँ पर खटकने वाली है। इसके अतिरिक्त बाँगरू, बुन्देली, कन्नौजी, गढ़वाली, कुमायूँनी, बघेली और मालवी के अध्ययन को भी इस पुस्तक में कोई स्थान नहीं दिया गया है। अतः समग्र भारत की भाषाओं की बात तो दूर रही, हिन्दी का भी अधूरा ही दर्शन पाठक को इस पुस्तक से हो पाता है।

प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
मूल्य : ४·५० न०पै०, पृ० सं० ३०४

पृ० २८४-८५ पर जो मानचित्र दिए गए हैं वे भी अपूर्ण हैं। कुछ लोक-भाषाओं का क्षेत्र तो दिखला दिया गया है, पर उसके ज़िले और नगरों का निर्देश नहीं दिया गया है। 'अंगीका', 'उराँव', 'सन्ताली' तथा 'हो' भाषाओं के क्षेत्र को भी मानचित्र में निर्दिष्ट नहीं किया गया है। परिषद् के पास ऐसे साधन हैं जिससे वह सरलतापूर्वक सभी आवश्यक निर्देशों से युक्त मानचित्र तैयार करा सकती थी।

लोकभाषा का अध्ययन करते समय उसका क्षेत्र, बोलने वालों की संख्या, भाषा की स्वतन्त्र सत्ता, अन्य भाषाओं से उसका भेद, उस पर अन्य भाषाओं का प्रभाव, ध्वनि तथा व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ, भाषा पर किया गया कार्य तथा भाषा की स्वतन्त्र लिपि है या नहीं—इन विविध तथ्यों पर विचार करना होता है। लोकभाषा का सच्चा प्रतिनिधि उसका लोकसाहित्य ही होता है और इसके साथ ही साथ लोकभाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की आधारशिला भी लोकसाहित्य ही है, अतः उसके विभिन्न अंगों का विवरण देना आवश्यक हो जाता है। लोकसाहित्य के अतिरिक्त शिष्ट साहित्य का स्वरूप निर्धारित करने के लिए काल-क्रमानुसार मुद्रित तथा अमुद्रित साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाओं का भी संक्षिप्त विवरण देना पड़ता है। इस प्रकार का अध्ययन लोकभाषा और उसके साहित्य का सम्यक् अध्ययन कहा जाता है।

उपर्युक्त तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि इस संकलन अधिकांश निबन्ध इन तत्त्वों से युक्त हैं और तथ्यपूर्ण होने के साथ ही वे लेखकों की विद्वत्ता तथा साधना के परिचायक भी हैं। निबन्धों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्हें सम्यग्-रूपेण चिन्तन एवं मनन के साथ लिखा गया है। 'अंगिका भाषा और साहित्य', 'नागपुरी भाषा और साहित्य', 'सन्ताली भाषा और साहित्य', 'उराँव भाषा और साहित्य', 'हो भाषा और साहित्य', 'अवधी भाषा और साहित्य', 'निमाड़ी भाषा और साहित्य'—ये निबन्ध सांगोपांग सुन्दर हैं। 'उराँव भाषा और उसके साहित्य' में यदि अनूदित के साथ मूलभाषा के उदाहरण भी दिए जाते तो अधिक अच्छा रहता। 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' 'बैसवारी भाषा और साहित्य' तथा 'ब्रजभाषा और साहित्य'—ये तीनों निबन्ध भी उच्चकोटि के हैं, पर पहले में अन्य भाषाओं से भेद नहीं दिखलाया गया है तथा व्याकरण भी बहुत संक्षिप्त दिया गया है। दूसरे में लोकसाहित्य को एकदम छोड़ दिया गया है और तीसरे में भाषा का नाम मात्र के लिए भी विवेचन नहीं किया गया है। 'मैथिली भाषा और साहित्य' भी विद्वत्तापूर्ण निबन्ध है पर इसमें ध्वनि, व्याकरण तथा लोकसाहित्य के विवेचन न होने के कारण यह अपूर्ण ही कहा जाएगा। 'मगही भाषा और साहित्य' निबन्ध भी तथ्यपूर्ण है। व्याकरण तथा ध्वनियों के अध्ययन सामान्य परिचयात्मक ही हैं। निबन्धकार तटस्थ दृष्टिकोण वाला न होकर प्रचारक-सा जान पड़ता है।

'छत्तीसगढ़ी भाषा और साहित्य' शीर्षक निबन्ध साधारण स्तर का है। यह कुछ भ्रान्तियाँ उत्पन्न करता है। इसमें कहा गया है कि 'न लोकसाहित्य संग्रह है, पर वास्तविकता इसके विपरीत है। थोड़ा लोक साहित्य-संग्रह का कार्य छत्तीसगढ़ी में भी हुआ है। प्रो० श्यामाचरण दुबे द्वारा संग्रहीत 'फ़ील्ड सांग्स ऑफ़ छत्तीसगढ' लगभग १५ वर्ष पहले प्रकाश में आ चुके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखिका महोदया ने छत्तीसगढ़ी के सम्बन्ध में पूर्व-प्रकाशित साहित्य का अध्ययन नहीं किया है। छत्तीसगढ़ी भाषा के सम्बन्ध में अंग्रेज विद्वानों द्वारा किए गये कार्य का भी कोई संकेत निबन्ध में नहीं है। इसके अतिरिक्त यह निबन्ध एक भ्रान्ति और भी उत्पन्न करता है। पृ० २६८ पर कहा गया है कि छत्तीसगढ़ी के प्रमुख साहित्यकारों में डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र भी हैं। मिश्र जी तो वस्तुतः हिन्दी के लेखक और कवि हैं। छत्तीसगढ़ प्रदेश उनका निवास-स्थान अवश्य है।

शेष दो निबन्ध 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' तथा 'नैपाली भाषा और साहित्य' नितान्त साधारण कोटि के हैं। राजस्थानी की उपभाषाओं का इसमें उल्लेख नहीं हुआ है। व्याकरण इतना संक्षिप्त है कि उससे पाठक को भाषा के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो पाता। बोलने वालों की संख्या भी नहीं दी गई है। राजस्थानी जैसे समृद्ध लोकसाहित्य, जिसमें संग्रह और अनुसन्धान का भी पर्याप्त कार्य हुआ है, उसका यहाँ नाम भी नहीं लिया गया है। शिष्ट साहित्य का वर्णन भी कामचलाऊ ही है। अन्तिम निबन्ध में न तो बोलने वालों की संख्या ही दी गई है और न भाषा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए व्याकरण, ध्वनियों आदि का ही स्पर्श किया गया है। लोकसाहित्य के सम्बन्ध में लेखक मौन है और शिष्ट साहित्य का वर्णन भी चलता-सा कर दिया गया है।

समग्र रूप से कहा जा सकता है कि कुछ नगण्य कमियों के होते हुए भी पुस्तक बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। देवनागरी लिपि में अब तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी गई जिसमें एक स्थान पर ही १५ भाषाओं का इतना गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया गया हो। निश्चित रूप से इस प्रकाशन ने हिन्दी वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। निबन्धों के लेखक तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् इस सदनुष्ठान के लिए बधाई के पात्र हैं। पुस्तक के आकार, आवरण-सज्जा, छपाई और कागज़ की सुन्दरता को देखते हुए पुस्तक का मूल्य केवल साढ़े चार रुपया खरीदने वालों के लिए उत्साहवर्द्धक है।

वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति

डॉ० राजबली पांडेय

यह ग्रन्थ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, के निमन्त्रण पर संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और यशस्वी वक्ता म० म० पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी द्वारा परिषद् के तत्त्वावधान में व्याख्यान-माला के रूप में प्रस्तुत किया गया था। श्री चतुर्वेदी जी ने गत पचास वर्षों तक संस्कृत वाङ्मय और विशेषतः वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन और चिन्तन किया है। यह ग्रन्थ उनके लम्बे स्वाध्याय, परिपक्व अनुभव और प्रोज्ज्वल प्रतिभा का फल है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इस वयोवृद्ध मनीषी की गवेषणाओं का सार इस रूप में जनता को प्राप्त हो सका।

अनेक और विविध विषयों का विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। अध्यायों में वर्गीकृत और संयोजित न होकर प्रकीर्णक रूप में ही ये विषय मुद्रित किये गये हैं। प्राक्कथन में विद्वान् लेखक ने अपने गुरु जयपुर-राजसभा के प्रधान पण्डित और बिहार प्रदेशान्तर्गत मिथिला के रत्न स्व० पं० मधुसूदन ओझा द्वारा प्रवर्तित वैदिक परिभाषाओं और भाष्य-पद्धति का उल्लेख किया है, जो बीच में लुप्त हो चुकी थीं परन्तु जिनके बिना वैदिक साहित्य के रहस्य का उद्‌घाटन सम्भव नहीं है। इसके पश्चात् वेद के अन्वेषण में कठिनाइयों की चर्चा की गयी है। प्रथम और प्रमुख कठिनाई यह बतलायी गयी है कि वैदिक भाषा और प्रक्रिया दोनों हमसे इतनी दूर हो चुकी हैं कि वेद का वास्तविक पूरा अर्थ समझना हमारे लिए कठिन हो गया है। दूसरे, वैदिक साहित्य के अध्ययन की परम्परा संकुचित और खण्डित हो चुकी है। आजकल के वैदिक पण्डित वेदों के मूल पाठों के उच्चारण और उनको कंठाग्र करने में ही अपनी सारी शक्ति समाप्त कर देते हैं; उनके अर्थ और रहस्य को जानने के लिए आवश्यक वेदाङ्ग, उपाङ्ग तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते। गत शताब्दियों में सायण माधव आदि के जो वेद-भाष्य हैं वे बड़े महत्त्व के हैं, परन्तु मूलतः यज्ञपरक होने के कारण वे वेदों के व्यापक अर्थ और रहस्य पर प्रकाश नहीं डालते। वेदार्थों के समझने

लेखक : महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी
प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना;
मूल्य : ३.५० सजिल्द ५.००,
पृष्ठ संख्या : रॉयल आक्ट २० + २९५।

में एक और प्रमुख कठिनाई इसलिए भी उत्पन्न हो गयी कि वेद के मीमांसक भाष्यकारों ने वेद-ब्राह्मण साहित्य के आख्यानों और उपपत्ति आदि को अर्थवाद कह कर उपेक्षित कर दिया। इससे केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रधानता तो हो गयी किन्तु आख्या और उपपत्ति के अभाव में शब्दों के अर्थ और प्रतीकों के भाव अधिकाधिक गूढ़ होते चले गये। वैदिक विज्ञान देवता-तत्त्व अथवा प्राण-तत्त्व है। 'देवता' ही वेदों के विचारणीय विषय हैं। कर्मकाण्ड की प्रधानता होने से 'देवता' का यज्ञीय अर्थ ही प्रगृहीत हुआ; उसका वैज्ञानिक और दार्शनिक अर्थ लुप्त हो गया। आधुनिक युग के व्याख्याकार श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निरुक्ति और व्याकरण के आधार पर वेदों का भाष्य किया, किन्तु वैज्ञानिक तत्त्वों और सिद्धान्तों का परिचय न होने से वे वेदों के वैज्ञानिक अर्थ को स्पष्ट नहीं कर सके। वेदों के पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी अपने विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार वेदों में आदिम युग के मानव के धार्मिक विश्वास और पूजा-पद्धति का ही दर्शन पाते हैं; अतः वे वेदों में उच्च विकसित ज्ञान और विज्ञान की कल्पना ही नहीं कर सकते। इन परिस्थितियों में भारतीय परम्परा मान्य 'सर्वज्ञानमय वेद' से उनकी विचार-सरणि का मेल नहीं खाता। वास्तव में जीवन के सभी क्षेत्रों में, विशेषकर अध्यात्म और नीति में, लम्बवत् विकास नहीं हुआ है। लम्बवत् विकासवाद का आग्रह छोड़े बिना वैदिक साहित्य के प्रति न्याय नहीं हो सकता।

विवेच्य विषयों में प्रस्तुत लेखक ने 'वेद' शब्द के अर्थ की व्याख्या की है। उनके अनुसार ज्ञान, ज्ञान का विषय, ज्ञेय पदार्थ और ज्ञान के साधन तीनों का बोध 'वेद' शब्द से होता है। पाणिनि के अनुसार 'विद्' धातु का प्रयोग सत्ता, लाभ और विचार के अर्थ में होता है। इसके पश्चात् वेदों के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में विभिन्न मत, वेदों की विशेषता, वेदों के शाखा-भेद, वेदों में ज्ञान और विज्ञान, वेदों में मूल तत्त्व का विवचन और मूल तत्त्व की आनन्दरूपता पर विचार किया गया है। मूल-तत्त्व का विवेचन करते हुए पुरुष विज्ञान के अन्तर्गत अव्यय पुरुष, अक्षर पुरुष और क्षर पुरुष का वैज्ञानिक और दार्शनिक अर्थ समझाया गया है। वेदों में यज्ञ की प्रधानता और उसके द्वारा सृष्टि-क्रम की व्याख्या का उल्लेख करते हुए शुक्र की उत्पत्ति, आधिभौतिक कलाओं, पञ्चभूत सिद्धान्त, पृथ्वी-तत्त्व, आकाश-तत्त्व, षोडशी प्रजापति, ईश्वर और जीव, ज्ञान की नित्यता, आध्यात्मिक क्षर कलाओं, सूक्ष्म प्रपञ्च की उत्पत्ति, ऋषि, पितर, संवत्सराग्नि, देव-निरूपण, अग्निदेव, वायुदेव, सूर्य, मनोविज्ञान, ताराविज्ञान, वेदों में वैज्ञानिक शिल्प आदि विषयों का वैज्ञानिक विश्लेषण और विमर्श किया गया है।

सांस्कृतिक विषयों के अन्तर्गत आधार रूप से भारतवर्ष की सीमा, भारतीय संस्कृति का मूल, भारतीय संस्कृति की परिभाषा, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था

संस्कार, आचारों की वैज्ञानिकता, व्रत-उपवास-उत्सव, भक्ति और उपासना, अवतार, कृष्ण-भक्ति और शिव-भक्ति पर विचार हुआ है। अन्त में भारतीय संस्कृति पर किये गये आक्षेपों का समाधान किया गया है।

वेदों के वैज्ञानिक अध्ययन में जिन कठिनाइयों का उल्लेख विद्वान् लेखक ने किया है वह वास्तविक है। परन्तु उनसे भी अधिक बाधा इस बात से पड़ती है कि जो वैदिक वाङ्मय इस समय उपलब्ध है उसका सम्पूर्ण संदर्भ धार्मिक है अर्थात् उसमें देव-स्तुति और याज्ञिक विनियोग ही अपेक्षित हैं। देवताओं के स्वरूप-वर्णन में कहीं कहीं वैज्ञानिक तत्त्वों का संकेत अवश्य है किन्तु तत्कालीन लौकिक तथा भौतिक साहित्य के लुप्त हो जाने से उनकी पूरी व्याख्या सम्भव नहीं है; आधुनिक विज्ञान के सहारे ही उनका कुछ अर्थ खुल सकता है। प्राचीन भौतिक साहित्य के लोप से प्रयोगात्मक पद्धति भी लुप्त हो गयी, अतः धार्मिक साहित्य में आनुषंगिक रूप से बिखरे वैज्ञानिक तत्त्वों की वास्तविकता का परीक्षण भी कठिन है। वेदों में जो कुछ भी वैज्ञानिक वर्णन है वह पौराणिक है, शास्त्रीय नहीं। इन कठिनाइयों के होते हुए भी प्रस्तुत ग्रन्थ में गूढ़ वैज्ञानिक तत्त्वों का निर्देश किया गया है, जिनका अनुसंधान अपने पूर्वजों ने सहस्राब्दियों पूर्व किया था।

प्राचीन भारत में ज्ञान और विज्ञान दोनों शास्त्र-परम्पराओं का विकास हुआ था इसमें सन्देह नहीं। ज्ञान और विज्ञान के अन्तर को स्पष्ट करने के लिये विद्वान् लेखक ने श्रीमद्भगवद्गीता पर ज्ञानेश्वरी टीका में श्री ज्ञानदेव जी का निम्नांकित पद उद्धृत किया है जो ज्ञान और विज्ञान के मौलिक भेद को इस प्रकार रखता है :

तीरलग्ना तरणीव कुण्ठीभवति शेमुखी
परावृत्तपदो दूराद् विचारश्चोपसर्पति।
तर्कोऽपि नैवोत्सहते यत्र तज्ज्ञानमर्जुन

[नदी-तीर पर पहुँची हुई नाव की भाँति जहाँ बुद्धि आगे न बढ़कर कुण्ठित हो जाती है; विचार भी जहाँ से उलटे पाँव दूर से ही वापस लौटता है; जहाँ तर्क भी जाने का उत्साह नहीं करता, वह एक तत्त्वरूप पारमार्थिक ज्ञान है; उससे भिन्न प्रपञ्चात्मक भौतिक जगत् की जानकारी विज्ञान है; और प्रपञ्च को सत्य मानने वाली बुद्धि अज्ञान है।] परन्तु खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि आधुनिक भारत में भौतिक शास्त्रों के अध्ययन की परम्परा शिथिल पड़ गयी; अतः हमारे सम्पूर्ण बौद्धिक जीवन पर पाश्चात्य बुद्धि-विलास का आरोप हुआ है। इसका मुख्य कारण यह था कि हमारे जीवन का सूत्र विदेशों के हाथ में था, और ज्ञान का माध्यम विदेशी भाषा थी। वैदिक-विज्ञान का समर्थन परवर्ती संस्कृत साहित्य और

यथासम्भव आधुनिक भौतिक विज्ञान से प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है ; परन्तु यह सम्पूर्ण प्रयास चिन्तनात्मक है, प्रयोगात्मक नहीं; यह सम्भव भी नहीं था।

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में भारतीय संस्कृति के मुख्य अङ्गों पर संक्षेप से विचार किया गया है। वर्ण, आश्रम, संस्कार, व्रत, उपवास, भक्ति आदि के महत्त्व का स्पष्टीकरण भी हुआ है। परन्तु ऐसा लगता है कि यह अंश शीघ्रता में प्रस्तुत हुआ था। संस्कृति के एक प्रमुख अङ्ग कला—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत, अभिनय-आदि का इसमें कहीं उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति के आधारभूत दर्शन का विवेचन भी इस अंश में न

इस ग्रन्थ में सबसे अधिक खटकने वाली बात है विषयों के वर्गीकरण और संयोजन का अभाव। यदि ऐसा हुआ होता तो ग्रन्थ का शास्त्रीय महत्त्व बढ़ जाता। वृद्धावस्था में विद्वान् लेखक द्वारा सम्भवतः यह शक्य नहीं था। यह होते हुए भी अपने व्याख्यानों द्वारा वैदिक विज्ञान के प्रति और इसके सहारे भारतीय विज्ञान-परम्परा की ओर पठित समाज का ध्यान आकृष्ट करने का जो प्रयास उन्होंने किया है, वह अत्यन्त स्तुत्य है और इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

धर्म और समाज

श्री० अमरनाथ पाण्डेय

सन् १९४२ में, जब भारत का स्वातन्त्र्य-संग्राम चरमबिन्दु पर पहुँच रहा था, डॉ० राधाकृष्णन् ने कमला-भाषण-पीठ के निमन्त्रण पर कलकत्ता तथा काशी विश्व-विद्यालय में 'धर्म की आवश्यकता', 'धर्म की प्रेरणा एवं नई विश्व-व्यवस्था', 'हिन्दू-धर्म', 'हिन्दू समाज में नारी' तथा 'युद्ध और अहिंसा' शीर्षक विषयों पर अत्यन्त ही महत्त्व-पूर्ण भाषण दिए। 'रिलिजन एण्ड सोसायटी' नाम से पुस्तक के रूप में इस भाषण-माला का प्रकाशन दर्शनजगत् के लिए एक घटना थी, और विश्व के सभी लब्ध-प्रतिष्ठ विचारकों ने इसकी मुक्तकण्ठ से सराहना करते हुए विश्वास व्यक्त किया था कि बीसवीं शती के गिने-चुने क्लासिक्स में इस ग्रन्थ की गणना की जाएगी। राष्ट्र भाषा में इस अमूल्य भाषण-संग्रह का अनुवाद १९४७ के पूर्व ही हो जाना चाहिए था, जब कि इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की अंग्रेज़ी जानने वाले वर्ग में धूम मची हुई थी। इतनी लम्बी प्रतीक्षा के बाद १९६० में, अंततोगत्वा, इसके आस्वाद का सुअवसर हिन्दी-भाषी जनता कर सकी, इसके लिए श्री विराज तथा राजपाल एण्ड सन्ज़ दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ की प्ररोचना के लिए मैं उन शब्दों का सहारा लूंगा, जिनके द्वारा शान्तिपर्व में भीष्म द्वारा की गई गम्भीर धर्म-मीमांसा का महाभारतकार ने उपोद्-घात किया है—

> नैतच्छुद्धागमादेव तव धर्मानुशासनम् ।
> प्रज्ञासमवतारोऽयं कविभिः सभृतं मधु ॥ (१४०,३)

यह धर्मानुशासन केवल ग्रन्थों एवं आगम-मात्र पर अवलम्बित नहीं है। कवियों द्वारा संभृत यह मधु प्रज्ञा का समवतार है। और, यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि डॉ० राधाकृष्णन् की विशाल ग्रन्थराशि से अनभिज्ञ हिन्दी-जनता के

मूललेखक : श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
हिन्दी रूपान्तरकार : श्री विराज एम० ए०
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मूल्य : आठ रुपये, पृष्ठ-संख्या : २९६

लिए 'धर्म और समाज' का वही महत्त्व होगा जो महाभारत के परायण करने में अशक्त जिज्ञासु के लिए श्रीमद्भगवद्गीता का है। डॉ० राधाकृष्णन् के जीवन-व्यापी चिन्तन एवं मनन का जैसा बहुपक्षीय सन्निवेश इस ग्रन्थरत्न में हुआ है, वैसा सम्भवतः उनकी अन्य किसी भी कृति में नहीं उपलब्ध होता।

प्रस्तुत पुस्तक के भाषणों को तीन स्पष्ट खण्डों में विभक्त किया जा सकता है, जिनमें तीन विभिन्न, परन्तु अनुषक्त, प्रश्नों पर विचारणा की गई है। प्रथम खण्ड में धर्म के प्रति आधुनिक बुद्धिवादियों के आक्षेपों एवं विप्रतिपत्तियों की, दार्शनिक स्तर पर परीक्षा की गई है, और उनका प्रत्याख्यान करके धर्म-जिज्ञासा के लिए पूर्व पीठिका रची गई है। 'धर्म की आवश्यकता' तथा 'धर्म की प्रेरणा और नई विश्व-व्यवस्था'—शीर्षक पहले दो भाषण इस खण्ड के दो चरण हैं। द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत 'हिन्दू-धर्म' शीर्षक तृतीय भाषण है, जिसमें धर्म के स्वरूप की गम्भीर विवेचना की गई है, और तदनन्तर हिन्दू-धर्म की विशिष्टताओं का निरूपण समन्वयात्मक दृष्टि से किया गया है। तृतीय खण्ड का मुख्य प्रश्न है—धर्म एवं समाज का सम्बन्ध। अंतिम दो भाषणों की गणना इसके अन्तर्गत की जानी चाहिए, क्योंकि समाज के दो प्रमुख अंग—कुटुम्ब तथा राज्य—पर धर्मचेतना का कैसा प्रभाव पड़ना चाहिए—इस दृष्टि से डॉ० राधाकृष्णन् ने 'हिन्दू समाज में नारी' 'युद्ध और अहिंसा' शीर्षक भाषण उपनिबद्ध किए हैं। 'उत्तर लेख' इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण में जोड़ा गया था।

यह स्वाधीनता-दिवस पर आकाशवाणी द्वारा प्रसारित उस वक्तव्य का लेख-रूप है, जिसे डॉ० राधाकृष्णन् ने १५ अगस्त, १९४७ को दिया था। स्वतन्त्र राष्ट्र के सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए धार्मिक चेतना का कितना महत्त्वपूर्ण योग-दान हो सकता है, इसका निरूपण इस 'उत्तर लेख' में किया गया है। तीन खण्डों में विभक्त इस भाषण-माला में जिन मूलभूत प्रश्नों पर दार्शनिक दृष्टिकोण से गम्भीर विचारणा की गई है, उनका समुच्चय 'उत्तरलेख' में ग्रन्थकार ने अपने शब्दों में स्वयं ही प्रस्तुत कर दिया है; अतः इस परिशिष्टभूत लेख को इस ग्रन्थरत्न का उपसंहारात्मक सार माना जा सकता है।

धर्म के प्रति संशयप्रधान एवं प्रत्याख्यानपरक चेतना का पश्चिम में उदय उस पुनर्जागृति के साथ ही साथ हुआ, जिसके साथ यूरोप में मध्ययुग का ह्रास तथा आधुनिक चेतना का आरम्भ होता है। मानववाद (Humanisn) में प्रच्छन्न इस नकारात्मक प्रवृत्ति की शास्त्रीय अभिव्यक्ति फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक अगस्त कोंत ने अपने सुप्रसिद्ध क्लासिक 'पॉज़िटिव फिलॉसफी' में की। धर्म के प्रति इस नवीन चेतना का दूसरा रूप जर्मनी की उस दर्शन-परम्परा में मिलता है, जिसका मूलभूत अभिप्राय

तो धर्म की दार्शनिक पूर्व-पीठिका रचना था, पर वस्तुतः जिसकी विचार-सरणि की चरम परिणति हुई धर्म के आमूल प्रत्याख्यान में। मेरा निर्देश जर्मन आइडियलिज़्म की ओर है, जिसके उत्तरोत्तर प्ररोह में तीन युगप्रवर्त्तक दार्शनिकों ने योगदान दिया—काण्ट तथा हीगेल। इस युक्ति-बन्ध में निहित प्रतिज्ञा-विरोध की प्रतीति दार्शनिक जगत् में तब हुई, जब हीगेल के अनुयायी कार्ल मार्क्स ने उनकी दर्शन-पद्धति का अनुसरण करते हुए, हीगेल के ग्रन्थ 'फ़िलॉसफ़ी आफ़ राइट' (१८२१) की मीमांसा (पूजितविचारवचनं हि मीमांसा) करते हुए उद्‌घोष किया कि दार्शनिक तत्त्वदृष्टि की चरम परिणति धर्म के पूर्ण प्रत्याख्यान में ही है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के प्रवर्तक की इस उपस्थापना का उनके अनुयायियों ने ऐकान्तिक अनुसरण किया। डॉ० राधाकृष्णन् ने इस भूमिका-खण्ड में जिस सिद्धान्त-बीज का वपन किया है, उसके प्ररोह एवं विकास के निमित्त भूमि तैयार करते हुए उन्होंने इस पूर्वपक्ष का युक्ति-युक्त निराकरण कर डाला है। धर्मनिरपेक्ष मानववाद एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की परीक्षा विशेष महत्त्व की है। धर्म-निरपेक्षता को इस युग की मुख्य दुर्बलता बताते हुए लेखक ने जो सिद्धान्त-बीज प्रस्तुत किया है, उसका संकेत इस वाक्य में निहित है—'प्रत्येक सभ्यता किसी न किसी धर्म की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि धर्म परम मूल्यों में विश्वास का और उन मूल्यों को उपलब्ध करने के लिए जीवन की एक पद्धति का प्रतीक होता है।' (पृ० २३) मार्क्स की आलोचना का उपसंहार निम्न वाक्यों में होता है। 'आर्थिक दशाओं के महत्त्व पर जो बल दिया गया है, वह ठीक है; परन्तु यह सुझाव, कि केवल एकमात्र वे ही इतिहास का निर्धारण करती हैं, गलत है' (पृष्ठ ४०) 'जो भारतीय लोग मार्क्सवादी सामाजिक कार्यक्रम की ओर आकर्षित हुए हैं, उन्हें चाहिए कि वे इसका मेल भारतीय जीवन के आधारभूत लक्ष्यों के साथ बिठाएँ......भारत के लिए आदर्श सामाजिक व्यवस्था वही हो सकती है, जिसमें हमारे जीवन की उस आध्यात्मिक दिशा का पूरा ध्यान रखा गया हो, जिसमें से कम्युनिस्टों का केन्द्रीय सिद्धान्त, कि सब मनुष्य भाई-भाई हैं, निकला है।' (पृष्ठ ४७) जिस सिद्धान्त-बीज का आगे चलकर, दूसरे खण्ड के भाषण में, प्ररोह हुआ है, उसका प्रतिपादन लेखक ने इस प्रकार किया है—'धर्म का सार इन धर्म-सिद्धान्तों में और धार्मिक मतों में, विधियों में और संस्कारों में नहीं है, जिनमें हममें से अनेक को विरक्ति होती है, अपितु युगों की गम्भीरतम बुद्धिमत्ता में, अनवरत तत्त्वज्ञान में, सनातन धर्म में है, जो आधुनिक विचार की किंकर्त्तव्यविमूढ़ अस्तव्यस्तता में हमारा एकमात्र पथप्रदर्शक है।' (पृष्ठ ४६) 'विचारों की कोई भी गम्भीर साधना, विश्वासों की कोई भी खोज, सद्‌गुणों के अभ्यास का कोई भी प्रयत्न, ये सब उन ही स्रोतों से उत्पन्न होते हैं, जिनका नाम धर्म है।' अपनी व्यावहारिक अभिव्यक्ति के लिए इसकी यह सूक्ति होती है—"जो भी कोई भला करता है, वह भगवान् का है।" (पृष्ठ ५५) 'यदि धर्म को ढंग से समझा जाए और ठीक ढंग से उसपर आचरण किया जाए, तो उससे एक गहरा नवीकरण, एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति हो सकती है...' (पृ० ९३)।

उपर्युक्त सूत्र-वाक्यों में निहित धर्म-मीमांसा का विकसित रूप 'हिन्दू धर्म' शीर्षक भाषण (पृष्ठ १२०-१६५) में मिलता है, जिसे इस ग्रन्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश मानना चाहिए। भारतीय संस्कृति की सम्यक् विवेचना के लिए जिन मूलभूत शब्दों की यथावत् परिभाषा की जानी चाहिए, उनमें 'धर्म' का स्थान सर्वोपरि है। 'धर्म' के अर्थ-गांभीर्य में हमारी संस्कृति के क्रमिक विकास की सभी भूमिकाएँ जल में प्रलीन शिलाखण्डों की भांति लीन हैं। वैदिक युग से लेकर गांधी-भावे के युग तक की समस्त आध्यात्मिक चेतना इस केन्द्र-बिन्दु पर अवलम्बित वृत्तमात्र है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—वेद हिन्दू धर्म के मूल आधार हैं। वेदों में धर्म का कोई सुव्यवस्थित विवरण नहीं है। उनमें आदर्शों की ओर संकेत है, और कुछ व्यवहारों का उल्लेख है। (दृष्टव्य-विद्वद्वर श्री पांडुरंग वामन काने का अभिलेख जरनल ऑफ बॉम्बे ब्राँच ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी—१९२२ पृ० ५७-८२, तथा 'हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र,' (भाग १, पृ० ४-७) फिर, हमारी परम्परा में वेदों को धर्म की जिज्ञासा के सभी प्रसंगों में, शीर्षस्थानीय महत्त्व क्यों दिया गया है ? उत्तर में डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं—'वेद के शब्द सरल, महत्त्वपूर्ण और प्राचीन हैं; वे श्रद्धा और भक्ति से, विश्वास और निश्चय से भरे हुए हैं। उनमें मनुष्य की शाश्वत आशाएँ और सांत्वनाएँ घनीभूत हैं। उन ऋषियों की गम्भीरता को हृदयंगम कर पाना भी कठिन है, जिनके होठों से पहले-पहल यह प्रार्थना निकली थी "अवास्तविकता से हटाकर मुझे वास्तविकता की ओर ले चलो; अन्धकार से हटाकर मुझे प्रकाश की ओर ले चलो; मृत्यु से हटाकर मुझे शाश्वत जीवन की ओर ले चलो।" वैदिक सूक्तियाँ अपनी व्यंजना की दृष्टि से अनन्त हैं।' (पृष्ठ १२९) धर्म शब्द के विभिन्न अर्थों की विवेचना करते हुए लेखक ने उपनिषद्, बौद्ध आगम, पूर्वमीमांसा, एवं वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित लक्षणों का उल्लेख करके निम्न समन्वयात्मक परिभाषा प्रस्तुत की है—'अपने प्रयोजन के लिए हम धर्म की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि ये चारों वर्णों के और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के सम्बन्ध में पालन करने योग्य मनुष्य का समूचा कर्त्तव्य है।' (पृष्ठ १२७) यह ध्यान देने की बात है कि इस धर्म-मीमांसा में स्मृति का प्राधान्य कहीं नहीं है, जैसा कि धर्म की परम्परागत शास्त्रीय विवेचना में परिलक्षित होता है, यद्यपि इसके मूल में वह दृष्टि है, जिसके लिए डॉ० राधाकृष्णन् की धर्म-विवेचना का युग-विधायक महत्त्व माना गया है। इस दृष्टि की अभिव्यञ्जना निम्न वाक्यों में सरल एवं सशक्त रूप से हुई है—'किसी भी जीवित समाज में निरन्तर बने रहने की शक्ति और परिवर्तन की शक्ति, दोनों ही होना चाहिएँ।' (पृष्ठ १३५) 'इस भाग्य-निर्णयक महत्त्वपूर्ण घड़ी में, जबकि हमारा समाज एक मार्गहीन गहन वन बन गया है, हमें अपने पूर्वजों के स्वरों के साथ-साथ नई ध्वनियों को भी सुनना चाहिए।' यदि हम अतीत के नियमों से बहुत अधिक चिपटे रहेंगे और मृतों का जीवत धर्म जीवितों का मृत धर्म बन जाएगा, तो सभ्यता मर कर रहेगी। हमें बुद्धि-संगत परिवर्तन करने ही होंगे'।

(पृष्ठ १३६) लेखक ने विशेष रूप से धार्मिक संस्थाओं (पृष्ठ १४३-१५४) वर्णवाद—(पृष्ठ १५४-१६०) तथा संस्कारों (पृष्ठ १६१-१६५) में युगधर्म के अनुरोध से परिवर्तन की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है।

तृतीय खण्ड के अन्तर्गत जिन दो अन्तिम भाषणों को विभाजित किया गया है, इनमें डॉ० राधाकृष्णन् ने समाज के उन पक्षों की विवेचना प्रस्तुत की है, जिनके पुनर्निर्माण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनके आदर्शों में धार्मिक दृष्टि का व्यापकतम समन्वय हो। धर्म-चेतना का समाज-गठन पर कैसा प्रभाव पड़ता है, और कैसा प्रभाव पड़ना चाहिए—इन दो मूलभूत प्रश्नों की परिचर्चा आधुनिक युग के दार्शनिक-वर्ग में सर्वप्रथम, गम्भीर स्तर पर, डॉ० राधाकृष्णन् ने ही की है; और इस परिचिन्तना का प्राञ्जल रूप इस खण्ड में मिलता है। पश्चिम की शास्त्रीय परम्परा में इन प्रश्नों पर विचार फ्रांस के विचारकों से प्रारम्भ होता है, जिनमें समाजशास्त्र का प्रवर्तक कोंत का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। त्रोल्श, चोयसी, सोम्बार्ट, लेवी प्रभृति विचारकों ने इन पर गम्भीरता से चिंतन किया है; पर इस विचारसरणि की परिणति मैक्स वेबर नामक प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री के प्रख्यात ग्रन्थ[1] में हुई जो १९०४ में प्रकाशित हुआ। इस युग-प्रवर्तक विचारक की प्रेरणा के फलस्वरूप इंग्लैंड के अन्यतम समाज-वेत्ता प्रो० टॉनी के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिलिजन एण्ड दि राइज़ ऑफ कैपिटलिज़्म' (१९२२) की रचना हुई, जिसका अंग्रेजी भाषा के विचारजगत् में उतना ही गहरा प्रभाव पड़ा, जितना कि टॉयनबी तथा सोरोकिन की सुविख्यात कृतियों[2] का। इस चिंतन-परम्परा में डॉ० राधाकृष्णन् की प्रस्तुत पुस्तक की, वेबर, टॉयनबी, तथा सोरोकिन की युगप्रवर्तक कृतियों के समकक्ष गणना होगी, यह मेरा विश्वास है।

डॉ० राधाकृष्णन् के ग्रन्थों का अनुवाद अत्यन्त ही दुस्साध्य कार्य है। महाभाष्यकर पतंजलि की कृति के गाम्भीर्य तथा सौष्ठव को व्यक्त करने के लिए महावैयाकरण भर्तृहरि ने उसकी उस उदधि से तुलना की है जो ऊपर से अत्यन्त प्रशान्त है, पर जिसकी गहराई की कोई थाह नहीं—अलब्धगाधे गांभीर्यादुत्तानमिव सौष्ठवात्। डॉ० राधाकृष्णन् की कृतियों के अर्थगाम्भीर्य एवं वाक्सौष्ठव का वर्णन करने के लिए मैं वाक्यपदीयकार के इन शब्दों का अनुवचन करूंगा। श्री विराज ने अनुवाद का स्तुत्य प्रयास किया है; मूल भाव की रक्षा तो सामान्यत:

---

१. अंग्रेजी अनुवाद—दि प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड दि स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज़्म।

२. टॉयनबी की अन्यतम कृति 'ए स्टडी ऑफ हिस्टरी' का १० जिल्दों में प्रकाशन १९३६-१९५४ में हुआ; सोरोकिन की अन्यतम कृति 'सोशल एण्ड कल्चरल डायनेमिक्स' का ४ जिल्दों में प्रकाशन १९३६ में समाप्त हुआ।

सम्भव हो सकी है, पर मूल के भाषाशैली की प्रांजलता की रक्षा नहीं हो सकी, और वह सम्भव भी नहीं थी। कहीं-कही अनुवाद की गंध ज्यादा तीव्र हो जाती है: उन स्थलों पर विशेष रूप से, जहाँ मूल के उद्धरणों का रूपान्तर करना पड़ा है। कुछेक का अनुवाद चिंत्य भी है। उदाहरण के लिए, उपनिषद् के प्रसिद्ध स्थल—'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय' के प्रथम अंश का अनुवाद—'अवास्तविकता से हटाकर मुझे वास्तविकता की ओर ले चलो।' (पृष्ठ १२९) सम्भवतः मूल के भाव की रक्षा 'असत्' और 'सत्' के प्रयोग से ज्यादा अच्छी तरह हो सकती थी। कुछ प्रयोग भी परिवर्ज्य हैं यथा—'व्यास हमें प्रोत्साहित करता है' (पृष्ठ १३३), 'भर्तृहरि कहता है' (पृष्ठ १३४) आदि भारतीय भाषाओं में सम्मान्य व्यक्तियों का उल्लेख बहुवचन में किया जाता है: इस शोभनीय प्रथा का त्याग करना हमारे विचार में वाञ्छनीय नहीं है। कुछ तथ्य-परक भ्रान्तियाँ भी हो गई हैं। उदाहरणार्थ, 'औरंगजेब ने अपने एक पत्र में अपने अध्यापक मुल्ला साहेब को लिखा है' (पृ० ९) उनके अध्यापक का नाम 'मुल्ला साहेब' नहीं था, बल्कि 'मुल्ला सालेह' था। आशा है अगले संस्करण में इस अनुवाद का निखरा-सुथरा रूप पाठकों के सम्मुख आएगा। हाँ, समग्र रूप में अपने इस स्तुत्य एवं अनुकरणीय प्रयास के लिए अनुवादक महोदय हमारे साधुवाद के पात्र हैं।

देशान्तर

[इक्कीस पाश्चात्य देशों की एक सौ इकसठ आधुनिक कविताएँ]

श्री० राजकुमार कोहली

'देशान्तर' में डाक्टर धर्मवीर भारती ने यूरोप और अमेरिका के विविध देशों की एक सौ इकसठ कविताओं की हिन्दी-छायाएँ प्रस्तुत की हैं। उनके अनुसार ये कविताएँ केवल उन कवियों की हैं जो बीसवीं शताब्दी में प्रख्यात हुए हैं और जिनका आधुनिक काव्य-बोध के निर्माण में हाथ रहा है।

किसी विदेशी भाषा के काव्य का अनुवाद करना कितना दुःसाध्य कार्य है यह कहने की आवश्यकता नहीं। डॉ० धर्मवीर भारती ने इस कार्य को कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया है और उन्हें इसमें विशेष सफलता मिली है इसमें सन्देह नहीं। प्रायः सभी छायाओं में मूल कविताओं की आत्मा की जिस प्रकार रक्षा हुई है वह प्रशंसनीय है। उदाहरण-स्वरूप टी० एस० इलियट की कविता Morning at the Window का अनुवाद द्रष्टव्य है :—

नीचे के बावर्चीख़ाने में खड़क रही हैं नाश्ते की तश्तरियाँ
और सड़क के कुचले किनारों के बगल-बगल—
मुझे जान पड़ता है—कि गृहदासियों की आर्द्र आत्माएँ
अहातों के फाटकों पर अंकुरित हो रही हैं, विषाद-भरी
कोहरे की भूरी लहरें ऊपर मुझ तक उछाल रही हैं
सड़क के तल्ले से तुड़े मुड़े हुए चेहरे
और मैले कपड़ों में एक गुजरने वाली का आँसू

संकलनकर्त्ता तथा अनुवादक : धर्मवीर भारती
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

ग्रौर एक निरुद्देश्य मुस्कान जो हवा में चक्कर काटती है
ग्रौर छतों की सतह पर फैलती-फैलती विलीन हो जाती है।[1]

इस प्रकार के अनुवाद विभिन्न सांस्कृतिक तथा साहित्यिक धाराओं के सम्मेलन में आदान-प्रदान का उपयोगी माध्यम हैं और डाक्टर भारती का यह प्रयास इस दृष्टि से स्तुत्य है। 'देशान्तर' के द्वारा हिन्दी काव्य-प्रेमियों की जिज्ञासा परितृप्त होगी और उन्हें काव्योचित आनन्द प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं।

किन्तु डाक्टर भारती के वक्तव्य से प्रतीत होता है कि उनका मुख्य प्रयोजन पाठक-समाज की जिज्ञासा-परितृप्ति अथवा आनन्द-प्रदान करना नहीं वरन् हिन्दी काव्यकार को नये पथ दिखाना और उसकी शिल्प-शिक्षा सम्पन्न करना है। उनके अनुसार "मध्य-युग में कवि-कर्म का एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अंग था—गुरु-शिष्य परम्परा। प्रत्येक उदीयमान कवि किसी रससिद्ध कवि को गुरु के रूप में स्वीकार करता था, जिसे परामर्श देने, शिष्य के लेखन में संशोधन करने का पूरा अधिकार रहता था। उन परामर्शों के अनुसार कवि अभ्यास करता था और परिपक्वता और प्रौढ़ता तक पहुँचते-पहुँचते स्वयं अपनी निजी शैली को खोजता और प्रतिष्ठित करता था।" वर्तमान परिस्थितियों में यह गुरु-शिष्य परम्परा विलुप्त हो गयी है। इसका स्थान ले लिया है कवि द्वारा एक सफल और समर्थ 'समानधर्मा' की खोज ने—ऐसा 'समानधर्मा' जिसके काव्य के अवगाहन द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति को समृद्ध बना सके।

डॉ० भारती ने इस गम्भीर और गुरुतर दायित्व का वरण किया है और इसे 'देशान्तर' का मुख्य प्रयोजन माना है। अतएव इस आधार पर उनके चयन का मूल्यांकन करना उनके प्रति अन्याय नहीं होगा। दुःख का विषय है कि डॉ० धर्मवीर भारती की दृष्टि किशोर भावुकता और कोरे प्रचारवाद से इस प्रकार आक्रांत है कि उनका संकलन सुपरिष्कृत रुचि एवं सुस्वस्थता का परिचय नहीं देता। एडना सेन्ट विन्सेंट मिले ने "what lips my lips have kissed" जैसी किशोर-

---

१. They are rattling breakfast plates in basement kitchens
And along the trampled edges of the street
I am aware of the damp souls of housemaids
sprouting despondently at area gates.

The brown waves of fog toss up to me
Twisted faces from the bottom of the street,
And tear from a passer by with muddy skirts
An aimless smile that hovers in the air
And vanishes along the level of the roofs.

भावुकता-पूर्ण कविताएँ ही नहीं लिखीं, इससे अच्छी कविताएँ भी लिखी हैं। लुइ आरागों (डॉ० भारती के शब्दों में : 'अरगाँ') की "पार्टी के प्रति" शीर्षक कविता कोरा प्रचार है जिसमें काव्योचित अनुभूति का सर्वथा अभाव है—अन्याय, उत्पीड़न और शोषण का विरोध प्रचारवादी कविता से नहीं होता, वरन् उसका अनुभूतिपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर मानव की आत्मा को जागृत करने से होता है, जैसा कि 'देशान्तर' में ही संकलित अमरीकी नीग्रो कवियों फ़ेन्टन जानसन अथवा लेस्ली पिंकने हिल की कविताओं में। काव्य में विद्रोह का स्वर उत्तेजित चीत्कार द्वारा नहीं वरन् करुण सिसकी के द्वारा व्यक्त होता है। अमरीकी कवियों में राबर्ट फ़ास्ट का नाम नहीं यद्यपि वे सर्वाधिक लोकप्रिय हैं—शायद उनकी सुपरिपक्व चिन्तनशीलता, जीवन के चिरन्तन सत्य का संधान, उनके काव्य के वे पवित्र मूल्य जो परम्परा ने स्थापित किये हैं डाक्टर भारती की रुचि के इतने अनुकूल नहीं हैं। फ्रास्ट की कविता में "अधरों की मदिरा" "समाज के विरुद्ध चीख़-पुकार" और ' मिथ्या अहम्मन्यता" का अभाव शायद ग्रन्थकार को अच्छा नहीं लगा। रूपर्ट ब्रुक कविता भी उनकी काव्य-प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इतने उदाहरण ही पर्याप्त हैं।

समीक्षाकार का यह कदापि तात्पर्य नहीं कि डॉ० भारती ने कविता-चयन में पूर्वाग्रह से काम लिया है किन्तु उसे यह विश्वास है कि कविताओं का अधिक सुरुचिपूर्ण चयन करने से ग्रन्थ अपने उद्देश्य में अधिक सफल होता। आशा है कि डॉ० भारती भविष्य में भी इसी प्रकार के प्रयासों द्वारा हिन्दी-जगत् के एक विशिष्ट अभाव की पूर्ति करते रहेंगे।

शोध-कार्य

रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण

डॉ० रामसागर त्रिपाठी

"मैंने भारतीय पक्ष को उसके वास्तविक स्वरूप में रखने का प्रयत्न किया है, तथापि मेरा यह दावा नहीं है कि इस विषय में अब कोई बात कहने को रह नहीं गई है। विकासमान साहित्य क्षेत्र में अन्तिम बात कहने का दावा करना उचित नहीं है—प्रगति पर रोक लगा देना है। ××× फिर भी मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ विचार की नई दिशाओं अथवा सही मन्तव्यों को सामने लाने में सहायक अवश्य होगा और इसे ही मैं अपनी सफलता मानता हूँ। ××× इस ग्रन्थ में केवल भारतीय दृष्टि से रस-सिद्धान्त के स्वरूप पर विचार किया गया है।" ये हैं प्रस्तुत रचना के अनुबन्ध-चतुष्टय-सूत्र जिनको लेकर डॉ० दीक्षित की यह महनीय कृति प्रवृत्त हुई है। यदि इनका विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाए तो अवगत होगा कि प्रस्तुत रचना में दो तत्त्व उद्देश्य रूप में सन्निहित रहे हैं—प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र की रस-विषयक मान्यताओं का विश्लेषणात्मक परिचय और तत्सम्बद्ध नई दिशाओं का उन्मीलन।

प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की रस-विषयक मान्यताएँ अनेक वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—(१) भरत का नाट्य-रस-सिद्धान्त; (२) भामह इत्यादि ध्वनि-पूर्ववर्ती आलंकारिकों द्वारा प्रतिपादित रस की अलंकारान्तःपातिता अथवा रसवत अलंकार-रूपता; (३) ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित नाट्य-रस की काव्यनिष्ठता और रसवत् अलंकार तथा रसध्वनि का विषय-विभाजन; (४) रसवत् में आचार्य कुन्तक की तुल्यार्थक मत् प्रत्ययान्तता इत्यादि। यद्यपि ध्वनि पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने भी रस-सामग्री और रस-निष्पत्ति के विषय में मौनावलम्बन द्वारा भरत की मान्यता का समर्थन करने की ओर ही संकेत किया है तथापि काव्य में रस की विशेष स्थिति तो विभाजक तत्त्व हो ही सकती है। किन्तु प्रस्तुत रचना भरत की रससूत्र व्याख्या-परक ही रही है और इस दिशा में प्रवृत्त अनेक मतवादों का निर्णयात्मक विवरण ही ग्रन्थ-कार का प्रमुख प्रवृत्ति निमित्त रहा है। इस दिशा में जिस सबल माध्यम का आश्रय लिया गया है, जो विवेचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है और

लेखक : डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित
प्रकाशक : राजकमल, प्रकाशन दिल्ली
मूल्य : १० रु०, पृष्ठ संख्या ४४७

साथ ही जो महत्त्वपूर्ण सामग्री इस ग्रन्थ में संकलित की गई है उसके लिए डॉ० दीक्षित सर्वथा बधाई के पात्र हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में 'रस' शब्द के विभिन्न प्रयोगों पर विचार किया गया है । द्वितीय अध्याय में मौलिक रूप में रस-सामग्री का परिचय दिया गया है । तृतीय अध्याय में रससूत्र के विभिन्न व्याख्याताओं और विशेष रूप से काव्यप्रकाश में उल्लिखित चार वादों का विस्तृत विवेचनात्मक परिचय दिया गया है । साधारणीकरण के लिए पृथक् (चतुर्थ) अध्याय रक्खा गया है, जिसमें एतद्विषयक अनेक मतों के आलोचनात्मक परिचय के साथ ग्रन्थकार ने स्वमंतव्य का भी तर्कपूर्ण अन्वाख्यान किया है । पाँचवाँ अध्याय रसास्वाद-विषयक है जिसमें प्राचीन तथा नवीन अनेक महत्त्वपूर्ण मतों की परीक्षा की गई है और मधुमती भूमिका, मनोमय कोश इत्यादि दार्शनिक विषयों का प्रशस्त प्रतिपादन किया गया है । रसाभास के लिए पृथक् अध्याय रखा गया है । जिसमें विभिन्न मतों के अनुसार रसदोषों का विवरण प्रस्तुत किया है । सप्तम अध्याय रसनिरूपण-परक है, इसमें रसके भेदोपभेदों की कल्पना, रस-संख्या इत्यादि विषयों पर विचार किया गया है और विभिन्न रसों का अलग-अलग परिचय दिया गया है । उपसंहार में आधुनिक अनेक समीक्षा-पद्धतियों के आधार पर रस की मान्यता पर विचार किया है जिसमें प्रमुखतया मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति, मनोवैज्ञानिक पद्धति, प्रभाववादी आलोचना और अभिव्यंजनावादी पद्धति की दृष्टि से रस-सिद्धान्त की मान्यता का निरूपण किया गया है और आधुनिक कविता में रस की स्थिति का विश्लेषणात्मक परिचय दिया गया है । उपर्युक्त विषय-विश्लेषण से व्यक्त हो जाता है कि लेखक का लक्ष्य एकदेशीय रहा है, न इसमें विभिन्न सम्प्रदायों की दृष्टि से रस के स्थान का विवेचन किया गया है और न ध्वनिकार द्वारा निर्दिष्ट उस तत्त्व पर ही विचार किया गया है जिसमें रस की दृष्टि से ही रीति, वृत्ति, गुण, अलंकार औचित्य, वक्रोक्ति इत्यादि काव्यशास्त्र-सम्बद्ध समस्त तत्त्वों के स्वरूपाधिगम का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है (साथ ही मधुसूदन सरस्वती इत्यादि प्रतिष्ठित आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट उन प्रसिद्ध-व्यतिरिक्त पद्धतियों पर भी विचार नहीं किया गया है जिनमें विभाव, अनुभाव, संचारीभाव और स्थायीभाव इन रस-तत्त्वों की नवीन दिशा का उन्मीलन होता है ।) इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यदि पाठक भरत द्वारा प्रवर्तित रसपद्धति के विभिन्न सिद्धान्तों को सर्वांगीण रूप में तथा नवीन भंगिमा के साथ देखने के मन्तव्य से इस रचना के अध्ययन में प्रवृत्त होगा तो सम्भवतः उसे निराश नहीं होना पड़ेगा । यह एक ही कृति जहाँ प्राचीन मान्यताओं का सर्वांगीण परिचय देती है, वहाँ इतर साहित्य-शास्त्रों की दृष्टि का भी पर्याप्त उन्मेष करती है । इस दिशा में मराठी तथा अंग्रेज़ी की परम्पराओं का विशेष रूप से परिचय दिया गया है । इस दृष्टि से लेखक सर्वथा सफल हुआ है इसमें सन्देह नहीं । केवल एक बात अवश्य खटकती है । लेखक ने अध्यायों के साथ अपनी मौलिक मान्यताओं का निष्कर्ष

रूप में प्राक्कथन नहीं किया। उन्हों ने साधारणीकरण के प्रकरण में ऐसा किया भी है, किन्तु अन्य अध्यायों के साथ भी यदि इस प्रक्रिया का अनुसरण किया गया होता तो अधिक समीचीन होता और पाठक को लेखक के मंतव्य समझने में कुछ अधिक सुविधा प्राप्त हो जाती।

रस शब्द का प्रयोग अनेकार्थक है और ऋग्वेद से ही यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। किन्तु समस्त अर्थों का समाहार तरलता और आस्वादनीयता इन दो अर्थों में हो जाता है जिनका सम्बन्ध काव्यशास्त्रीय 'रस' के क्षेत्र में हृदय की आर्द्रता और रसनीयता से स्थापित किया जा सकता है। यदि तैत्तिरीयोपनिषद् का ब्रह्म-पर्याय रस शब्द काव्य-सम्बद्ध हो सकता है तो प्रीति-वाचक रस शब्द तथा उसके दूसरे अर्थ काव्य-सम्बद्ध क्यों नहीं हो सकते, इसका हेतु समझ में नहीं आता। छान्दोग्य में रस की अष्ट-विधता घुणाक्षर-न्याय से ही काव्य की रस-संख्या से मेल खाती है क्योंकि उनका उपजीव्योपजीवकभाव काव्य-रस के विषय में दृष्टिगत होता ही नहीं। ऐसी दशा में छान्दोग्य की रस-संख्या को काव्य की रस-संख्या का आधार मानना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

ध्वन्यालोक में लक्ष्य-परीक्षा के प्रसंग में ही वाल्मीकि के शोक की श्लोकरूपता का कथन किया गया है वहाँ रस शब्द का प्रयोग नहीं है। अतः इस आधार पर रस शब्द का प्रथम प्रयोग दृश्य काव्य की अपेक्षा श्रव्य काव्य में मानना संगत नहीं कहा जा सकता। रस-सामग्री के प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सात्त्विक भावों की स्थिति क्या है? भरत मुनि ने भावों की संख्या ४९ रखकर सात्त्विक भावों को भावान्तरित किया है। दूसरी ओर स्वयं उन्हें सात्त्विकाभिनय में अन्तर्भूत कर इनकी अनुभावरूपता को भी स्वीकार किया है और इस मत का समर्थन विश्वनाथ इत्यादि परवर्ती आचार्यों से भी प्राप्त होता है। भाव और अनुभाव में यही अन्तर है कि भाव आभ्यन्तर होते हैं और अनुभाव बाह्य, भाव कारण होते हैं और अनुभाव कार्य। यद्यपि निद्रा, अपस्मार, सुप्त इत्यादि कुछ ऐसे व्यभिचारी भी होते हैं जिनकी सत्ता बाह्य भी होती है और साथ ही वे विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का कार्य भी होते हैं, तथापि सात्त्विकों की अपेक्षा उनमें एक मौलिक अन्तर होता है—इस प्रकार के संचारियों में बाह्यरूपता के साथ चितवृत्ति-विशेषरूपता भी होती है और ये बाह्य रूप केवल भाव से ही नहीं अपितु कारणान्तर से भी सम्भूत हो सकते हैं, जबकि अश्रु इत्यादि केवल बाह्य होते हैं और भाव की कार्यरूपता से भिन्न इनका कोई रूप ही नहीं होता। इस प्रकार इनका समावेश संचारियों में नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर अनुभाव केवल सत्त्व-सम्भूत नहीं होते जबकि सात्त्विक केवल सत्त्व-सम्भूत होते हैं। अतः सात्त्विकों को विशुद्ध अनुभावों की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। अतः सात्त्विकों की स्थिति संचारियों और अनुभावों की मध्यवर्तिनी होती है तथा ये संचारी की अपेक्षा अनुभाव की ओर अधिक झुके हुए हैं। रस-सामग्री विषयक दूसरा विचारणीय प्रश्न हावों की स्थिति से सम्बद्ध है। नायिकाओं (तथा नायकों) के अलंकार

एक ओर भावाभिव्यंजक होने के कारण अनुभाव की श्रेणी में आते हैं और दूसरी ओर भावोद्दीपक होने से उद्दीपन के अन्दर भी सन्निविष्ट हो जाते हैं। कतिपय आचार्य इन्हें 'अलंकार' शब्द से अभिहित करते हैं और दूसरे आचार्य 'हाव' शब्द से। अलंकार शब्द से व्यक्त होता है कि ये चेष्टाएँ स्वगत (आलम्बन-गत) भाव को अभिव्यक्त न कर आश्रयगत भावों की उत्तेजक होती हैं नायिकाओं की सभी प्रकार की चेष्टाएँ प्रणयी व्यक्तियों के हृदय में भाव को जागृत करती हैं। इन चेष्टाओं में कतिपय ऐसी अवश्य हैं जिनसे आलम्बन-गत भाव की अभिव्यक्ति नहीं होती। उदाहरण के लिए 'मुग्धता' नायिका की किसी भाव की परिचायिका नहीं होती किन्तु नायक में प्रेम को उद्दीप्त करने के कारण होती है क्योंकि उससे नायिकाओं में अधिक रमणीयता आ जाती है। यही अलंकारों की अलंकारता है। यदि आलम्बन में भी प्रेम की वेदना विद्यमान हो और उसकी अभिव्यक्ति चेष्टाओं के द्वारा हो रही हो तो उससे भी प्रणयी जनों की भावना अधिकाधिक तीव्र होती जाती है। इस प्रकार ये चेष्टाएँ एक अंश में अनुभाव कहला सकती हैं और दूसरी दृष्टि से अलंकार। यहाँ पर यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही शाब्दिक अर्थ होता है। दोनों पक्षों में अनुभाव कार्य-रूप ही सिद्ध होते हैं, अतः इन्हें एक पक्ष में कारणरूपता और दूसरे पक्ष में कार्यरूपता मानना सर्वथा चिन्त्य है।

"साधारणीकरण रसास्वाद के लिए अनिवार्य स्थिति है किन्तु साधारणीकरण रसास्वाद करा देने की अनिवार्य शर्त नहीं है। साधारणीकरण के बाद भी रस न आकर बौद्धिक तृप्तिमात्र हो सकती है जैसे सन्तों की अन्योक्तियों से होती है।" सम्भवतः इस कथन से डॉ० दीक्षित का अभिप्राय यही है कि बिना साधारणीकरण के रसास्वादन नहीं हो सकता, किन्तु यह हो सकता है कि साधारणीकरण होते हुए भी रसास्वादन न हो। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि साधारणीकरण से आचार्यों का अभिप्राय भाव के साधारणीकरण से ही है यह बात अभिनवगुप्त इत्यादि आचार्यों की पर्यालोचना से स्वतःसिद्ध हो जाती है। लोकसिद्ध तथ्य का साधारणीकरण न तो पारिभाषिक साधारणीकरण की सीमा में ही आता है और न अन्योक्तियों के साधारणीकरण से यह सिद्ध ही किया जा सकता है कि साधारणीकरण होते हुए भी रसास्वाद नहीं होता। अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में योग-सूत्रों का उल्लेख कर स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता रहता है, अनादि परम्परा के कारण उसमें प्रायः समस्त योनियों के संस्कार सुरक्षित रहते हैं, उसका किसी विशेष योनि में आना उसके उस योनि-सम्बन्धी संस्कारों को उद्बुद्ध मात्र कर देनेवाला होता है जिससे वह बिना ही अनुभव के उस योनि-सम्बन्धी कार्य में प्रवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार वासनारूप में भावों के संस्कार मानव-चित्त में सन्निहित रहते हैं। जब वासना के उद्भावक तत्त्वों को करण-गोचर बनाया जाता है तब वे भाव उद्बुद्ध होकर आस्वाद-हेतु बन जाते है। अतः

प्रदर्श्यमान विभावादितत्त्व अनुभवगोचर होते हुए भी विशिष्ट वासनात्मक चित्त-वृत्ति के उद्‌बुद्ध करने में ही उपयोगी होते हैं। इस प्रकार परिशीलक के भावों का ह साधारणीकरण होता है। इसका आशय यही है कि परिशीलक उपकरणों के माध्यम से विश्वहृदय में अपने हृदय को मिलाकर आस्वादन में विषयी बन जाता है। विभावादि के साधारणीकरण का सिद्धान्त मानने में अनेक दोष हैं। यही कारण है कि भट्टनायक के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त न हो सकी। इसी प्रकार तादात्म्य का भी यही अर्थ है कि परिशीलक विश्वहृदय से एकात्मभाव का अनुभव करने लगता है अथवा विश्व की सत्ता उसकी दृष्टि से तिरोहित हो जाती है और वह विश्वभावना के रूप में ही परिणत हो जाता है। अभिनवगुप्त की मान्यता का यही सार है। अत: आलम्बन के साधारणीकरण और आश्रय के तादात्म्य का सिद्धान्त संगत नहीं कहा जा सकता। विभाव इत्यादि संज्ञाएँ भी इसी तथ्य की ओर इङ्गित करती हैं। विभावन करना अर्थात् प्रतीति के योग्य बनाना भाव का ही हो सकता है व्यक्ति का नहीं। अनुभव के योग्य भी भाव ही बनाया जा सकता है। भाव का साधारणीकरण अभिनवभारती से अत्यधिक स्पष्ट हो जाता है।

रस-निरूपण के प्रसंग में भक्ति रस की स्वीकृति एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसके शान्त रस में अन्तर्भाव के प्रतिषेध के प्रसंग में डॉ० दीक्षित ने मधुसूदन सरस्वती के तर्कों का अतिदेश करते हुए लिखा है कि "शान्त और भक्ति में अनुराग और वैराग्य का अन्तर है। शान्त में निर्विकारता का महत्त्व है और भक्ति में लौकिक स्वार्थ सम्बन्धों को छोड़कर भी पारलौकिक शक्ति से उसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।" इस विषय में अभिनवगुप्त के तर्क भी विचारणीय हैं। उनके कथन का सारांश यह है कि प्रत्येक रस की दो अवस्थाएँ होती हैं पूर्वावस्था तथा पर्यन्तावस्था। शृंगार की पूर्वावस्था प्रेम-संयोजना के रूप में होती है और पर्यन्तावस्था सुरतप्रवृत्ति के रूप में। रौद्र की पूर्वावस्था विभिन्न क्रोध-प्रदर्शक अनुभावों के रूप में होती है और पर्यन्तावस्था हत्या के रूप में। प्रत्येक रस की पूर्वावस्था ही आस्वाद्य तथा अभिनेय होती है। शृंगार की सुरतावस्था और क्रोध की हत्यावस्था न आस्वाद्य होती है और न अभिनेय ही। इसी प्रकार शान्त की भी दो अवस्थाएँ होती हैं—पूर्वावस्था में शान्त रस में विषय-विराग हो जाता है किन्तु अनुराग में अभ्यस्त चित्तवृत्तियाँ अनुराग के विषय के रूप में परमसत्ता को स्वीकार कर लेती हैं। शम की पर्यन्तावस्था में सभी ओर से उपरम हो जाता है और पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो जाया करता है। शान्त की पूर्वावस्था भगवत्प्रेम तथा जगत् के प्रति वैराग्य रूप में ही आस्वाद्य होती है, समस्त-चित्तवृत्तियों से भावना का एकदम बहिष्कार आस्वाद्य हो नहीं सकता। इस प्रकार भक्ति का समावेश शान्त की पूर्वावस्था में हो जाता है। शान्त का वैराग्य व्यापक तत्त्व है और भक्ति उसमें व्याप्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति में शान्त को कारणभूत माना है—

भक्ति के साधन कहौं बखानी। सुगम पन्थ मोहि पावहिं प्रानी ॥
प्रथमहि विप्रचरण अति प्रीती। निज-निज धर्म निरत श्रुति नीती ॥
इहि कर फल मम विषय विरागा। तब मम चरण उपज अनुरागा ॥

भक्ति की महिमा के प्रसंग में गीता का उद्धरण दिया गया है, किन्तु स्वयं भगवान् कृष्ण ने गीता में वैराग्य को भक्ति का कारणभूत व्यापक धर्म माना है—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ १८। ५३, ५४

इस प्रकार भक्ति भी शान्त की एक विशेष अवस्था ही है जिसमें विषय-वैराग्य हो जाता है और उपभोग में अभ्यस्त चित्तवृत्तियाँ लोक के स्थान पर भगवान् की ओर उन्मुख हो जाती हैं। भक्ति का पर्यवसान शान्त की पर्यन्तावस्था में होता है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १८।५५

यह शान्त की पर्यन्तावस्था है जिसके आस्वादन की अनर्हता का प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने किया है। इस प्रकार भक्ति का अन्तर्भाव शान्त में हो जाता है। प्रत्येक रस में कोई विशेष भाव प्रमुख होकर भावध्वनि के क्षेत्र में आता है। जैसे शृंगार में कभी-कभी लज्जा प्रमुख होकर लज्जाभाव ध्वनि कही जाती है। इसी प्रकार शान्त में भी कभी-कभी भगवत्प्रेम प्रधान होकर भक्तिभाव ध्वनि का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए भक्ति को रस न मानकर प्राचीन आचार्यों ने 'भाव' माना है।

डॉ० दीक्षित के अन्य प्रकरण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा इसी प्रकार विवेचन की अपेक्षा रखते हैं। उनके तीन प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं—(१) रसनिष्पति के विषय में विभिन्न आचार्यों की मान्यताओं का विश्लेषण तथा उनके दार्शनिक आधार का निरूपण; (२) रसास्वाद के विषय में संस्कृत, मराठी तथा अंग्रेज़ी के विद्वानों के मतों का विवेचनात्मक परिचय; और (३) उपसंहार में अनेक आधुनिक वादों से रससिद्धान्त की सम्बन्ध-स्थापना। निस्सन्देह डॉ० पाण्डेय, काणे, डे प्रभृति विद्वानों की रचनाओं में प्रकीर्ण सामग्री का उपयोगी संकलन जहाँ इस पुस्तक की विशेषता है वहाँ मौलिक दिशा का उन्मीलन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। ऐसी सफल कृति के लिए हम डॉ० दीक्षित को बधाई देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

हिन्दी काव्य में अन्योक्ति

डॉ० ओम्प्रकाश

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० संसारचन्द्र का शोध प्रबन्ध है जिस पर पंजाब विश्वविद्यालय ने उनको पी० एच-डी० उपाधि प्रदान की है। इस प्रबन्ध में अन्योक्ति के विभिन्न रूपों, उनके वैज्ञानिक विश्लेषण, वर्गीकरण, विकास तथा अन्योक्ति के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न धारणाओं इत्यादि पर पांडित्यपूर्ण प्रकाश डाला गया है। अन्त में अन्योक्ति-प्रवृत्तियों का स्वरूप दिखाने के लिए प्रतिनिधि अन्योक्ति-संकलन भी प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक में ६ अध्याय हैं। प्रथम में 'विषय-प्रवेश', द्वितीय में 'अन्योक्ति—स्वरूप और महत्त्व', तृतीय में 'अन्योक्ति अलंकार', चतुर्थ में 'संस्कृत-साहित्य में अन्योक्ति पद्धति,' पंचम में 'हिन्दी-साहित्य में अन्योक्ति पद्धति', तथा षष्ठ में 'अन्योक्ति-ध्वनि' विषयों का प्रतिपादन है। इस प्रकार पूर्वार्द्ध के प्रथम तीन अध्यायों में शास्त्रीय पक्ष तथा अन्तिम अध्यायों में व्यवहार-पक्ष माना जा सकता है। अन्त में दो परिशष्ट हैं—'हिन्दी अन्योक्ति-संग्रह' तथा 'सहायक ग्रन्थ'।

प्रबन्ध का शास्त्रीय भाग विशेष महत्त्व का है। डॉ० संसारचन्द्र संस्कृत के प्रतिष्ठित विद्वान् तथा अनुभवी अध्यापक हैं। उन्होंने अपने विषय पर यथासंभव सामग्री-संकलन किया है और उस पर गम्भीर विवेचन भी प्रस्तुत किया है। 'विषय प्रवेश' में उनका प्रतिपादन है कि सामाजिक प्राणी मनुष्य के लिए भाषा अत्यन्त अनिवार्य उपकरण है, परन्तु साधारण भाषा तथा साहित्यिक भाषा (काव्य-भाषा) में अन्तर है, उस अन्तर को ही मनीषियों ने वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति अथवा रीति, ध्वनि आदि नाम दिये हैं। शब्द और अर्थ की यह विशेषता (अन्यता) ही किसी प्रबन्ध को काव्यत्व प्रदान करती है; व्यापक अर्थ में, अन्योक्ति ही काव्य

लेखक : डॉ० संसारचन्द्र
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण १९६०
मूल्य : बारह रुपये पचास नये पैसे।
पृष्ठ संख्या : २९५ + १७; परिशिष्ट : ३५२

का मेरुदंड है। "साधारणतः प्रयुक्त शब्दों और अर्थों की अपेक्षा काव्य के शब्दों और अर्थों में कुछ अन्यता ही रहती है, जिससे काव्य काव्य बनता है" "काव्य के क्या कलापक्षीय और क्या भावपक्षीय सभी निर्मापक तत्त्वों में 'अन्यता' सर्वसम्मत ही है"। "हम अन्योक्ति को काव्य के एक व्यापक तत्त्व के रूप में लेंगे और इसे अलंकार भी मानेंगे, शैली (पद्धति) भी मानेंगे, और ध्वनि भी मानेंगे"। प्रथम अध्याय के इस उपसंहार में यह निष्कर्ष चिन्त्य है 'अन्योक्ति को काव्य के एक व्यापक तत्त्व के रूप में' स्वीकार करना काव्यशास्त्र के विकास की अवहेलना है; काव्य को काव्यत्व प्रदान करने वाली विशेषता को अलग-अलग सम्प्रदायों ने अलग-अलग नामों से अभिहित किया है परन्तु समन्वय-काल से प्रत्येक विशेषता एक विशिष्ट संकीर्ण अर्थ की द्योतक बन गई है उसको प्राथमिक व्यापक अव्यवस्थित रूप में ग्रहण करना ऐतिहासिक विकास के विरुद्ध है। अतः 'अन्योक्ति' 'लक्षण-नाम-प्रकाश' नहीं है, इसका स्वरूप संकीर्ण तथा वैज्ञानिक है, उसी अर्थ में इसका अध्ययन होना चाहिए। द्वितीयतः विचारणीय यह है कि उपसंहार में घोषणा है 'व्यापक तत्त्व', 'अलंकार', 'शैली' तथा 'ध्वनि' अन्योक्ति के इस क्रमिक अध्ययन की, परन्तु प्रबन्ध में इसका निर्वाह नहीं हुआ—'अन्योक्ति—ध्वनि' का शास्त्रीय विवेचन तो अन्त में है। यदि शास्त्रीय विवेचन एक साथ हो जाता और व्यावहारिक उसके अनन्तर तो अधिक वैज्ञानिकता आ सकती थी।

द्वितीय अध्याय में अन्योक्ति के स्वरूप और महत्त्व का विवेचन है। इसमें लेखक का मूल प्रतिपाद्य है कि "अप्रस्तुत विधान उपमा से प्रारम्भ होता है ··अन्योक्ति अप्रस्तुत विधान की परिनिष्ठा (चरम अवस्था) है"। प्रसंगतः सादृश्यमूलक अर्थालंकारों का विस्तृत वर्णन इस अध्याय का अंग बन गया है। लेखक ने संस्कृत के सभी सुलभ ग्रन्थों से सहायता ली है, परन्तु हिन्दी के कुछ ऐसे लेखक उद्धृत कर दिये हैं जो काव्यशास्त्र में बिल्कुल भी प्रमाण नहीं हैं। 'पद्मावत' तथा 'कामायनी' पर भी इस प्रसंग में विचार करना अप्रासांगिक लगता है। 'कामायनी' में 'प्रस्तुतांकुर' सिद्ध करने का प्रयत्न सफल नहीं हुआ; 'प्रस्तुतांकुर' एक अलंकार है शैली नहीं; उसका चमत्कार भी अप्रस्तुतार्थ में ही है; अप्पय्यदीक्षित ने एक ऐसी परिस्थिति की कल्पना की है जिसमें अप्रस्तुतार्थ स्थूल रूप में प्रस्तुत रहे; इसीलिए अधिकतर आचार्यों ने इस अलंकार को महत्त्व नहीं दिया। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के 'प्रतीक', 'संकेत' तथा 'अभिव्यंजना' पर भी विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय में अन्योक्ति अलंकार का अध्ययन है। उसमें वेद से लेकर प्रयोगवादी साहित्य तक का परीक्षण एवं विश्लेषण है। इनने विशाल साहित्य का अध्ययन इतने कम पृष्ठों में बिखरा हुआ ही हो सकता था। चतुर्थ तथा पंचम अध्याय अन्योक्ति पद्धति का अध्ययन करते हैं। संस्कृत-साहित्य का अध्ययन तो अत्यन्त

विचारपूर्ण है। हिन्दी साहित्य का अध्ययन भी रोचक है, परन्तु काव्य, नाटक, उपन्यास निबन्ध आदि सभी साहित्य-रूपों पर विचार करने के कारण विवेचन पल्लवग्राही बन गया है। सामान्य पाठक के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि विद्वान् समीक्षक ने निर्वाचन किस आधार पर किया है और अन्योक्ति-शैली तथा अन्योक्ति-अलंकार की विभाजन-रेखा कौन सी है। अन्तिम अध्याय में अन्योक्ति-ध्वनि का पांडित्यपूर्ण विवेचन है। इस प्रकार २६५वें पृष्ठ पर जाकर पुस्तक समाप्त हो जाती है। यदि अन्त में 'उपसंहार' होता तो लेखक के विचारों एवं शोध के निष्कर्षों से पाठक सहज ही परिचित हो सकता था, परन्तु लेखक ने 'उपसंहार' की प्रथा को मानो अस्वीकार कर दिया है। फलतः प्रबन्ध का अन्त आकस्मिक-सा लगता है, स्वाभाविक नहीं।

प्रथम परिशिष्ट में "हिन्दी में सभी युगों का प्रातिनिध्य करने वाले अन्योक्ति-कोश" का अवतार है जिसमें ५१ पृष्ठ भर गये हैं; अनेक अन्योक्तियाँ ग्रन्थ के भीतर भी आ गई थीं। प्रस्तुत ग्रन्थ में ये ५१ पृष्ठ प्रत्येक पाठक को खटकेंगे; इस कविता-संग्रह से प्रबन्ध की गम्भीरता में ह्रास हुआ है, वृद्धि नहीं। संग्रह किस अर्थ में प्रतिनिधि है—यह दूसरी बात है। अच्छा होता यदि विद्वान् लेखक एक स्वतन्त्र अन्योक्ति-कोश का सम्पादन कर देते। द्वितीय परिशिष्ट में 'सहायक ग्रन्थ' हैं। इस परिशिष्ट में दो बातें ध्यान देने योग्य होती हैं—क्रम तथा परिचय। ग्रन्थों का क्रम या तो अकारादितः होगा या उपयोगानुसार; लेखक ने अकारादि-क्रम नहीं रखा—'यजुर्वेद' के बाद 'ऐतरेय ब्राह्मण' तथा 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के बाद 'निरुक्त' आदि इसके प्रमाण हैं; उपयोगानुसार ग्रन्थों का क्रम हो—ऐसी सूचना भी कहीं नहीं है। 'सहायक-ग्रन्थ'-सूची में संस्करण-विशेष का उल्लेख होना चाहिये जिससे शंका होने पर पाठक उद्धरणों को ठीक करले, केवल नाम गिनाने से कोई लाभ नहीं। कुछ पुस्तकों के नाम भी ग़लत छप गये हैं।

'अन्योक्ति' भारतीय काव्यशास्त्र का एक विशेष आभूषण रही है। 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' के नाम से इसने आचार्यों को अपनी ओर आकृष्ट किया था। इसकी सजातीय 'समासोक्ति' है जो आज भी पाठक के मन को अपनी शोभा से मुग्ध कर लेती है। 'अप्रस्तुतप्रशंसा' और 'समासोक्ति' की प्रतिद्वन्द्विता तो उस प्रकार की नहीं चली जिस प्रकार की कि 'वक्रोक्ति' और 'स्वभावोक्ति' की, परन्तु आचार्यों को इन दोनों के क्षेत्रों की बर्हिभित्ति एक ही जान पड़ी, इसलिये प्रायः अन्योक्ति-शैली और समासोक्ति-शैली की विभाजन-कसौटी के विषय में मतभेद रहा। शुक्ल जी जैसे विद्वान् 'पद्मावत' जैसे महाकाव्य को एक दम अन्योक्ति या समासोक्ति न कह सके। आधुनिक युग में अन्योक्ति ने आचार्यों को अपनी ओर आकृष्ट किया और कुछ आचार्य इसका मोहक वर्णन कर सके। समासोक्ति छायावादी कवियों का प्रिय अलंकार है, भले ही वे उसकी लक्षणा-

शक्ति को अंग्रेजी का प्रभाव समझते रहे हों। अन्योक्ति और समासोक्ति का शास्त्रीय अध्ययन अत्यन्त परिपूर्ण एवं रोचक हो सकता है। डॉ० संसारचन्द्र ने इस दिशा में एक सफल कदम उठाया है। आज जो लोग संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ हैं वे उसकी अमूल्य राशि को कोई महत्त्व नहीं दे पाते। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त आवश्यक है कि संस्कृत और हिन्दी के समान रूप से ज्ञाता कुछ विद्वान् उस अक्षय भंडार का मार्ग-दर्शन करें। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध का महत्त्व निर्विवाद है। 'हिन्दी काव्य में अन्योक्ति" शोध-प्रबन्ध का समन्वित प्रभाव पाठक पर अच्छा ही पड़ता है। काव्यशास्त्रीय प्रतिपादन रोचक तथा मौलिक है। लेखक के अध्ययन तथा परिश्रम का परिचय प्रत्येक अध्याय देता है। अन्योक्ति पर कार्य करके डॉ० संसारचन्द्र ने काव्यशास्त्रीय शोध के क्षेत्र में विशेष योग दिया है। आशा है अधिकारी विद्वानों में इस ग्रन्थ का स्वागत होगा।

डिंगल साहित्य

डॉ० दशरथ शर्मा

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी के विद्वानों का ध्यान राजस्थान की साहित्यिक विभूति की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो रहा है। डॉ० जगदीश-प्रसाद का यह शोध प्रबन्ध इसी आकर्षण का सुफल है।

पुस्तक के आरम्भ में विवेचनामयी सारगर्भित भूमिका है जिसमें डिंगल के नामकरण, कालविभाजन, संक्षिप्त इतिहास आदि विषयों पर विचार किया गया है। प्रथम अध्याय में कुछ प्रमुख रचनाओं का आलोचन करने के बाद डॉ० श्रीवास्तव ने द्वितीय अध्याय में डिंगल साहित्य का विषयानुसार विवेचन किया है। तीसरे और चौथे अध्यायों में डिंगल' के अलंकारों और छन्दों का विवेचन है। पाँचवें अध्याय में भाषागत समीक्षा और छठे अध्याय में ऐतिहासिक सामग्री की परीक्षा है।

इस शोध के नवीन विषय पर स्वभावतः मतभेद के लिये पर्याप्त अवकाश है। यही अनिश्चित है कि डिंगल शैली है या भाषा। इसे भाषा माना जाए तो किसी प्राचीन लेखक ने मारवाड़ी गद्य के लिए डिंगल शब्द का प्रयोग किया है या नहीं? इसके प्राचीनतम उपलब्ध प्रयोग ये हैं—

(१) **चारण डिंगल चातुरी, पिंगल भाट प्रकास।**

(कविकुलबोध, १६वीं शती)

(२) **गोंडी दांग मांरा गुडे गूंठणा रा।**
पडे पाइं पारा मथै मैण धारा॥
उडें पींगलां डींगला रा अंगारा।
ग्रहै गूदरै जेम कुलाल गारा॥

(सांया जी झूला, सं० १६३२-१७०३ नागदमण काव्य)[1]

लेखक : डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद। मूल्य ८) रु०
१. **वरदा, वर्ष ३, अंक ४, पृ० ८०**

इन प्रयोगों से तो यही प्रतीत होता है कि राजस्थान के कवि अपनी काव्य-रचना में दो शैलियों का प्रयोग करते थे, एक पिंगलादि छन्दःशास्त्रियों के नियमों से बद्ध और दूसरी तद्भिन्न एवं अपभ्रंश-बहुल । कालान्तर में भ्रमवश जिस प्रकार से कुछ विद्वानों ने पिंगल को ब्रजभाषा का समानार्थक मानना आरम्भ कर दिया, उसी तरह कइयों ने डिंगल में गद्य और पद्य दोनों को सम्मिलित करते हुए उसे मारवाड़ी का समानार्थक बना दिया, किन्तु अब भी डिंगल से मुख्यतः चारणी शैली में रचित राजस्थानी काव्य का ही बोध होता है ।

डॉ० श्रीवास्तव ने डिंगल शब्द की अनेक व्युत्पत्तियों का उल्लेख किया है, किन्तु प्रायः उन्हें शास्त्रीय न मानकर 'पापुलर एँटिमालोजी' के निदर्शन समझना उचित होगा ।[१] जिस प्रकार संस्कृतज्ञ विद्वान् मियां और मुल्ला तक को संस्कृत के प्रत्ययों और धातुओं से व्युत्पन्न कर सकते हैं, उसी तरह डिंगल को 'डगल', 'डिम्+गल', और 'डींगल' आदि में भी देखना सम्भव है । डिंगल शब्द वास्तव में इनसे व्युत्पन्न होता तो इस विस्तीर्ण राजस्थानी साहित्य में कहीं तो इनमें से किसी एक का एक बार तो प्रयोग मिलता । डॉ० श्रीवास्तव ने कुछ मतों का आलोचन और कुछ की न्यूनाधिक अंश में पुष्टि की है । किन्तु अन्त में उन्होंने यह ठीक ही लिखा है कि 'पुष्ट प्रमाणों के अभाव में किसी भी मत को मान लेना संगत न होगा ।" डिंगल के प्राचीन काल का आरम्भ भी सन् १३०० के आसपास ठीक है । किन्तु इससे पचास-साठ वर्ष पूर्व इस समय को रखा जाता तो भी कोई अशुद्धि न होती ।

डिंगल का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते समय लेखक ने तत्कालीन परिस्थितियों से उसका सामञ्जस्य बैठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, और उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है । किन्तु भक्ति-काव्य का वर्णन करते समय लेखक आजकल की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित है । उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि भक्ति के उद्गम का कारण न अपने पौरुष से हताश होना है, और न भक्ति-काव्य किसी नैराश्यमय युग की ही उपज है । विष्णुपुराण की भक्ति उस समय की है जब देवता भी 'यही गीत गाते थे कि वे भारत में जन्म लें ।" यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य के समय दक्षिण में कोई ऐसा अत्याचार न था जो भक्ति के अतिरिक्त उनके लिये और कोई मार्ग ही न छोड़ता । सूर और तुलसी भी अपेक्षाकृत शान्ति के समय उत्पन्न हुए थे । अकबर का समय न औरंगजेब[२] का था और न अलाउद्दीन का । भक्त कवि ईसरदास, प्रिथीराज़ राठौड़, केशवदास गाडण, माधोदास दधिवाडिया और सांया झूला की कविता भी अकबर के समय में पुष्पित और पल्लवित हुई थी ।

---

१. तेस्सीतरी के शब्दों में ये व्युत्पत्तियाँ विचित्र और अश्रद्धेय (fantastic) हैं ।

२. दयालदास के ख्याल से डॉ० श्रीवास्तव ने जो अवतरण अपने मन की परिपुष्टि के लिये दिया है उसमें इतिहास की दृष्टि से अनेक अशुद्धियाँ है ।

प्रथम अध्याय में लेखक ने 'ढोला मारू रा दूहा' के काव्य रूप पर कुछ नवीन प्रकाश डाला है। इसके सम्पादकों ने इसे 'जनप्रिय लोकगीत' माना था। डॉ० श्रीवास्तव इसे खण्डकाव्य मानते हैं। 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' के काव्य-सौष्ठव पर कुछ अधिक विचार करना उचित होता। किन्तु अपने दो पृष्ठ के 'रस-विश्लेषण' में लेखक ने यही दिखाने का प्रयास किया है कि 'रस के विचार से पृथ्वीराज काव्यशास्त्र के निष्कर्ष (निकष ?) पर खरे नहीं उतरते।' वे इस बात को भूले हैं कि सभी महा-कवि काव्यशास्त्र के कुछ न कुछ नियमों की अवहेलना करते रहे हैं। भवभूति ने अन्य सब रसों को करुण का विवर्त माना। कालिदास ने कुमारसम्भव में देवता-विषयक रति का वर्णन किया। प्रिथीराज को भी अपने काव्य के कुछ स्थल ऐसे दिखाई पड़े होंगे, जिस पर समालोचक आपत्ति कर सकें। तभी तो वे लिख सके—

मोतिए विसाहण ग्रहि कुण मूंके, अेक अेक प्रति अेक अनूप।
किल सोभण मुख मूझ वयण कण, सुकवि कुकवि चालणि न सूप ॥२१५॥

यह आत्मप्रशंसा अवश्य है; किन्तु इस आत्मप्रशंसा का मर्म डा० श्री-वास्तव से कहीं अधिक विदेशी विद्वान् तेस्सीतरी ने समझा और इन शब्दों में व्यक्त किया :

"Seeing that Prithi Rajas production is really incensurable, we may well forgive him this outburst of self-confidence; it is, on a small scale and a different form, the same proud feeling which made Michaelangelo strike the knee of his Moses and say to the marble : Speak !"

'हालां झालां रा कुँडलियां', 'छन्द राउ जैतसी रउ', 'वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेसदासोत री, 'रघुनाथ रूपक गीतांरो,' 'नीति मंजरी,' और 'धवल पचीसी' का लेखक ने अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया है। किन्तु काव्यसौष्ठव पर प्राय: सर्वत्र ही कम ध्यान दिया गया है। तिथिक्रम से 'छन्द राउ जैतसी रउ' को अध्याय में दूसरा स्थान मिलना चाहिये था।

द्वितीय अध्याय में लेखक ने डिंगल काव्यों को सात विभागों में विभक्त किया है। इनमें दूसरा वर्ग वीरकाव्य का है जो राजस्थान की प्रमुख देन है। रणमल्ल छंद को लेखक ने अप्रकाशित माना है। वास्तव में इसे प्रकाशित हुए कई वर्ष हो गये। विद्वान लेखक ने तेईस वीरकाव्य गिनाए हैं। किन्तु उदाहरणों के अत्यन्ताभाव से पाठक को लेख के वचनमात्र पर श्रद्धा करनी पड़ती है, जो उचित नहीं हैं। अध्याय के कुछ भाग केवल सूचिमात्र हैं। इन्हें पढ़ते ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने इनके

कभी दर्शन नहीं किए हैं ।; केवल खोज की रिपोर्टों के आधार पर पुस्तकों के नाम इस ग्रन्थ में टीप दिए गए हैं ।

अध्याय ३ में अलंकारों के प्रयोग पर लिखते समय लेखक ने फिर बड़ी-बड़ी सूचियाँ प्रस्तुत की हैं[1] । इन्हें निरर्थक तो नहीं कहा जा सकता ; किन्तु ये विशेष समर्थक भी नहीं हैं । छन्दों के अध्ययन का आरम्भ ठीक रूप में है; किन्तु अनेक स्थलों पर लेखक की सूचि-निर्माण की वही प्रवृत्ति फिर जागृत हो उठी है । अधिनिबन्ध में इनके लिए समुचित स्थान टिप्पण या परिशिष्ट हैं ।

डिंगल भाषा के अभ्युदय और विकास पर लिखते समय बीसलदे रासो को लेखक ने ११ वीं शती में रखने का कुछ सुझाव दिया है जो उसके आन्तरिक लक्ष्य के सर्वथा विरुद्ध है ।[2] उनका यह कहना भी ठीक नहीं है कि "८०० ई० से १३०० ई० पर्यन्त अपभ्रंश ने यहाँ की साहित्यिक भाषा का एकमात्र पद प्राप्त किया ।"[3]

डिंगल काव्य में प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री वर्तमान है सम्भवतः लेखक को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि कामरान का बीकानेर पर आक्रमण वि० सं० १५९२ के एक शिलालेख से भी समर्थित है ।[4] विरद छिहत्तरी, बचनिका राठौड़ रतनसिंहजी, राजरूपक आदि की भी डा० श्रीवास्तव ने अच्छी ऐतिहासिक समीक्षा की है । किन्तु इस प्रकाशित और इस अधिनिबन्ध के लेखक से पूर्व अंशतः समीक्षित इन ऐतिहासिक ग्रन्थों से कहीं अधिक सामग्री अप्रकाशित ग्रन्थों में पड़ी है जिसका पर्यवेक्षण नितान्त आवश्यक है ।

डा० श्रीवास्तव का यह प्रयास स्तुत्य है । उन्होंने पर्याप्त परिश्रम भी किया । किन्तु उनके दृष्टिकोण को अपनाते हुए हम डिंगल और राजस्थानी को एक मानें तो उनका अध्ययन बहुत कुछ एकाङ्गी रह गया है । इसमें जैन-शैली के काव्य प्रायः नहीं के बराबर हैं । लौकिक साहित्य और संत साहित्य भी अधिकांश में उनकी दृष्टि से बाहर रह गया है । डिंगल साहित्य को वे चारणी शैली का साहित्य मानकर यह पुस्तक लिखते तो यह पुस्तक अधिक सर्वाङ्गीण मानी जाती ।

---

१. विशेष रूप से पृष्ठ २२२-२२३ देखें ।
२. देखें—Early Chauhan Dynasties, पृष्ठ ३३९ राजस्थान भारती, भाग ३ अंक १
३. देखें—Early Chauhan Dynasties, अध्याय २४ और २५ ।
४. बीकानेर जैन लेखसंग्रह, पृ० ३ ।

श्री गुरुग्रन्थ-दर्शन

डॉ० हरिभजन सिंह

डॉ० जयराम मिश्र द्वारा लिखित श्री गुरुग्रन्थ-दर्शन आदि ग्रन्थ पर प्रथम प्रकाशित हिन्दी शोध-प्रबन्ध है। अंग्रेजी और पंजाबी में इस विषय पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध थी किन्तु हिन्दी में इस विषय का व्यवस्थित अध्ययन न हुआ था। डॉ० मिश्र ने इस न्यूनता की पूर्ति की है।

आलोच्य ग्रन्थ में लेखक ने आत्मा-परमात्मा, सृष्टि-क्रम, हउमै (अहंकार), माया, जीव, मनुष्य और आत्मा, मन, हरि-प्राप्ति-पथ आदि शीर्षकों के अन्तर्गत आदि-ग्रन्थ के दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से संग्रहीत करने का यत्न किया है। आरम्भ में आदि ग्रन्थ के संकलन, इसके वाणीकार, भीतरी क्रम, गुरु ग्रन्थ में वर्णित राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दशाएँ, मध्यकालीन धर्म-सुधारकों में गुरु नानकदेव का महत्त्व, इन विषयों का चलता-सा परिचय दिया है। शोध-प्रबन्ध के मूल विषय का अतिक्रमण करते हुए भी इन अध्यायों में उपयोगी सामग्री जुटाई गई है, जिससे आदि-ग्रन्थ का सामान्य परिचय प्राप्त हो जाता है। ग्रन्थ के अन्त में 'श्री गुरु ग्रन्थसाहिब के सर्वोपरि तत्त्व' नामक अध्याय में विद्वान् शोध-कर्ता ने अपने अध्ययन का उपसंहार प्रस्तुत किया है।

सर्वप्रथम इस शोध-प्रबन्ध की सीमा-रेखाओं को समझ लेना उपयुक्त होगा। आदि ग्रन्थ में सिख गुरुओं के अतिरिक्त अनेक सन्तों, भक्तों, सूफियों एवं भाटों की रचनाएँ भी संग्रहीत हैं। यह 'भक्त-वाणी' आदि-ग्रन्थ का इतना ही महत्त्वपूर्ण भाग है जितना गुरु-वाणी। आदि ग्रन्थ की 'गुरु-ग्रन्थ' के रूप में स्थापना के पश्चात् भक्त-वाणी का महत्त्व भी गुरु-वाणी के समतुल्य ही हो जाता है। डॉ० मिश्र ने भक्त-वाणी को अपनी शोध-परिधि से बहिष्कृत ही रखा है। वे भाई साहिब भाई जोधसिंह, स० शेरसिंह, स० साहिबसिंह जैसे सिख विद्वानों की कृतियों से लाभान्वित हुए हैं, ऐसा तो स्पष्ट ही है। इन विद्वानों का ध्येय 'गुरु-मति' सिद्धान्त प्रस्तुत करना था। अतः इन विद्वानों के अध्ययन का मुख्य आधार गुरुओं की वाणी

लेखक : डॉ० जयराम मिश्र
प्रकाशक : साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड, इलाहाबाद
मूल्य : ८ रु०, पृष्ठ सं० : ३५८

ही रही है। डा० मिश्र का विषय अपेक्षाकृत व्यापक था। प्राप्त विश्लेषण और विवेचन से लाभान्वित होने के मोह ने इन्हें अपने विषय की व्यापकता से सम्यक् न्याय नहीं करने दिया। व्यापकता की बलि देकर उन्होंने नैश्चित्य (neatness) की प्राप्ति की है। परिणामतः यह शोध-प्रबन्ध गुरु ग्रन्थ-दर्शन की अपेक्षा गुरु-दर्शन अथवा गुरुमति-दर्शन का अभिधान पाता तो अधिक उपयुक्त होता।

इस ग्रन्थ की दूसरी सीमा काल-दृष्टि से सम्बन्धित है। डॉ० मिश्र ने गुरुग्रन्थ दर्शन के विकासौन्मुख चरित्र पर कोई ध्यान नहीं दिया। गुरु ग्रन्थ में लगभग चार शताब्दियों की रचनाएँ संकलित है। स्वयं गुरु नानकदेव से गुरु तेग़बहादुर तक दो शताब्दियों का अन्तर है। समय सिद्धान्त में संशोधन किये बिना नहीं रहता। सिख-दर्शन में एक मूलभूत एकता भी है और, जैसा कि एक जीवन्त धर्म में होना आवश्यक है, विकासजनित विस्तृति के सूक्ष्म तत्त्व भी हैं। सिख-विद्वानों का अनुसरण करते हुए लेखक ने सिख-सिद्धान्त को सामान्य स्थिरता में ग्रहण किया है। कुल मिलाकर इस प्रकार की विवेचन दृष्टि अत्यन्त जड़ एवं यान्त्रिक प्रतीत होती है। पूर्ववर्ती विद्वानों ने गुरु-मति को जिस काल-निरपेक्ष लक्ष्मण-रेखा में बांधा था, पुस्तक लेखक के सत्प्रयास से उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ा।

डॉ० मिश्र की विवेचन-पद्धति भी पूर्ववर्ती विद्वानों जैसी है। उनके शोध-प्रबन्ध के अधिकांश अध्याय भाई साहिब भाई जोधसिंह की तीन दशक पूर्व लिखित गुरु-मति-निर्णय के ईषत्-परिवर्तित हिन्दी-संस्करण मात्र प्रतीत होते हैं। भाई साहिब भाई जोधसिंह के ही अनुसरण पर उन्होंने परमात्मा, सृष्टि-क्रम, हउमै (अहंकार), माया, मन आदिका आणविक विश्लेषण किया है। यह सभी अणु मिलकर किस किस समग्र-सिद्धान्त का सृजन करते हैं, इसका कोई परिचय इस शोध प्रबन्ध में नहीं मिलता। इसका प्रमुख कारण तो यह है कि विद्वान् लेखक का उद्देश्य परिचयात्मक रहा है। उन्होंने अपने आपको तथ्यों के संकलन तक ही सीमित रखा है। इस दृष्टि से इस शोध-प्रबन्ध का अपना महत्त्व है। लिपियों की भेदक दीवार के कारण जो सामग्री हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए अपरिचित पड़ी थी लेखक महोदय ने उसे लिप्यन्तरण के द्वारा उनके लिए सुप्राप्य बना दिया है। इस प्रबन्ध के उद्धरण-बहुल एवं अनुवाद-बहुल होने का कारण भी यही प्रतीत होता है। सम्पूर्ण प्रबन्ध का दो-तिहाई आकार आदि-ग्रन्थ के हिन्दी-पंजाबी उद्धरणों तथा उनके हिन्दी-गद्यानुवाद ने घेर रखा है। इस प्रकार अध्यात्म-दर्शन से सम्बन्धित अनेकानेक विषयों पर जो सामग्री आदि-ग्रन्थ में यत्र-तत्र विकीर्ण थी, लेखक ने उन्हें भिन्न-भिन्न वर्गों में व्यवस्थित रूप से एकत्रित कर दिया है। डॉ० मिश्र का प्रमुख योगदान यही है। उनके द्वारा संकलित सामग्री के आधार पर, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में, तथ्याख्यान का काम आगे चलना सरल हो गया है। इस दिशा में कुछ संकेत भी इस शोध-प्रबन्ध में दिए गए हैं।

लेखक ने कई स्थानों पर आदि-ग्रन्थीय विचारधारा के सूत्र वैदिक-साहित्य से मिलाने का यत्न किया है। यह विषय, अपने आप में, एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध की अपेक्षा रखता है। किन्तु, इस ओर संकेत करके लेखक महोदय ने अत्यन्त स्तुत्य कार्य किया है। कुछ ऐतिहासिक कारणों से, आदि-ग्रन्थ का पठन-पाठन करने वाले जन-वर्ग में संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन उपेक्षित ही रहा है। गुरु गोविन्द सिंह के सत्प्रयास से संस्कृत-ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की जो धारा प्रवाहित हुई थी वह बीसवीं शताब्दी में आकर रुक गई। परिणामतः आदि ग्रन्थ का पठन-पाठन बहुत कुछ असम्पृक्त वातावरण में होता रहा। भारतीय चिन्तन के इतिहास में आदि ग्रन्थ का क्या स्थान है—इस विषय पर गम्भीर अध्ययन अभी तक नहीं है। डॉ० मिश्र के इस प्रयास के फलस्वरूप इस दिशा में शोध-कार्य होगा और देश के भावनात्मक एकीकरण में परोक्ष सहयोग मिलेगा—ऐसी आशा की जा सकती है।

यह बात तो निर्विवाद है कि सिख गुरु धर्म-सुधारक थे दार्शनिक नहीं। वस्तुतः 'सुधारक' शब्द भी उनकी मनः स्थिति का उपयुक्त प्रतिनिधि नहीं। वे लोक-भावना से प्रेरित कवि-नेता थे। दर्शन से उनका सम्बन्ध इतना ही था जितना किसी कवि-परिवार का हो सकता है। ये कवि सांसारिक दुःख-सुख के प्रति निर्लिप्त होकर भी उदासीन न थे। अतः विशुद्ध अध्यात्म इन महामना कवियों का अभिप्रेत विषय न था। 'गुरु ग्रन्थ में वर्णित धार्मिक दशा' नामक अध्याय में डॉ० मिश्र ने इस ओर संकेत तो किया है, किन्तु बात इतनी सरल नहीं। वस्तुतः, इन गुरु-कवियों ने अध्यात्म-दर्शन को समाज-दर्शन के रूप में भी ग्रहण किया है। जहाँ अभिधा 'अध्यात्म' का निर्देश करता है, वहाँ व्यञ्जना 'सामाजिक जीवन' का। अध्यात्म में हमारे गुरु-कवि इतनी ही दिलचस्पी रखते थे जितनी अध्यात्म की सामाजिक उपलक्षणा में। गुरुवाणी के 'द्विमुखी बिम्ब' की स्वीकृति के बिना उसका गम्भीर आख्यान नहीं हो सकता। लेखक ने अपनी दृष्टि को गुरुवाणी के आध्यात्मिक-स्तर तक ही सीमित रखा है। गुरुवाणी में सन्निविष्ट समाज-दृष्टि से उन्होंने एकान्त अवहेलना की है। अध्यात्म सिख गुरुओं का प्रभाव-स्रोत है, प्रेरणा-स्रोत नहीं। पंजाब में, गुरुवाणी की व्याख्या दो दृष्टियों से होती रही है और हो रही है। सन्त सिंह सेखों, किशन सिंह आदि समाजवादी विद्वान् उसकी समाजपरक उपलक्षणा को समझने में प्रवृत्त रहे हैं, निर्मला-उदासी एवं 'सम्प्रदाई' विद्वान् उसके आध्यात्मिक वाच्यार्थ से आगे बढ़ने को तैयार नहीं। हिन्दी क्षेत्र से आने वाले किसी भी विद्वान् से आशा की जा सकती थी कि वह गुरुवाणी में समाविष्ट 'सामरस्य' को पहचाने। 'आध्यात्मिकता' और 'आधिभौतिकता' का 'समन्वय' ही गुरुवाणी की प्राण-प्रकृति है। इसका समुचित आख्यान अब भी किसी समर्थ अनुसन्धाता की प्रतीक्षा में है।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

केवल कल्पना, अनुभूति और पुस्तक-ज्ञान के आश्रय से साहित्य-तरु विकसित नहीं होता । साहित्य-तरु की जड़ लोकपरम्परा और लोकजीवन के अतल में छिपी रहती है और वहीं से आपने पोषण की विपुल सामग्री पाकर साहित्य-तरु को जीवित रखती है। कला, धर्म, दर्शन, अध्यात्म, संस्कृति आदि विविध शाखा-प्रशाखाओं में फैलने फूटने वाला साहित्य लोकतत्त्व से जीवनी शक्ति संचय कर अपने वृत्त पर काव्य और कला के, ज्ञान और विज्ञान के प्रसून खिलाता है । इन सुरभित सुमनों की पँखुड़ियों में सहस्त्राब्दियों से अविच्छिन्न चली आती हुई लोक-रुचि और लोक-परम्परा का आमोद विद्यमान है जो आज हमें वर्त्तमान युग के आभिजात्य संस्कार एवं पाँडित्य चेतना के कारण ज्ञात नहीं होता। यदि साहित्य-तरु की समस्त शिरा-प्रशिराओं का विश्लेषण किया जाय तो निश्चय ही उसमें लोक-तत्त्व की मात्रा प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होगी। लोकवार्ता, लोककथा, लोकगीत, लोकनृत्य, लोकजीवन, लोकमानस आदि से समन्वित 'लोकतत्त्व' प्रत्येक सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित जाति के साहित्य के मूल में सन्निविष्ट रहता है; उसका अध्ययन केवल नृतत्त्वशास्त्र की कसौटी पर मानवजाति के विकास की क्रमिक दशाओं का ही परिचायक नहीं होता, वरन् साहित्य, धर्म, दर्शन, कला और संस्कृति को अनुप्राणित करने वाली आधार-भूत मान्यताओं का बोध कराने वाला भी होता है । वस्तुतः साहित्य और लोकतत्त्व एक ही जीवन-रथ के दो क्रियाशील चक्र हैं, इन्हीं के द्वारा समाज का जीवन-रथ संक्रमण करता है, अतएव साहित्य के सर्वांगीण अध्ययन और अनुसंधान के लिए उसके लोकतात्त्विक आधार का अनुशीलन अत्यन्त उपयोगी है। हर्ष का विषय है कि डॉ० सत्येन्द्र ने 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन' प्रस्तुत कर एक बड़े अभाव की पूर्ति का स्तुत्य प्रयास किया है। भूमिका-लेखक डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल के शब्दों में 'सत्येन्द्र जी लोक-साहित्य की सामग्री का शास्त्रीय अध्ययन करने वाले विद्वानों में हिन्दी-क्षेत्र के चक्रवर्ती हैं।' ब्रजलोक साहित्य का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने के बाद उन्होंने व्यापक स्तर पर मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य

लेखक : डॉ० सत्येन्द्र
प्रकाशक : विनोद पुस्तक भण्डार, आगरा
मूल्य : पन्द्रह रुपए

का लोकतात्त्विक अध्ययन अनुसन्धान की वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा किया है । इस ग्रन्थ की विशेषता केवल विषयवस्तु-संकलन में ही नहीं, वरन् उसके विधिवत् वैज्ञानिक शास्त्रीय अनुशीलन में भी है । लोकतत्त्व की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की व्यवस्थित परीक्षा करने वाला यह हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक शोधग्रन्थ है । लेखक को इस प्रबन्ध पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई है।

ग्रन्थ को लेखक ने सात अध्यायों में विभाजित किया है। सात अध्यायों के अतिरिक्त पाँच परिशिष्ट भी अन्त में जोड़े गये हैं जिनमें प्रथम परिशिष्ट 'सिंधुघाटी में भक्ति-विकास' पाँच चित्र वाला है। तीसरा परिशिष्ट ग्रन्थ के मध्य में प्रयुक्त अंग्रेज़ी की पादटिप्पणियों का हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत करने के लिए जोड़ा गया है। यह एक आवश्यक और उपयोगी सूझ है।

ग्रन्थ के प्रथम अध्याय को हम लोक-साहित्य के शास्त्रीय स्वरूप बोध की कसौटी कह सकते हैं। 'लोक' शब्द का व्यवहार किन अर्थों में प्रचलित है और प्रकृत संदर्भ में 'लाक' शब्द से लेखक को क्या अभिप्रेत है यह बड़ी स्वच्छता और विशदता के साथ व्यक्त किया गया है । लेखक की परिभाषाएँ इतनी वैज्ञानिक और स्पष्ट हैं कि उन्हें स्वीकार करके ग्रन्थानुशीलन में कहीं व्याघात नहीं आता। 'लोक' शब्द को ही लीजिए—लोक का अर्थ संसार भी है, इहलोक, परलोक आदि : लोक का दूसरा अर्थ है सामान्यजन जिसका हिन्दी रूप 'लोग' है। सामान्यजन में शिक्षित-अशिक्षित का भेद नहीं है। तीसरा लोकशब्द का प्रयोग वेद और लोक के बीच व्यावर्तन प्रस्तुत करने वाला है । वहाँ लोक से लौकिक बना हुआ शब्द वेद से भिन्न सभी के लिए प्रयुक्त होगा। अर्थात् कालिदास और भवभूति की रचनाएँ भी लोक-अर्थात् लौकिक मानी जाएंगी । चौथा लोक शब्द अंगरेज़ी के 'फ़ोक' का पर्याय है जो 'फ़ोकलोर' 'फ़ोक म्यूज़िक' आदि के साथ प्रयोग में आता है। अंगरेज़ी में फ़ोक का व्यापक अर्थ राष्ट्र की समस्त जनता भले ही कभी रहा हो किन्तु आज इसका अर्थ संकुचित होकर निरक्षर, ग्रामीण देहाती का ही वाचक बन गया है। प्रस्तुत अध्ययन में इसी अर्थ को स्वीकार कर लोकतात्त्विक अध्ययन का उपक्रम है। लेखक की दृष्टि में 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं वे लोकतत्त्व कहलाते हैं । इसी लोकतत्त्व के आधार पर लोक-साहित्य के अन्तर्गत वह समस्त भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें आदिम मानस (संस्कृति) के अवशेष उपलब्ध हों। परम्परागत मौखिक क्रम से उपलब्ध भाषागत अभिव्यक्ति हो जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो, और जो लोकमानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो । कृतित्व होने पर भी लोक-मानस

(फ़ोक माइण्ड) के इतने समीप हो कि लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे ।' लोकतत्त्व और लोक-साहित्य का उपर्युक्त स्वरूप स्थिर कर लेने पर लोक-साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है । लोकाभिव्यक्ति पर आश्रित होने के कारण लोक-साहित्य का वैविध्य है। लोकवार्ता के अन्तर्गत वह समूची अभिव्यक्ति आती है जिसमें आदिम मानस (संस्कृति) के अवशेष आज भी दिखायी पड़ते हैं । बर्बर और वन्य अवस्था से विकसित होकर मनुष्य ने शताब्दियों की सुदीर्घ यात्रा के बाद सभ्यता उपार्जित की है, किन्तु इस विकास में वह अपने प्राचीन रूपों का सर्वथा परिहार नहीं कर सका है—कितने ही आदिम अवशेष उससे लगे-लिपटे आज भी चले आ रहे हैं। उनके अध्ययन से लोकप्रवृत्ति का ज्ञान होता है । इन लोक-प्रवृत्तियों का अध्ययन-स्रोत लोक-वार्ताएँ हैं और वे किसी भी शास्त्र या काव्य से कम प्रेरक नहीं हैं । लोकसाहित्य का अध्ययन करने वालों ने इसीलिए लोक-मानस का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक समझा है। लोक-मानस में उत्तराधिकरण (हेरिडिटी) का अंश रहता है और यह अंश मानव के अवचेतन मानस में रहता है । लेखक ने इस प्रकार अवचेतन के ही भेद किये हैं. एक सहज अवचेतन और दूसरा उपार्जित अवचेतन । यह सहज अवचेतन ही लोक-मानस है । लेखक ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह मौलिक उपस्थापना की है । यदि इसे संस्कार-निष्ठ माना जाता तो शायद सहज अवचेतन की कल्पना न करनी पड़ती । वासना का वर्णन करते हुए योगशास्त्र में इसी की स्थापना है । लेखक का वासना या संस्कार को उपार्जित अवचेतन मानकर इस नये भेद का आग्रह विशेष तर्क-सम्मत प्रतीत नहीं हुआ ।

लोक-मानस के तत्त्वों में लेखक ने फ्रेज़र के दो विभाग देकर उन पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार-विमर्श किया है । लोक-मानस विवेक-पूर्वी (प्रि-लौजिकल) तथा रहस्यशील (मिस्टिक) होता है। इन दो भेदों के बाद आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक स्थिति के विद्यमान रहने वाले तत्त्वों का वर्गीकरण है। वस्तुतः यह समस्त अध्ययन एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका आधार दर्शन है । लेखक का इस अध्ययन में अपना निजी योगदान है और उसमें मौलिकता है। सभ्यता के विकास की क्रमिक दशाओं का अध्ययन इन स्थितियों का आधार है। अतः लेखक ने पाश्चात्य लेखकों के विचारों से लाभ उठाया है । 'प्रिमिटिव कल्चर' के लेखक टेलर के विचारों के आधार पर यह मान्यता किसी सीमा तक उचित प्रतीत होती है कि लोक-वार्ता तत्त्वों का निर्माण अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से हुआ, किसी से उधार नहीं लिया गया और न किसी एक मूल से ही उनका शाखाओं की तरह विकास हुआ । लोक-वार्त्ता के विकास में लोक-मानस (फ़ोक माइण्ड) वर्तमान रहता है और इतना ही नहीं उदात्त साहित्य में भी लोक-मानस का तत्त्व किसी न किसी रूप में रहता है । हिन्दी की सुसंस्कृत एवं परिमार्जित छायावादी कविता के अनेक गीतों

में इसी मानस (फोक माइण्ड) का शिष्ट संस्कार के उपरान्त साहित्यिक प्रयोग लेखक ने ढूँढ़ निकाला है। शिष्ट साहित्य के अभिप्रायों (मोटिफ़) के भीतर भी जन-मानस या लोक-वार्ता का घनिष्ठ सम्बन्ध लेखक ने स्वीकार किया है। भारत में ख्यात राम और कृष्ण की विश्रुत कथाएं लोकवार्ता से उद्भूत हैं और उनका प्रसार-प्रचार इस देश की सीमाओं से बाहर भी रहा है। लेखक ने लोककथाओं के महत्त्व की स्थापना में जातीय-अभिप्राय (नेशनल मोटिफ़) की चर्चा करते हुए बड़े सबल शब्दों में कहा है—"केवल भारतीय साहित्य को ही राम और कृष्ण लोकवार्ता से नहीं मिले, अन्य भाषाओं के साहित्यों को भी मुख्य-मुख्य जातीय अभिप्राय (नेशनल मोटिफ़) ऐसे ही लोक-वार्ताओं से मिला करते हैं; और वहाँ से साहित्यकार उन्हें ग्रहण कर लोकविश्वास की मुख्य तीलियों को बिना विचलित किये, उन अभिप्रायों में नूतन कथा-व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसी कारण किसी भी साहित्य में महान् जातीय पुरुष प्राचीन परम्परा अथवा पुराणों से ही अवतीर्ण होते हैं और समय के अनुसार नई साहित्यिक व्याख्या ग्रहण करते जाते हैं। ××× प्रायः समस्त वर्गोच्च (क्लासीकल) उदात्त सहित्य और विशेषतः उसके महाकाव्य और नाटक ऐसे ही पौराणिक अरकानों पर निर्भर करते हैं, जो लोक-कथा का ही मूल्य रखते हैं। शेक्सपीयर और होमर की रचनाओं में जो पौराणिक आख्यान भरे पड़े हैं। वे लोक-कहानी के स्वभाव के ही तो हैं, इस प्रकार लोक-वार्ता से ही दार्शनिक सिद्धान्तों को भी साहित्य प्राप्त करता है और साहित्यकार उसे और महानता का आवरण प्रदान कर देता है।" (द्रष्टव्य पृष्ठ ५२-५३)।

हिन्दी साहित्य के विकासक्रम में लोकवार्ता की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिन्दी के प्रारम्भिक कवि संस्कृत भाषा के विरोध में ऐसी भाषा में रचना करने में प्रवृत्त हुए थे जो उस समय लोकभाषा थी; जो संस्कार का तिरस्कार करके सहज रूप में सामान्यजन द्वारा प्रयुक्त होती थी। अतः हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में लोकतत्त्व का समावेश स्वाभाविक ही है। लेखक ने अपनी स्थापना के लिए तत्कालीन काव्य-ग्रन्थों की मुख्य प्रवृत्तियों और काव्य-शैलियों का विस्तार से विवरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनके मूल में लोक तत्त्व का अत्यधिक समावेश होने से वे उस काल के जन-मानस का ही उद्घाटन करते हैं। मेरी अपनी सम्मति में इस अध्याय में लोक साहित्य के तत्त्वों का ही समाकरण होना चाहिए था। हिन्दी साहित्य के आदिकाल के सम्बन्ध में जो विचार रखे गये हैं या तो वे दूसरे अध्याय की पृष्ठभूमि में रखे जाते या उनका पृथक् एक अध्याय रहता। मूलतः प्रथम अध्याय लोकसाहित्य का सैद्धान्तिक कसौटी प्रस्तुत करने वाला है।

लोकवार्ता के मूल में जिन उपकरणों की सार्वभौम स्वीकृति है उनका विवरण यदि लेखक कुछ अधिक विस्तार से प्रस्तुत करता तो सामान्य पाठक की

जानकारी की दृष्टि से अच्छी सामग्री एकत्र हो जाती, जैसे भूत-प्रेत, टोना-टोटका, मन्त्र-तन्त्र, उपासना-पद्धतियाँ, देवी-देवता, वनस्पति, कृमिकीट-पूजा, ग्रह-नक्षत्र-पूजा, चैत्य, देवालय, कथा, व्रत, जप, चमत्कार पर्व, त्यौहार, शक्ति-पूजा, स्वप्न, भ्रम, आदि अनेकानेक विषयों का सिद्धान्त-पक्ष विस्तार के साथ उद्घाटित होना चाहिए था। कथारूढ़ियों आदि का प्रयोग अपने मूल रूप में क्यों और कैसे साहित्य में गृहीत हुआ, यह भी पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं हो सका। लेखक ने इन प्रश्नों को अगले अध्यायों में व्यावहारिक संदर्भों में उदाहृत किया है किन्तु उन्हें पहले यदि तालिका-बद्ध रूप में विवृत कर दिया जाता तो अच्छा रहता।

दूसरा अध्याय निर्गुण सम्प्रदाय में लोकतात्त्विक अंश के उद्घाटन से प्रारम्भ होता है। निर्गुनिया संतों और सिद्धों की भावना का विश्लेषण करने के लिए पहले उनके स्वीकृत उपासना या साधना-तत्त्वों पर विचार किया गया है। इसमें संक्षेप किया जा सकता था। केवल व्यवहार-पक्ष में उल्लेख करने से भी काम चल सकता था। तीसरा अध्याय प्रेमगाथा-साहित्य से सम्बद्ध है। गाथा का विकास वैदिक कहानी में है और पुराणों में कथा के अनेक बीज हैं। लेखक ने यथास्थान इस प्रकार की कथा-गाथाओं का स्वरूप-उदघाटन बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। लेखक की कुशलता इसमें है कि उनमें निहित लोकतत्त्व की कल्पना या बुद्धि प्रकर्ष से खोजने का प्रयास नहीं किया वरन् लोक परम्परा के द्वारा, प्रमाणों के द्वारा और साहित्य के द्वारा उसे स्थापित कर दिया है। सवा दो सौ पृष्ठों के इस अध्याय में लेखक का लोकतात्त्विक अध्ययन की सबसे अधिक सामग्री उपलब्ध हुई है। प्रेमकथाओं में अनु-श्रुति और लोकमानस की व्यञ्जना अपेक्षया अधिक रहती है, अतः अन्वेषक को अपनी प्रतिभा और परिश्रम के लिए अवकाश भी अधिक मिलता है। यह अध्याय लोकतत्त्व का सबसे अधिक पोषक प्रमाण है। लेखक ने इसमें परिश्रम भी अच्छा किया है। चतुर्थ अध्याय सगुणभक्ति काव्य (कृष्णभक्ति) से सम्बन्ध रखता है। इस अध्याय की बहुत सी सामग्री डॉ० सत्येन्द्र के पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों द्वारा प्रकाश में आ चुकी है। कृष्णचरित के कुछ प्रसंगों के आधार पर लेखक ने लोकतत्त्व के उपयुक्त सामग्री का चयन किया है। इन कथा-प्रसंगों की आधारभूमि पुराण-आख्यान है जिनके लिए यह कहा जाता है कि वेदार्थ-उपबृंहण के लिए इनका उपयोग किया जाना चाहिये। लेखक ने मध्ययुगीन हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य के स्पष्टीकरण के लिए उसका प्रयोग किया है जो सर्वथा ग्राह्य एवं उपादेय है। पाँचवा अध्याय भी सगुणभक्ति की रामशाखा के काव्य का लोकतात्त्विक अध्ययन करने के लिए लिखा गया है। अधिकांश में रामकथा से ही उसको समर्थन मिला है। इसमें वैष्णव भक्तों का जीवन-साहित्य शीर्षक से प्रह्लाद कथा से कुछ अंश उद्धृत किये गये हैं। आश्चर्य है कि संदर्भ में लेखक को नाभादास में भक्तमाल तथा उस काल के अन्य भक्तमालों का ध्यान नहीं आया। भक्तमाल में लोकतत्त्व की विपुल सामग्री विद्यमान है, उसे सामने

अवश्य लाना चाहिए था। छठा अध्याय बहुत ही उपयोगी और अनुसन्धानपूर्ण है। काव्यरूपों में लोकतत्त्वों की प्रतिष्ठा का अनुशीलन करके लेखक ने प्राकृत, वैदिक, पाली, संस्कृत, अपभ्रंश तथा जनपदीय हिन्दी के आधार पर मध्ययुगीन तुलसी, केशव आदि के काव्य-रूपों तथा परवर्ती विविध काव्यों का बहुत ही वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया है। 'लोक विश्वास' से सम्बन्ध रखने वाला सातवाँ अध्याय भी इसी प्रकार का गम्भीर अनुशीलन है। मेरे अपने विचार में इस अध्याय को प्रथम अध्याय के साथ या ठीक उसके बाद रखने से पाठक को सैद्धान्तिक दृष्टि से वस्तुबोध में सुविधा होती।

संक्षेप में, लोकतात्त्विक धरातल पर हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य का यह प्रथम वैज्ञानिक अध्ययन है। इसके आधार पर परवर्ती रीतिकाल तथा भक्तिकाल के अवशिष्ट कवियों का भी अनुशीलन हो सकता है। कसौटी प्रस्तुत करने का कार्य डॉ० सत्येन्द्र ने अपनी विद्वत्ता गहन अध्ययनशीलता, विवेकपूर्ण प्रज्ञा और प्रतिभा से पूरा कर दिया है। इस ग्रन्थ से मेरी एक भ्रान्त धारणा का निराकरण हुआ, उसका भी मैं यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ। मैं लोक-साहित्य और उससे सम्बद्ध विषयों की उपादेयता केवल अनुसंधान तक ही मानता था। मुझे लगता था कि जो सांस्कृतिक धरातल उदात्त साहित्य (क्लासिकल लिटरेचर) का होता है और जैसी जैसी भाव-विचार की गरिमा तथा अभिव्यंजना को प्रौढ़ता उसमें होती है, वैसी लोक-साहित्य में हो ही नहीं सकती, अतः असंस्कृत मनोदशाओं के अवशेषों में प्रवहमान लोकवार्ता, लोकसाहित्य, लोककथा आदि का अध्ययन साहित्य-निर्माण में विशेष उपकारक नहीं हो सकता। फलतः इस प्रकार के अध्ययन अनुसंधान के लिए भले ही ग्राह्य समझे जाएँ, किन्तु वे साहित्य के उच्चासन पर आसीन करने योग्य नहीं होते। किन्तु इस ग्रन्थ को पढ़कर मैंने अपनी धारणा को सर्वथा भ्रान्त समझा और मुझे लगा कि लोक-तत्त्व की नींव इतनी गहरी है कि न तो उसके उच्छेद का प्रश्न है और न उसे किसी रूप में असंस्कृत या अविचारपूर्ण ही कहा जा सकता है। संसार के सभी सत्साहित्यों की आधारशिला इन लोक तत्त्वों पर आधृत है। अतः उनके अध्ययन से साहित्य को समर्थ और सशक्त बनाने में ही कल्याण है।

❀ ❀ ❀

हरियाना प्रदेश का लोकसाहित्य

श्री० विश्वनाथ त्रिपाठी

लोकसाहित्य उन विषयों में से है जिन्होंने आधुनिक विचारकों का ध्यान अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया है। यों तो लोकसाहित्य अज्ञात काल से लोकमानस को आह्लादित और प्रभावित करता रहा होगा किन्तु चिन्तकों और साहित्यप्रेमियों ने इसका विधिवत् और वैज्ञानिक अध्ययन १९वीं शताब्दी में प्रारंभ किया। सन् १८९० ई० में श्री फ्रेज़र ने अपने प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'द गोल्डेन बाउ' का प्रकाशन करके एक प्रकार से लोकवार्ता का विश्वकोष उपस्थित कर दिया। इस ग्रन्थ ने लोकवार्ता को एक अपूर्व गौरव से मण्डित करके उसे वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बना दिया।

इधर भारत के भी उपेक्षित लोकसाहित्य का अध्ययन १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में योरोपीय विद्वानों ने प्रारम्भ किया। इन विद्वानों में टॉड, टेम्पल, हिस्लप कुक, बोम्पस, बौंडिग तथा ग्रियसेन आदि ने भारत के विविध प्रदेशों के लोक-साहित्य का संग्रह किया या उनकी व्याख्या की। इस तरह भारतीय लोकसाहित्य के अध्ययन का श्रीगणेश हुआ।

हिन्दीप्रदेशान्तर्गत किसी जनपद के लोकसाहित्य के संग्रह का कार्य प्रारम्भ करने वाले प्रथम भारतीय श्री मन्नन द्विवेदी थे। उन्होंने सन् १९१३ ई० में गोरखपुर ज़िले के गीतों का संग्रह 'सरवरिया' शीर्षक से प्रकाशित कराया। कुछ दिनों बाद पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लोकगीतों के संग्रह का कार्य बड़ी कर्मठता और लगन के साथ प्रारम्भ किया। उन्होंने एतद्विषयक तीन पुस्तकें—'कविता कौमुदी' (५वाँ भाग) हमारा ग्रामसाहित्य' तथा 'मारवाड़ी गीतसंग्रह' प्रकाशित कराईं। आधुनिक काल में हिन्दी के अन्य अनेक विद्वानों का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है और उन्होंने विविध रूपों में हिन्दी प्रदेश के लोकसाहित्य को प्रकाशित और प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। इस क्षेत्र में सर्वश्री देवेन्द्र सत्यार्थी, बनारसीदास चतुर्वेदी, वासुदेव

लेखक : डॉ० शंकरलाल यादव
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
मूल्य : १२ रुपए

शरण अग्रवाल, डॉ० सत्येन्द्र, कृष्णानन्द गुप्त, और कृष्णदेव उपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं। डा० शंकरलाल यादव द्वारा लिखित 'हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य' भी इसी दिशा में एक प्रयत्न है। जैसा कि पुस्तक के नाम से प्रकट है लेखक ने इसमें हरियाना प्रदेश के लोक साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ लखनऊ विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० उपाधि के लिए शोध प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया गया था और अब (१९६० ई०) हिन्दुस्तानी एकादमी से प्रकाशित होकर हिन्दी पाठकों के सम्मुख आया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोक-साहित्य के संग्रह और अध्ययन के लिए जिस धैर्य, लगन, सहृदयता और भावुकता की आवश्यकता है, वह डा० यादव में विद्यमान है। 'वक्तव्य' में उन्होंने भली-भाँति बताया है कि इस कार्य में उन्हें किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। स्वयं डॉ० यादव के शब्दों में "अपने उद्देश्य में रत मैंने मान-अपमान भूख प्यास आदि की चिन्ता न की और अपनी यात्राओं पर बराबर बढ़ता रहा। जनता ने भी मेरी क्षमता तथा साहस को पहचाना। अब कुछ लोग मेरी बात सुनने लगे। कुछ अपनी सतत उपस्थिति मृदुल स्वभाव एवं सिधाई से मैंने जनता को अन्ततः अपनी ओर आकर्षित कर ही लिया।" निस्संदेह डॉ० यादव ने हरियाना प्रदेश के प्रचुर लोक-साहित्य का संग्रह करके अपने अध्यवसाय का परिचय दिया है।

समूची पुस्तक सात अध्यायों में विभाजित है। विषय प्रवेश में लेखक ने लोक-वार्ता और लोक साहित्य के अध्ययन का इतिहास, अर्थ और उनके विविध स्वरूपों की विवेचना की है। प्रथम अध्याय में हरियाना प्रदेश की भौगोलिक स्थिति और उसके इतिहास तथा प्रदेश के लोक-साहित्य पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में हरियानी बोली का भाषावैज्ञानिक और व्याकरणिक अध्ययन किया गया गया है। फिर शेष अध्यायों में क्रमशः लोक-गीत, लोक-कथा, लोक-नाट्य, प्रकीर्ण साहित्य और हरियाना की प्रादेशिक संस्कृति पर सविस्तार विचार किया गया है। अंत में परिशिष्ट के अन्तर्गत दो हरियानी लोक कहानियाँ तथा कुछ लोक-गीतों की स्वरलिपियाँ प्रस्तुत कर दी गई हैं और शब्दकोष भी दे दिया गया है जिससे पुस्तक में उद्धृत गीतों के ठेठ शब्दों का अर्थ समझने में पाठक को सहायता मिले। लोक-साहित्य सम्बन्धी जो पुस्तकें अब तक देखने में आई थीं उनमें लोक-साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग लोक-नाट्य की प्रायः उपेक्षा कर दी गई थी। किन्तु डा० यादव ने इस लोक साहित्यांग को भी अपने अध्ययन मे सम्मिलित करके अपने विषय को पूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है।

ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर नूतन निष्कर्ष निकाले गए हैं। उदाहरणार्थ, 'विषय-प्रवेश' में लेखक ने 'फोकलोर' के लिये प्रयुक्त हिन्दी प्रतिशब्दों की विवेचना करते हुए

अपने व्यापक अध्ययन और सुचिन्तित दृष्टिकोण का परिचय दिया है 'फोक्लोर' के लिए हिन्दी में विविध विद्वानों द्वारा जितने शब्द सुझाए गए हैं, प्राय: उन सबकी योग्यता अयोग्यता परख कर उसने उनमें से 'लोक-वार्ता' शब्द को स्वीकार किया है। 'लोक' शब्द 'ग्राम्य' और 'जन' से अधिक व्यापक है, इसी प्रकार 'वार्ता' भी 'साहित्य', 'संस्कृति', 'अभिव्यक्ति', 'अयन' आदि शब्दों की अपेक्षा 'लोर' (Lore) का आशय अधिक व्यक्त करता है। फिर प्रयोग बहुलता ने 'लोक वार्ता' शब्द को सुगम और सुनिश्चित भी कर दिया है। आशा की जानी चाहिए कि 'फोक्लोर' के लिए डा० यादव द्वारा स्वीकृत शब्द लोक-वार्ता' अब अन्तिम रूप से हिन्दी में स्वीकार्य हो जाएगा।

लेखक द्वारा उद्धृत कई लोक-गीत अत्यन्त मार्मिक और प्रभावपूर्ण हैं। उसने उन्हें बड़ी सहृदयता और समुचित सन्दर्भ के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। लोक-गीत, लोक-नाट्य, प्रकीर्ण साहित्य, सबको प्रस्तुत करने की लेखक की अपनी शैली है जो बड़ी सहज और स्वाभाविक है। लोकगीतों के प्रकरण में तो कोई लोक-गीत जिस विशिष्ट त्यौहार, समारोह या संस्कार के अवसर पर गाया जाता है उसका खासा परिचय भी दे दिया गया है, जिससे पाठक को गीतों का रस ग्रहण करने में बड़ी सुविधा होगी।

पुस्तक के अन्तिम 'हरियानी लोक-साहित्य में प्रादेशिक संस्कृति' नामक अध्याय में डा० यादव ने हरियाना प्रदेश की जन-संस्कृति को उसकी भौगोलिक, आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में चित्रित किया है। इस अध्याय की प्रत्येक पंक्ति से लेखक का प्रदेश से गहरा अपनाव प्रकट होता है। एक स्थान पर हरियाना में पड़ने वाले दुर्ललित अकालों का वर्णन करते हुए लेखक एक छोटा-सा अकाल गीत उद्धृत करता है जिसका भाव है कि अकाल के कारण बनिया जी गया (उसे लाभ हुआ) बेचारा जाट मर गया, किसान की गाड़ी टूट गई और पुत्री बिना गौने के ही ससुराल चली गई :—

जीगे बणिया मरगे जाट
टूटगी गड्डी मरगे बैल
बे मुकलाया होगी गैल

कितना करुण और यथार्थ चित्रण है!

हाँ, प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ ऐसे निष्कर्ष भी हैं जो पहले से चली आती हुई तर्क-भूमि से मेल नहीं खाते और असंगत लगते हैं। उदाहरण के लिए हरियाना प्रदेश के नामकरण पर विचार करते हुए पृष्ठ ५४ पर लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "यह प्रदेश सदा से धनधान्य सम्पन्न रहा है और तोमर एवं चौहान राजाओं ने

८वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक इसे भोगा है। अतः इस प्रदेश के लिए यह नाम (हरियाना) ई० आठवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा।"

चूंकि तोमर एवं चौहान राजाओं ने इस प्रदेश को ८वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक भोगा है इसलिए इस प्रदेश का 'हरियाना' नामकरण ८वीं शताब्दी में ही हुआ होगा—विचित्र तर्क है।

इसी प्रकार ३७वें पृष्ठ पर लोक गाथाओं की व्याख्या करते हुए डॉ० यादव का कथन है "लोक मानस की वे घटनायें जो कोरी कल्पनाजन्य हैं, वह आगे चलकर ऐतिहासिक रूप प्राप्त कर जाती हैं।" कोरी कल्पनाजन्य घटनायें (?) ऐतिहासिक रूप प्राप्त कर लेती हैं यह फतवा बड़े से बड़ा इतिहासवेत्ता भी नहीं दे सकता। वैसे इस वाक्य में 'वे घटनायें' के बाद 'वह' और 'कर जाती हैं' के प्रयोग भी विलक्षण हैं।

लेखक की कुछ धारणायें इतनी साहसपूर्ण हैं कि उनसे सहमत हो पाना बड़ा कठिन है। लोक-साहित्य का प्रशंसक होना एक बात है किन्तु निस्संकोच भाव से यह घोषित करना कि "यदि कविता का कार्य पाठक को संवेदनशील बनाना, सोचने-समझने की शक्ति देना और जीवन की रसमय व्याख्या करना है तो निश्चय ही शास्त्रीय कवितायें अधिकांश में असफल रही हैं" (पृ० ४२) अब तक के विश्व साहित्य की उपयोगिता और सरसता पर प्रश्न चिह्न लगाना है। विश्व साहित्य का उत्कृष्ट काव्य पाठक को सोचने-समझने की शक्ति नहीं देता, उसे संवेदनशील नहीं बनाता और लोक-गीत श्रोता और पाठक को सोचने-समझने की शक्ति देता है, इस स्थापना से सहमत हो पाना सब के बस की बात नहीं।

आगे लोक-साहित्य के अध्ययन की उपयोगिता बताते हुए पृ० ४३ पर डा० यादव कहते हैं, "आदिम मानव की आदिम प्रवृत्तियों को जानने का सबसे सरल प्रामाणिक एवं रोचक साधन लोक-साहित्य ही तो है।" यादव जी ने यह बताने का कष्ट नहीं किया कि संसार की किस भाषा का कौन-सा लोक-गीत आदिम मानव की किस प्रवृत्ति पर प्रमाणपूर्वक प्रकाश डालता है? आदिम जीवन में तो युगों तक भाषा का ही निर्माण नहीं हो पाया था। फिर उनका लोक-साहित्य कहाँ प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त लोक-साहित्य निरन्तर परिवर्तित और प्रक्षिप्त होता चलता है, वह जाति की भाषा और कल्पना के साथ अपना कलेवर नित्य बदलता रहता है। ऐसी दशा में लोक-साहित्य को ज्ञानार्जन का प्रामाणिक साधन कैसे कहा जा सकता है?

लोक-साहित्य को लिपिबद्ध करना उतना आसान नहीं है, जितना कि कभी-कभी समझ लिया जाता है। किसी विशेष जनपद की बोली का यथातथ्य लेखन अत्यन्त दुष्कर है। डॉ० यादव की इस पुस्तक में भी उद्धृत कई पंक्तियाँ हरियानी बोली

का ठीक-ठीक रूप नहीं प्रस्तुत कर पातीं। उदाहरण के लिए परिनिष्ठित हिन्दी का 'के' हरियानी में बहुत कुछ 'कँ' की तरह बोला जाता है किन्तु उसे पुस्तक में प्रायः 'के' ही लिखा गया है। इसी तरह 'ऊठा' भी भ्रामक है क्योंकि वह भी 'ऊठ्या' की तरह बोला जाता है। इस त्रुटि के लिये डा० यादव को पूर्णतः ज़िम्मेदार नहीं ठहराना चाहिए क्योंकि यथातथ्य लेखन की शक्ति अभी सर्वस्वीकृत देवनागरी लिपि में नहीं है।

सब से अधिक खटकती है इस पुस्तक की भाषा जो प्रायः सर्वत्र अव्यवस्थित अस्पष्ट और विशृंखल है। पाठक को जगह-जगह ऊल-जलूल शब्दों के निरर्थकप्रायः शब्दों के जाल में उलझकर रह जाना पड़ता है। डॉ० यादव की इस भाषा शैली को कौन-सी संज्ञा दी जाए जिसमें ऐसे-ऐसे बीहड़ प्रयोग मिलते हैं—

(१) लोक कथा निस्संदेहात्मकतया लोक गाथा से भिन्न वस्तु है। (पृ० ३८)

(२) अतः मैंने इस कार्य की यथार्थता के लिए कोई कसर उठा कर नहीं रखी है। (पृ० ४)

(३) भाषायें सभी एक-दूसरे से लेती-देती रहती हैं। (पृ० ६५)

(४) उन्होंने एक विशिष्ट लग्न एवं अध्यवसाय के साथ पंजाब भर के किस्सों का संग्रह किया। (पृ० २२)

(५) परन्तु उस कहानी में धर्म की एक विशेष पुट लग जाती है। (पृ० ३६)

ये उदाहरण यों ही अनायास मिल गए हैं। इन्हें ढूँढ़ने की दृष्टि से पुस्तक का अध्ययन नहीं किया गया है। वस्तुतः इस तरह के प्रयोग पुस्तक में इतने अधिक हैं कि उनका उदाहरण देने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

पृष्ठ २६ पर लेखक ने अंग्रेजी शब्द 'सेक्युलर' का हिन्दी प्रतिशब्द 'समुदाय विहीन' दिया है और पृष्ठ ४४६ पर 'इन्डोर गेम्ज़' का हिन्दी अनुवाद 'अन्तरंगी खेल' कया है, जो भ्रामक है। जगह-बे-जगह साधारण और बहु-प्रचलित शब्दों को समझाने के लिए ब्रैकेट में अंग्रेज़ी उल्था देने की प्रवृत्ति उचित नहीं प्रतीत होती, जैसे पृष्ठ २२ पर 'अनावश्यक' को समझने के लिए ब्रैकेट में (superfluous) दे दिया गया है जो बिल्कुल सुपरफ्लुअस है।

ग्रन्थ के सामान्य अवलोकन के उपरान्त यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह बड़े श्रम और धैर्य के साथ लिखा गया है। डॉ० यादव ने हरियाना प्रदेश के लोक-साहित्य की विवेचना बड़ी सूझ-बूझ और सहृदयता के साथ की है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन से विस्तृत हिन्दी संसार को एक उपेक्षित जनपद की स्फूर्तिदायिनी और ओजस्विनी संस्कृति को बहुत दूर तक समझने का अवसर मिलेगा।

अष्टछाप-काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन

डॉ० मनमोहन गौतम

हिन्दी के अष्टछापी कवियों का एकमात्र लक्ष्य अपने आराध्य के प्रति स्वान्त-सुखाय आत्मनिवेदन प्रस्तुत करना रहा है । गीतिकाव्य के रचयिता इन कवियों को सामयिक एवं सांस्कृतिक जीवन के प्रति विशेष जागरूक रहना कठिन था, इसीलिए आलोचकों की सामान्य धारणा रही है कि अष्टछाप का काव्यक्षेत्र अत्यन्त संकुचित तथा जन-जीवन से दूर है । सूर-साहित्य के कुछ मर्मज्ञ विद्वानों का विचार इससे भिन्न रहा है । इस तथ्य का वैज्ञानिक परीक्षण शेष था जिसे डॉ० मायारानी टण्डन ने अपने शोध-कार्य द्वारा पूरा किया है । ब्रज प्रान्त मात्र की सीमा में जीवन-पर्यन्त रहकर कृष्ण-लीलाओं के माध्यम से ब्रज-संस्कृति का जो चित्रण इन कवियों ने किया था उसका निरपेक्ष तथा पूर्ण आकलन महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय है । लेखिका ने विज्ञान की निगमन-प्रणाली से आठों कवियों की रचनाओं से सामग्री एकत्र की है और फिर उनसे निष्कर्ष निकाले हैं । सामग्री-चयन में उसे निःशेष करने का सचेष्ट प्रयत्न है । इससे अध्ययन अपने आप ही शुद्ध वस्तुपरक हो गया है ।

ग्रन्थ बड़े आकार के लगभग छः सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । इसमें ग्यारह अध्याय हैं, जिसमें प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश और अन्तिम उपसंहार है । ग्रन्थ के शेष नव अध्याय सांस्कृतिक विवेचन प्रस्तुत करते हैं । द्वितीय अध्याय में ब्रज की प्राकृतिक दिनचर्या का वर्णन है, इसके अन्तर्गत ब्रजमण्डल, ब्रज के बन, उपवन, पर्वत, नदी, वृक्ष, फल-फूल, मेवे, तरकारियाँ, पशु-पक्षी और कीट-पतंगों का वर्णन है । अष्टछाप-काव्य में इन सब के सन्दर्भों को एकत्रित करना अपने आप में श्रमसाध्य कार्य है, क्योंकि अष्ट कवियों का वर्ण्य-विषय प्रकृति वर्णन नहीं था । उन्होंने तो भगवान् कृष्ण के नित्य लीलाधाम वृन्दावन तथा उसके आनुषंगिक अंग पर्वत, नदी, वृक्ष, पुष्प, पशु-पक्षी आदि का उल्लेख वातावरण-निरूपण और उपमान आदि के रूप में किया है । यह अध्याय यद्यपि शोध के विषय से निकट सम्बन्ध रखता है तथापि इसमें विषय की पृष्ठभूमि ही प्रमुख रूप से है ।

लेखिका : डॉ० मायारानी टंडन ।
प्रकाशन : हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ ।
मूल्य : २५ रुपये ।

शेष आठ अध्याय प्रबन्ध के मुख्य अंश हैं। इनमें क्रमश: सामान्य जीवन-चित्रण, पारिवारिक जीवन चित्रण, सामाजिक जीवन-चित्रण, वाणिज्य-व्यवसाय तथा जीविका के साधन-रूप, राजनीतिक जीवन-चित्रण, भक्ति और धर्म सम्बन्धी विचार, दार्शनिक विचार तथा साहित्य-कला और विज्ञान सम्बन्धी विचार हैं। सामान्य जीवन-चित्रण के अन्तर्गत आवास एवं विचरण स्थान, खान-पान, भोजन के समय तथा पदार्थ, वस्त्र, शृंगार-प्रसाधन, व्यवहार और दैनिक उपयोग की वस्तुएँ, धातु एवं खनिज पदार्थ और वाहन का विवरण दिया गया है। विवरण में लेखिका ने अपनी ओर से कोई कथन नहीं किया है। अष्टछाप काव्य में प्राप्त वे शब्द एकत्र किए हैं जिनसे सामान्य जीवन का सम्बन्ध है, उदाहरण के लिए आपस का विवरण देते हुए 'मड़ैया', 'गृहमाटी को' तथा 'आवास', 'आलय', 'गृह', 'घर', 'धाम', 'भवन', 'महल', 'मन्दिर' आदि दिये गये हैं। इसी प्रकार 'अटा', 'अटारी', 'कगूरे', 'झरोखे', 'घरहरा', 'बंगला' आदि से भवन-निर्माण प्रणाली पर संकेत है। यहाँ यह भी आवश्यक था कि आवास, गृह, घर, धाम, महल आदि का पारस्परिक भेद समझा दिया जाय। पर्याय-ध्वनि के विशेषज्ञ सूरदास आदि कवियों ने शब्द के पर्यायों को विशेष अर्थ में प्रयोग किया है। अतः प्रसंग भेद से उनका परिचय दिया जा सकता था, जैसा कि खान-पान प्रकरण में कलेऊ, छाक और बियारी के परिचय में दिया गया है। यहाँ भी अष्टछाप काव्य में प्राप्त विभिन्न प्रकार के भोजनों की विस्तृत सूची तो दी गई है किन्तु कलेऊ, दोपहर के भोजन और बियारी का स्थूल भेद समीक्षा में प्रस्तुत नहीं किया गया। कलेऊ में मिष्टान्न, दूध दही, माखन, मलाई की प्रमुखता है तो दोपहर के भोजन में रसोई में तैयार षट्रस व्यंजन की और बियारी में पौष्टिक पदार्थ युक्त स्वादिष्ट भोजन की। वस्त्रों और आभूषणों का विवेचन और वर्गीकरण युक्तियुक्त है। लेखिका ने बालकों के वस्त्र, पुरुषों के वस्त्र, स्त्रियों के वस्त्र तथा विभिन्न अंगों के आभूषणों के अलग-अलग वर्ग बनाकर अष्टछाप-काव्य में प्राप्त विपुल-सामग्री निःशेष रूप में उपस्थित भी कर दी है और साथ ही पुनरुक्ति तथा अतिविवरण की नीरसता से उसे बचा भी लिया है। निश्चय ही यह प्रकरण तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन के बाह्य पक्ष का सजीव चित्रण देने में समर्थ है।

चतुर्थ अध्याय के पारिवारिक जीवन-चित्रण में परिवार के विभिन्न सम्बन्धों—दादा-दादी, नाना-नानी, माता-पिता, भाई-भावज, देवर-देवरानी, पुत्री-माता और दास-दासी आदि की चर्चा काव्य में प्राप्त विभिन्न शब्दों के सन्दर्भों से प्रस्तुत की गई है। पारिवारिक जीवन-चर्चा में पुरुषों और स्त्रियों की अलग-अलग दिनचर्या, अष्टछाप काव्य में बिखरी हुई सामग्री से चयन की गई है। इस प्रकरण में शिशु-जीवन का चित्रण आवश्यकता से कम हुआ है। पारिवारिक शिष्टाचार में अभिवादन और आशीर्वाद के विविध रूप और पत्र-सम्बन्धी शिष्टाचार सुन्दर ढंग से प्रस्तुत

किये गये हैं। पारिवारिक जीवन का विस्तृत विवेचन कृष्ण के वनोत्सव, छठी, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, विवाह तथा अन्य पारिवारिक उत्सवों से लिया गया है। बिखरे हुए सूत्रों से संस्कारों का जो क्रमबद्ध वर्णन दिया गया है, शोध की परिसीमा में सुन्दर है।

पंचम अध्याय सामाजिक जीवन-चित्रण का है, इसमें सामाजिक व्यवस्था, मनोविनोद, पर्वोत्सव, त्यौहार, लोकाचार, लोकव्यवहार और विश्वास-मान्यताएँ शीर्षकों से तत्कालीन सामाजिक जीवन का चित्रण किया गया है। जिन कवियों में सामाजिक जीवन के प्रति उदासीनता की मनोवृत्ति सूर की इस पंक्ति से स्पष्ट होती है कि "सूरदास भगवन्त भजन लगि तजी जाति अपनी", उन्हीं कवियों की रचनाओं के आधार पर सामाजिक जीवन के सर्वांग पर प्रकाश डाला गया है। शोधिका ने अष्टछाप-काव्य में प्राप्त 'पंडित', 'पांडे', 'विप्र', 'बाँमन', 'ठाकुर' और 'सूद्र शब्दों के सन्दर्भ-विशेष से उनकी सामाजिक परिस्थिति का परिचय कराया है। इस अध्याय में लेखिका ने वैश्यों की चर्चा इसलिए नहीं की कि उनके मत में "अष्टछाप काव्य में उक्त चारों वर्णों में से ब्राह्मण, क्षत्री और शूद्र की चर्चा ही मुख्यतः मिलती है, वाणिज्य व्यवसाय में लगे हुए वैश्य कहलाने वाले वर्ण की नहीं।' किन्तु वैश्यों का विस्तृत विवेचन वाणिज्य-व्यवसाय और जीविका के साधन में विस्तार से किया गया है। अतः वैश्य वर्ण का उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता था। मनोविनोद के अन्तर्गत अष्टछाप काव्य में प्राप्त बालकों, बालिकाओं और युवकों के विविध प्रकार के खेल प्रस्तुत किए गए हैं। हरि-लीला के रूप में वर्णित काव्य में इनका बहुत विस्तार अष्टछाप काव्य में प्राप्त है। लेखिका ने प्रयत्नपूर्वक समस्त सामग्री का उपयोग करते हुए यथासम्भव संक्षिप्त वर्णन किया है। सामाजिक पक्ष पर अधिक दृष्टि डालने के कारण अनुराग लीला के अनेक मनोविनोदों का विवेचन नहीं हुआ है। रास लीला, दान लीला, पनघट लीला, राधा और गोपी-कृष्ण-विहार, मान लीला और बसन्त लीला के अनेक प्रकरणों में सामूहिक मनोविनोद का मनोहारी रूप है। साथ ही ग्रामीण वातावरण के प्रमुख मनोविनोद के साधन सामूहिक लोकगीत, लोक-नृत्य और लोक-नाट्य जो अष्टछाप काव्य में विविध रूपों में मिलते हैं, लेखिका की दृष्टि से छूट गये हैं।

इसी अध्याय में ब्रज प्रान्त के पर्वोत्सव—फूलमंडली, हिंडौरा, रास, देव-प्रबोधिनी डोल, रामनवमी, नृसिंह जयन्ती, वामन जयन्ती, रथयात्रा, जन्माष्टमी, राधाष्टमी, गोपाष्टमी, पवित्रा, अक्षय तृतीया, संवत्सर, गनगौर, सावन तीज, सांझी तथा त्यौहार—रक्षाबन्धन, दशहरा, दीपमालिका और होली के विस्तृत विवेचन हैं। लोकाचार और लोकव्यवहार में सम्मान-प्रदशन के अन्तर्गत प्रणाम, पालागन, जुहार आदि की पुनरुक्ति है. पारिवारिक शिष्टाचार-प्रकरण में पहले ही इनके सम्बन्ध में कहा जा चुका था। इस अध्याय का अन्तिम शीर्षक है विश्वास-मान्यताएँ। पौराणिक

विश्वास के अन्तर्गत चौबीस अवतार, अन्य देवी देवता, कर्मवाद आदि के विवेचन धर्म-सम्बन्धी विचारों में होते तो अधिक उचित होता। यहां तो लोक-मान्यताओं और सामान्य विश्वासों को ही स्थान मिलना चाहिये। टोना-टोटका, जंत्र-मंत्र, शकुन-अपशकुन आदि इसके अंग हैं जिनका विवेचन पूर्णरूपेण हुआ है।

छठा अध्याय वाणिज्य-व्यवसाय, जीविका के साधन रूपों का है। दानलीला और भ्रमरगीत में आए हुए उद्धरणों के आधार पर लेखिका ने उस काल में व्यापारिक स्थान, रीति, वस्तुएँ, व्यापार के रूप और साधन, विविध व्यवसाय और जीविका के विभिन्न साधनों की खोज की है। अष्टछाप काव्य में गोपालन और कृषि व्यवसाय तो स्पष्ट रूप से मिलते हैं, किन्तु अपने सूक्ष्म पर्यवेक्षण के फलस्वरूप लेखिका ने अन्य व्यवसायियों जैसे, महाजन, जौहरी, सर्राफा, बजाज, कुलाल, मनिहार, गन्धी, तमोली, तेली, पारधी, कसाई, वैद्य, चित्रकार, मूर्तिकार, स्वर्णकार, दर्जी, रंगरेज, रजक, कहार, केवट, नाई, बारी, माली, दाई, नट, बाजीगर, गणिका, डाढ़ी जंगा, भिखारी आदि को सप्रमाण प्रस्तुत किया है।

सातवाँ अध्याय राजनीतिक जीवन-चित्रण का है। राजनीति एवं राजदरबार से सर्वथा उपेक्षाभाव रखने वाले भक्तों की रचनाओं से राजवर्ग का संगठन और उद्देश्य, शासन-व्यवस्था, सेना और युद्ध, राजस्व तथा अन्य राजनीति-सम्बन्धी बातों का चयन कर लेना अपने आप में एक उपलब्धि है। इस अध्याय से भक्त कवियों की बहुज्ञता तथा अनुभवशीलता का परिज्ञान होता है।

तीन अध्याय भक्ति और धर्म-सम्बन्धी विचार, दार्शनिक विचार तथा साहित्य कला एवं विज्ञान-सम्बन्धी विचार के हैं। इन अध्यायों में शोध की नवीन सामग्री नहीं है। भक्ति के विविध रूप, धार्मिक विचार, ब्रह्म, जीव, जगत्, माया तथा वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और नृत्य आदि पर अष्टछाप-काव्य में प्राप्त उद्धरणों के आधार पर संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अन्तिम अध्याय उपसंहार में समग्र ग्रन्थ के शोध-परिणाम-स्वरूप अष्टछापी कवियों का भारतीय संस्कृति तथा विदेशी संस्कृति के प्रति दृष्टिकोण और सांस्कृतिक चित्रण की दृष्टि से अष्टछाप-काव्य का महत्त्व प्रस्तुत किया गया हैं। लेखिका का मत है कि अष्टछापी कवियों का दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति के उदार दृष्टिकोण का समर्थन है और विदेशी संस्कृति के प्रति उपेक्षा-भाव है। केवल कुछ प्रचलित विदेशी शब्द ही संस्कार-रूप में ग्रहण किये गये हैं। समाज के जीवन का चित्रण लक्ष्य न होते हुए भी इस काव्य में तत्कालीन जीवन की गतिविधियों से परिचय कराने वाली पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है। कवियों द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक जीवन में न केवल ब्रज प्रदेश की संस्कृति का चित्रण है वरन् समस्त उत्तर भारत के हिन्दुओं और हिन्दी-भाषियों की परम्परागत संस्कृति प्राप्त होती है। इस काव्य में नगर-जन-जीवन की अपेक्षा शुद्ध ग्राम्य जीवन का वह स्थायी रूप मिलता है जिसकी परम्परा की जड़ें

सहस्रों वर्षों तक अक्षुण्ण रहती हैं। मध्यकालीन भारत का जो इतिहास अब तक लिखा गया है उसमें ग्राम्य-प्रधान भारत का सांस्कृतिक पक्ष नहीं है। भारत का सांस्कृतिक इतिहास जब कभी लिखा जाएगा तब मध्यकालीन अंश की समस्त सामग्री अष्टछाप काव्य से ही लेनी होगी। इस प्रकार अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक योग-दान बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

शोध-प्रबन्ध के मुख्य कार्य दो होते हैं—अप्राप्त तथ्यों की खोज और उनके आधार पर निष्कर्षों की उपलब्धि। प्रस्तुत ग्रन्थ निश्चय ही सफल शोध-ग्रन्थ है। इसमें प्रत्यक्ष रूप से अप्राप्त सांस्कृतिक सामग्री का सुन्दर चयन किया गया है। अष्टछाप काव्य का एक-एक शब्द बड़े मननपूर्वक देखा गया है। सामग्री का चयन, उसका परीक्षण और वर्गीकरण युक्तियुक्त और प्रयोजनीय है, किन्तु सामग्री द्वारा निष्कासित निष्कर्ष अपेक्षाकृत निर्बल, अपूर्ण और कम महत्त्वपूर्ण हैं। कहीं-कहीं अप्रासंगिक भी हैं। उदाहरण के लिए द्वितीय अध्याय की समीक्षा में तीन निष्कर्ष निकाले गए हैं, इनमें से प्रथम दो की निस्सारता स्वयं लेखिका ने अन्त में स्वीकार कर ली है। तीसरा निष्कर्ष जिसमें कवियों की पर्यवेक्षण-शक्ति का अनुमान किया गया है वैसा ही आधारहीन है। इसकी पुष्टि में केवल एक उदाहरण 'बृक-ग्रसित अजा' दिया गया है। यह उक्ति भी मौलिक अथवा नवीन अनुभव पर आधृत नहीं की जा सकती। वास्तव में अध्याय के उपरान्त इस प्रकार के निष्कर्ष की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। आवश्यक तो प्राकृतिक जीवनचर्या के अन्तर्गत जन-जीवन की प्रकृति-सम्बन्धी मान्यताओं का आकलन मात्र था।

शोध का विषय है अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, किन्तु मूल्यांकन के नाम पर इस ग्रंथ में कुछ भी नहीं कहा गया, किसी भी अध्याय की समीक्षा में मूल्यांकन की ओर संकेत नहीं है। समग्र ग्रन्थ में अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक विवेचन मात्र ही है। अच्छा होता यदि तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा प्रस्तुत शोध की उपलब्धियों का विस्तृत मूल्यांकन किया जाता तथा बीच-बीच की समीक्षाओं में भी उद्घाटित सांस्कृतिक तथ्यों के महत्त्व की ओर संकेत किए जाते। कुछ भी हो शोध की उपलब्धियां महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। लेखिका और लखनऊ विश्वविद्यालय इस कार्य के लिए बधाई के पात्र हैं।

हिन्दी के कृष्णभक्ति-कालीन साहित्य में संगीत

ठाकुर जयदेव सिंह

हिन्दी के प्रायः सभी भक्त-कवि संगीतज्ञ थे और उन्होंने अपने भजनों और पदों को रागों में निबद्ध किया था। अपने पदों को पहले वे भगवान् के सामने गा लेते थे तब उन्हें औरों को सुनाते थे। यदि कोई ऐसा भक्त-कवि हुआ जो स्वयं नहीं गा सकता था तो वह अपने पद को पहले मन्दिर में नियुक्त गायक से भगवान् के सामने गवा लेता था तब अन्य लोगों को उसे सुनाता था। इसको भक्त-कवि चढ़ावा या समर्पण कहते थे। हृदय के अन्तस्तम तल से उद्भूत कृति से बढ़कर उनके पास भगवान् के प्रति चढ़ाने के लिए और कोई वस्तु हो ही क्या सकती थी। भक्ति तथा आत्मनिवेदन-पूर्ण पदों को रचकर उन्हें मधुर रागों और तालों में निबद्ध कर इन भक्तों ने लगभग ५०० वर्षों तक इस प्रकार गाया कि उनके निनाद से भारत का कोना-कोना गूंज उठा। आज तक उनके पद न केवल हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में गाये जाते हैं अपितु बंगाल, मद्रास जैसे प्रदेशों के मन्दिरों में भी सुनने को मिलते हैं जहाँ लोग हिन्दी बहुत कम समझते हैं। उनके पद एक साथ ही रंजक और भवभंजक हैं। भाषा, भाव और संगीत के समन्वय का ऐसा उदाहरण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

साहित्य की दृष्टि से इन पदों पर पर्याप्त विचार हुआ है, किन्तु संगीत की दृष्टि से अभी तक अत्यल्प विचार हुआ है। हर्ष का विषय है कि श्रीमती उषा गुप्ता ने इनके संगीत पर अरुण-स्वर्णिम प्रकाश डाला है। उन्होंने इस विषय पर एक निबन्ध लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉक्टर की उपाधि के लिए लिखा था। अब वह उपर्युक्त पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ है। इसमें केवल कृष्णभक्तिकालीन साहित्य के पदों पर विचार किया गया है। यह पुस्तक आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में कृष्णभक्ति-कालीन कवियों की प्रकाशित और हस्तलिखित रूप में प्राप्य रचनाओं का दिग्दर्शन कराया गया है। लेखिका ने इन कवियों की केवल प्रकाशित रचनाओं को ही अपने निबन्ध का आधार नहीं बनाया है किन्तु बड़े परिश्रम से बहुत-सी अप्रकाशित रचनाओं को भी ढूंढ निकाला है। इसके लिए वह हमारी बधाई की पात्र हैं।

लेखिका : डॉ० उषा गुप्ता।
प्रकाशक : लखनऊ विश्वविद्यालय
मूल्य : १५ रुपये।

हिन्दी के बहुत से विद्वान् पहले अष्टछापी सूरदास को रामदास का पुत्र मान बैठे थे। वर्षों के अनन्तर यह भ्रम दूर हुआ तो अब सूरदास मदनमोहन अकबर के दरबारी गायक रामदास के पुत्र बना दिये गये हैं। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने यह भ्रान्ति की है। लेखिका ने भी उन्हीं के पदचिह्नों का अनुसरण किया है। किन्तु रामदास के पुत्र सूरदास और सूरदासमदनमोहन एक नहीं थे।

द्वितीय अध्याय में लेखिका ने संगीत के तत्त्वों और संगीत और साहित्य के सम्बन्ध को बतलाया है, तृतीय अध्याय में संगीत-प्रेरणा के उपादान पर विचार किया है। चतुर्थ अध्याय में लेखिका ने उस काल के पदों में जो संगीत-सम्बन्धी बातें आई हैं उनका बड़े परिश्रम से संग्रह किया है। उनके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि गायक मात्र नहीं थे। उन्हें संगीत-शास्त्र का भी पर्याप्त ज्ञान था। संगीत-शास्त्र के मूल तत्त्व—श्रुति, स्वर, मूर्च्छना, ग्राम, कूट तान, राग, लय, अतीत, अनागत इत्यादि का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था।

पंचम अध्याय में लेखिका ने राग की उत्पत्ति और विकास पर विचार किया है और भिन्न-भिन्न मतों के अनुसार राग-रागिणियों का वर्गीकरण दिया है। इसी अध्याय में प्रत्येक भक्त-कवि द्वारा प्रयुक्त राग-रागिणियों की सूची भी दी है। इस सूची के बनाने में लेखिका ने यथेष्ट परिश्रम किया है। खेद है कि इन कवियों के पदों में हमें रागों के नाम मात्र मिलते हैं। कहीं भी—न तो ऋजु रूप से, न वक्र रूप से—यह पता नहीं चलता कि इन रागों में वे किन स्वरों का व्यवहार करते थे। उदाहरण के लिए सूरदास के रागों में नायकी और कान्हरा या कान्हरो का अलग-अलग उल्लेख मिलता है। नायकी कान्हरा का ही एक प्रकार है। परन्तु यह पता नहीं चलता कि सूरदास कान्हरा से क्या समझते थे। क्या यह कान्हरा शुद्ध कान्हरा था या कान्हरा का ही कोई अन्य विशिष्ट रूप या दरबारी कानरा था जिसके निर्माता तानसेन कहे जाते हैं। इन समस्याओं के हल का कहीं कोई संकेत नहीं मिलता। परिणाम यह हुआ है कि उस समय में व्यवहृत रागों के नाम की सूची के अतिरिक्त और किसी बात का पता नहीं चलता। चाहे लक्षण-संगीत की दृष्टि से देखें, चाहे लक्ष्य-संगीत की दृष्टि से देखें, रागों के नाममात्र की सूची का संगीत के लिए कोई महत्त्व नहीं।

छठे अध्याय में लेखिका ने राग और रस, राग और ऋतु तथा समय के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया है। इसके अनन्तर उन्होंने पर्याप्त उद्धरणों द्वारा यह दिखलाया है कि किस प्रकार भक्त-कवियों ने उपर्युक्त रागों में अपने पदों की रचना की। जो पद ऋतुरागों में बन्धे हैं उनके तो शब्दों से ही राग की अनुकूलता स्पष्ट हो जाती है, जैसे "रिमझिम-रिमझिम घन बरसै री" मलार राग में बन्धा है। यहाँ शब्द ही बतला देते हैं कि यह गान वर्षा ऋतु के किसी राग में होना चाहिए।

इसी प्रकार "बन में आवत धेनु चराए। संध्या समय सांवरे मुख पर गोपद रज लपटाए' —यह पद ही कह देता है कि इसके लिए सायंकाल का कोई राग अनुकूल होगा। किन्तु अन्य पदों में इन संकेतों के अभाव में तथा पदों के स्वरलिपि में निबद्ध न होने के कारण यह कहना कठिन है कि अमुक पद अमुक राग में उपयुक्त है या नहीं। जहाँ पद ऋतु अथवा किसी विशेष परिस्थिति के वर्णनात्मक हैं वहाँ भी उस समय के कई रागों में से कौन-सा विशिष्ट राग उपयुक्त होगा यह भी बिना स्वर-लिपि के ठीक प्रकार से आँकना कठिन है। फिर भी पदों के अर्थ की दृष्टि से रागों के सामंजस्य का जो विचार लेखिका ने किया है वह श्लाघनीय है। खेद इसी बात का है कि पदों के स्वरांकन न होने के कारण हम संगीत की दृष्टि से उनके समीचीनत्व व असमीचीनत्व का ठीक प्रकार से निर्धारण नहीं कर सकते। यदि कहीं ये पद स्वर में अंकित होते तो संगीत की अमूल्य निधि होते।

सातवें अध्याय में पदों की भाषा की संगीत की दृष्टि से समीक्षा की गई है। लेखिका ने इस पर गहनता से विचार किया है और उनका यह प्रयास स्तुत्य है। आठवें अध्याय में लेखिका ने भक्त-कवियों के पदों पर तुकान्त, लय और ताल की दृष्टि से विचार किया है। यह अध्याय भी गवेषणापूर्ण है।

पुस्तक खोज और परिश्रम के साथ लिखी गई है। लेखिका ने हिन्दी-साहित्य के पदों का संगीत की दृष्टि से प्रशंसनीय विश्लेषण किया है। हिन्दी साहित्य में ऐसी पुस्तकों का बड़ा अभाव था। उस अभाव की यह पुस्तक अंशतः पूर्ति करती है। इसमें संगीत-शास्त्र सम्बन्धी जो संस्कृत श्लोक उद्धृत किये गये हैं उनमें प्रचुर मात्रा में छापे की अशुद्धियाँ हैं। एक अच्छी पुस्तक में ये अशुद्धियाँ बहुत खटकती हैं। आशा है दूसरे संस्करण में ये अशुद्धियाँ ठीक कर दी जाएंगी।

हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य पर पुराणों का प्रभाव

डॉ० भरतसिंह उपाध्याय

प्रस्तुत पुस्तक एक शोध प्रबन्ध के रूप में है जिसे इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया है। लेखिका ने इस ग्रन्थ में कृष्णभक्ति-काव्य पर पुराणों के प्रभाव की विवेचना की है। सम्पूर्ण पुस्तक आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय के तीन भेद हैं, जिनमें क्रमशः हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य को प्रभावित करने वाले महापुराणों, अन्य महापुराणों तथा उपपुराणों का परिचय दिया गया है। यह भाग अत्यन्त साधारण कोटि का है और लेखिका ने कोई नई या मौलिक सामग्री प्रस्तुत नहीं की है। कृष्णभक्ति-काव्य पर पुराणों का जो प्रभाव पड़ा है उसको ऐतिहासिक रूप से हृदयङ्गम करने के लिए यह आवश्यक था कि पुराणों के कालक्रम पर विस्तृत विवेचन किया जाता, जो इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है। केवल कुछ-एक पुराणों के सम्बन्ध में कुछ मोटी-मोटी बातें कह दी गई हैं।

पुस्तक के द्वितीय अध्याय में कृष्णभक्ति-काव्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। १५०० ई० के पूर्व से लेकर वर्तमान काल तक के हिन्दी कृष्णभक्त कवियों की जीवनी तथा काव्य पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। न तो कोई नई दृष्टि ही यहाँ उपलक्षित है और न कोई नई सूचना ही है। सूरदास, नन्ददास और परमानन्द दास आदि के सम्बन्ध में वे ही सब रटी-रटाई बातें कही गई हैं जो इन कवियों के काव्य-विवेचनों में प्रायः सर्वत्र कही जाती हैं।

तीसरे अध्याय का शीर्षक है "हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य में दार्शनिकता और उस पर पुराणों का प्रभाव।" इस अध्याय में निम्नोक्त विषयों पर पुराणों के प्रभाव की विवेचना की गई है—ब्रह्म, जीव, माया, मोक्ष जगत्, ब्रज, वृन्दावन, राधा और रास। विवेचन के प्रसंग में लेखिका ने इन विषयों पर वेदों, उपनिषदों, रामायण और महाभारत आदि के मन्तव्यों को भी लिया है, परन्तु इन ग्रन्थों के मौलिक अध्ययन

लेखिका : डॉ० शशि अग्रवाल।
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या २३८।
मूल्य : ६ रुपये।

ा परिचय बिल्कुल नहीं दिया। उदाहरण के लिए लेखिका ने संस्कृत साहित्य में ाप्त माया के स्वरूप का विवेचन किया है। आरम्भ में ही वे लिखती हैं, "अँग्रेज़ वद्वान हेस्टिंग्स ने अपनी "इन्साइक्लोपीडिया आव् रिलीजन एण्ड एथिक्स" में माया ; प्रकरण में लिखा है कि माया का वर्णन ऋग्वेद में भी है।" और तदनन्तर ऋग्वेद ौर उपनिषदों में माया का जो स्वरूप गृहीत है और शंकर आदि ने उसके जिस ूप का विवेचन किया है, उसके सम्बन्ध में हेस्टिंग्स की "इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स" से ही सात लम्बे-लम्बे उद्धरण हैं। इस सब विवेचन का या मूल्य है? इतना ही नहीं, लेखिका ने इन सब उद्धरणों को हेस्टिंग्स की ही चना मानकर उनकी पुस्तक "इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स" से ' दिये हैं। उसके इस कथन को हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं कि "अंग्रेज़ विद्वान् स्टिंग्स ने अपनी "इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स" में माया के करण में लिखा है...।" विदुषी ग्रन्थकर्त्री को इतना तक नहीं मालूम कि हेस्टिंग्स इन्साइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड एथिक्स" के लेखक नहीं बल्कि सम्पादक ात्र हैं और माया के सम्बन्ध में जो उद्धरण उसने हेस्टिंग्स के नाम से दिये हैं वे स्टिंग्स के लिखे हुए नहीं बल्कि जे० एलन के हैं।

चतुर्थ अध्याय है "हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य में भक्ति और उस पर पुराणों ा प्रभाव।" इसमें मुख्यतः नवधा भक्ति की चर्चा है और किस प्रकार इस सम्बन्ध ं पुराणों का प्रभाव कृष्णभक्ति-काव्य पर पड़ा है, इसकी मीमांसा की गयी है। द्धरणों को संकलित करने में लेखिका का उद्योग प्रशंसनीय है और उन्हें सँजोया ी अच्छी तरह गया है। स्वकीया भाव की मधुर भक्ति और परकीया भाव की मधुर ाक्ति पर भी अधिकारपूर्ण ढंग से लिखा गया है।

पाँचवें अध्याय में हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य में राधा के स्वरूप पर विवेचन । इस विषय-सम्बन्धी जो विस्तृत अध्ययन हो चुका है, उसको देखते हुए कोई वीनता तो यहाँ नहीं मिलती, परन्तु फिर भी यह प्रकरण योग्यता और सुलझे हुए वचारों के साथ लिखा गया है।

छठे अध्याय में "कृष्णभक्ति-काव्य में अवतार और उस पर पुराणों का भाव" विवेचित है। इसमें भी लेखिका का उद्धरण-संकलन का कार्य विशेषतः शंसनीय है।

सातवें अध्याय में पुराणों के सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी वर्णनों और वंशावलियों ; प्रभाव को कृष्णभक्ति-काव्य पर दिखाया गया है, और आठवें अध्याय में हिन्दी ष्णभक्ति-काव्य पर पुराणों के काव्य-सम्बन्धी अंशों का प्रभाव। इस प्रकार कृष्ण-क्ति-काव्य पर पुराणों के प्रभाव के जितने भी पक्ष और क्षेत्र हो सकते हैं उनका ाङ्गोपाङ्ग निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है।

लेखन शैली अत्यन्त प्रशस्त और आकर्षक है। प्रामाणिकता की दृष्टि से ग्रन्थ सन्तोषजनक है। परन्तु अनेक अंग्रेज़ी शब्दों की, जो रोमन लिपि में लिखे गये हैं, वर्तनियाँ अशुद्ध हैं। उदाहरणतः फर्कुहार (पृष्ठ १६७, १७१), कीथ (पृष्ठ २३६), डायसन (पृष्ठ २३६), कल्चरल हेरिटेज (पृष्ठ २३६) और बिब्लियोथैका इण्डिका (पृष्ठ ३६) आदि शब्द, जो अपने मूल रूप में रोमन लिपि में लिखे गये हैं अशुद्ध वर्तनियों में हैं। इससे पाठक के मन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। कुल मिला कर ग्रन्थ अभिनन्दनीय है और मध्यकालीन कृष्णभक्ति-काव्य के स्रोतों के अनुसन्धान की दिशा में उससे हमारे ज्ञान में वृद्धि हुई है, ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति-काव्य

श्री रघुवीरशरण व्यथित

इस प्रबन्ध को लिखकर श्री के० भास्करन नायर को लखनऊ विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई है।

प्रबन्ध निम्नलिखित अध्यायों में बाँटा गया है—मलयालम भाषा के पद्य-साहित्य की रूपरेखा। १. विषय-प्रवेश; २. कृष्णभक्त कवि; ३. दार्शनिक विचार; ४. भक्ति; ५. काव्य-कला; ६. रस-अलंकार; ७. सामाजिक प्रभाव; ८. नंप्यार की हास्य-कविता; ९. परिशिष्ट : चुने छन्द और सहायक ग्रन्थों की सूची।

मलयालम साहित्य की रूपरेखा में लेखक ने मलयालम साहित्य का चलता परिचय स्तवन-शैली में दिया है। अपने कथनों की पुष्टि में उन्होंने 'काल-विभाजन' के लिए 'केरल-भाषा-साहित्य-चरितम्' का आधार ग्रहण किया है तथा अन्यों के लिए वे स्वयं प्रमाण हैं।

१. विषय प्रवेश में वैष्णव धर्म का उत्तर और दक्षिण में विकास खोजा गया है जिसमे दक्षिण के आचार्यों का उल्लेख करके संक्षिप्त जीवनियाँ दी गई हैं, और टिप्पणी रूप में उनके दार्शनिक सिद्धान्त विकीर्ण किए गए हैं। कई बार पढ़ने पर भी समझ में नहीं आया कि चैतन्य महाप्रभु को "दक्षिण के आचार्य और कवि" शीर्षक के अन्तर्गत किस विचार से रखा गया है, तथा कबीर के गुरु रामानन्द के जन्मस्थान को क्यों नहीं दिया गया। दक्षिण के वारकरी सम्प्रदाय का जहाँ उल्लेख है उसका हिन्दी के कृष्ण-भक्तों या मलयालम के कवियों पर प्रभाव नहीं दिखाया गया। शायद उनका लक्ष्य सारे भारत के सम्प्रदायों और उनके आचार्यों का सामान्य परिचय देना है, तभी कश्मीरी शैव सम्प्रदाय का उल्लेख राधावल्लभ, सखी-सम्प्रदाय तथा वल्लभ-सम्प्रदाय के साथ इसी क्रम में किया गया है। इन सम्प्रदायों का पारस्परिक प्रभाव तथा विकास नहीं बताया गया।

लेखक : डॉ० के० भास्कर नायरन।
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स।
मूल्य : १०-रुपये; पृष्ठ संख्या : ३३८।

२. हिन्दी के नौ कवि—सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास, मीराबाई, नरोत्तमदास, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास, आनन्दघन, रसखान तथा ध्रुवदास, तथा मलयालम के निरणम कवि—माधव पाणिक्कर, शंकर पाणिक्कर, राम पाणिक्कर—चेरश्शेरी नपुंतिरि, एढुत्तच्छन, कुंचन नंप्यार, रामपुरत्तु वार्यर, इन सब की संक्षिप्त जीवनियाँ दी हैं। इनमें माधव पाणिक्कर, नंपुतिरि, एढुत्तच्छन, पूँतानम् तथा रामपुरत्तु वारियर को निर्भ्रम कृष्ण-भक्त की संज्ञा दी जा सकती है, अन्यों के विषय में यह कहना कठिन है। उनके काव्य राम-भक्ति प्रधान हैं, कृष्ण-स्तुति (स्तोत्रात्मक) प्रधान नहीं हैं। कुंचन नंप्यार को लोग भक्त मानने को तैयार नहीं, जनकवि बताते हैं। वास्तव में ये कवि 'विष्णु भक्त' कहे जाने चाहिए, उन्होंने 'राम-कृष्ण' के वृत्तों को पद्यों में लिखा है, और वे 'कृष्ण तथा राम' दोनों को अभेद्य दृष्टि से देखते हैं। इनमें कवि-रूप प्रधान है, भक्त-रूप गौण। कृष्ण-भक्त हिन्दी कवियों की भाँति आत्म-निवेदनात्मक पद इनके नहीं मिलते, स्तुति मंगलाचरण रूप में अथवा 'वृत्त' के अङ्ग रूप में प्राप्त कृष्ण-भक्ति स्तोत्र पद्य हैं। वास्तव में "हिन्दी कृष्ण-भक्तों' की आत्मा के कवि मलयालम में नहीं हैं।

३. दार्शनिक विचार : इस विषय में लेखक ने भारतीय दर्शन की सामान्य आधारभूत पाँच बातों का कवियों के काव्यों से उल्लेख किया है। यथा—ब्रह्म-सम्बन्धी विचार, जीव-सम्बन्धी विचार, माया-सम्बन्धी विचार, मोक्ष-सम्बन्धी विचार और रास-सम्बन्धी विचार। विवेचन का आदर्श ऐसा है "रास शब्द एकान्त आनन्द को सूचित करता है। श्रीधर स्वामी की राय है कि जब नर्तकियाँ एक साथ नृत्य करती हैं, उस नृत्य-विशेष को 'रास' नाम दिया जाता है। श्री जीवगोस्वामी ने लिखा है नट के गले में हाथ डाल कर मण्डलाकार होकर नृत्य करना रास कहलाता है"—(पृष्ठ १०३) हिन्दी में सूरदास आदि ने अपने आचार्यों के सिद्धान्तों का उपबृंहण किया है और मलयालम में कवियों ने संस्कृत के रामकृष्ण काव्यों को अपना उपजीव्य ग्रन्थ माना है। इससे जो भेद आ जाता है, उसकी ओर कहीं संकेत नहीं हुआ है।

४. भक्ति : लेखक ने नवधा भक्ति के रूपों में समस्त कृष्णकाव्य को समाविष्ट करके और मलयालम से उसकी समानता दिखाकर अपना काम समाप्त किया है। लेकिन यह नहीं बताया कि हिन्दी के भक्तों की आत्मा मलयालम से कहाँ भिन्न है। मोटे में कहूँ तो हिन्दी मध्ययुगीन भक्तिकाव्य अपने आराध्य से कहीं अधिक उसकी निष्काम भक्ति पर टिका है, और उसमें सबको समान अधिकार प्राप्त हैं सबकी समता है। लेकिन मलयालम के काव्यों में ब्राह्मणवाद या उच्च-वर्गता की झलक मिलती है, और इनमें कोई भी कवि निचले वर्ग का नहीं है, यह एक तथ्य है। उदाहरण देखिये :—

"जीव माया के प्रभाव से कई जन्म लेने के बाद यदि वह शुभ कार्य करता रहे तो देवता बनता है और बुरे काम करने के कारण चाण्डाल के कुल में पैदा होता है" (पुस्तक पृष्ठ ६२)

हिन्दी का भक्त-कवि कुकर्मों से अधोगति तो मानता है पर चाण्डाल-योनि को पाप का कर्म-फल नहीं। उस विचारधारा के पीछे कट्टर पौराणिक धर्म, ब्राह्मण-धर्म बोल रहा है। हिन्दी का भक्त-कवि कभी देवता भी नहीं बनना चाहता। देवता तो उसे माया में लिप्त एवं हीन दीखते हैं। वह अपने शुभ कर्मों का पुरस्कार पाने को व्यापारिक भक्ति भी नहीं करना है। उसे तो अपने प्रभु की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार है।

भक्त 'विनय' के सदृश पद भी मलयालम कवियों में नहीं मिलते हैं, लेखक ने इसे नहीं बताया है। परन्तु लेखक बड़े भावुक और उदार तथा दार्शनिक हैं। निष्कर्ष रूप में "एकमेव अद्वितीयम्" के तत्त्व को इस प्रकार लिख देते हैं—

"ऊपर कही हुई बातों से स्पष्ट है कि दोनों भाषाओं के भक्त-कवियों में दार्शनिक सिद्धान्त समान हैं।"

मलयालम में उपजीव्य ग्रन्थ संस्कृत के मूल-ग्रन्थ होने के कारण खण्डन-मण्डन नहीं मिलता, जैसा कि सूर तथा नन्ददास में भ्रमर-गीत के माध्यम से हुआ है।

हिन्दी में भक्ति द्वारा सामाजिक क्रान्ति हुई जब कि मलयालम में भक्ति द्वारा वैयक्तिक भावनाओं का तोष।

५. **काव्य-कला**—कथावस्तु : मलयालम में कृष्ण-वृत्तात्मक काव्य हैं, भक्ति के मुक्तक पदों के काव्य नहीं हैं, उनके पद्य कृष्ण-वृत्त के अङ्ग हैं। कृष्ण-कीर्त्तन, कृष्ण-स्तुति प्राचीन स्तोत्र रूपों में प्राप्त हैं। लेकिन संस्कृत के स्तोत्रों तथा कृष्ण-वृत्तात्मक काव्यों से हिन्दी-भक्तों के पदों में अंतर है। आत्मा दूसरी है, उद्देश्य भिन्न है। डॉ० नायर ने इसे नहीं देखा है।

"कथा-वस्तुओं" का सारांश डॉ० नायर ने लगभग ८० पृष्ठों में दिया है तथा जगह-जगह पर बताया है कि सूरदास ने मनोभावों की उपेक्षा कहाँ की है। कहाँ मलयालम कवियों ने असाधारण ढंग से वर्णन किया है। लेकिन उन्होंने स्वीकार किया है कि "हिन्दी के कवियों का ध्यान भाव-पक्ष की ओर था जब कि मलयालम के कवियों ने लोक-पक्ष की ओर अपनी दृष्टि रखी।"

६. काव्य-कला के तुलनात्मक अध्ययन में डॉ० नायर ने दोनों भाषाओं के रसों के पदों तथा पद्यों के उदाहरण संकलनात्मक ढंग पर क्रमशः दिये हैं। उनमें से

शीर्षक में दिये रस को निकालना हमारा काम है। मलयालम के पद्यों के अनुवाद सम्भवतः पाठकों की सुगमता के लिए उपस्थित किये गये हैं। वियोग-वात्सल्य के अन्तर्गत मलयालम का एक उदाहरण देखिये :—

"मेरा बेटा अपने सखाओं के साथ कल इसी समय घर आया था। आज देर क्यों हो रही है। उसका मुस्कराता हुआ चेहरा न देखने से मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। गायों को चराते समय उसके पैरों में काँटे न लग गये हों। सिंह का गर्जन सुनकर वह डर के मारे बेहोश न हुआ हो। सम्भव है, पत्ते और पुष्प तोड़ने के लिए पेड़ पर चढ़ते समय गिर गया हो। बाघ को सामने देखकर घबरा न गया हो। चावल और तरकारियाँ ठण्डी हो रहीं हैं। यदि बच्चे न हों तो सर्वदा दुःखी होना पड़ता है। बच्चों का पालन-पोषण करने में बड़ा कष्ट झेलना है। मेरा कोई भी अवलम्ब नहीं। पुत्रों के कारण इतना दुःख झेलने वाली मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं, सचमुच पुत्र न होने से बड़ा दुःख झेलना पड़ा। पुत्र-जन्म के बाद दुःख और भी बढ़ गया। मेरा दुःख मृत्यु तक बना रहेगा। हाय, मेरा बेटा अभी तक न आया। गायों के रंभाने का शब्द भी सुनाई नहीं पड़ता। वंशीनाद भी मैंने नहीं सुना। हाय मेरे बच्चे के अनेक शत्रु हैं।"

क्या आप सहमत होंगे यदि मैं कहूँ कि यह भाव-शवलता का सुन्दर उदाहरण है, वात्सल्य रस का नहीं।

अलंकारों की तुलना भी डॉ० नायर ने संग्रहात्मक ढङ्ग से की है। उपमा में लिखते हैं "श्री नंप्यार द्वारा प्रयुक्त अलङ्कारों का अध्ययन करने पर हमें उनके विशाल अनुभवों का पता लगेगा।" वैसे साहित्य-शास्त्र में पढ़ाया जाता है कि उपमा चार तरह के साम्य पर निर्भर है। अनुभव तो प्रत्येक व्यक्ति का अपना ही होता है; अतः इस विषय में विशेष कुछ नहीं कहना है। फिर भी इतना कहना पर्याप्त है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में तुलना-प्रसंग को पढ़कर सामान्य पाठक भी हताश हो सकता है।

७. सामाजिक प्रभाव : हिन्दी के कवियों में उन्हें नहीं के बराबर मिला दीखता है। संस्कारों में जन्म, नामकरण, वर्षगांठ, कर्णवेध और एकादशी व्रत।

त्यौहार—उत्सव—केवल दो—हिंडोला और होली। सामाजिक स्थिति के विषय में लिखा है "ऐसा लगता है कि अहीरों का समाज संकटपूर्ण परिस्थितियों में था।"

उनको मलयालम के कवियों में काफी सामग्री मिली है। दस में से साढ़े नौ पृष्ठ उसपर खर्च हुए हैं। हमारा पकवानों में अटा, अप्पं, दोशा, इड्डली, चीटा, चिउड़ा से, तथा विनोदों में गेंद, चौपड़, शतरंज तथा नाचगान, कथकलि, जादू का खेल से

परिचय होता है, उत्तर के भक्त कवियों में पकवानों के नाम आये हैं। खेल की चीज़ों के नाम भी हैं, इसे कौन बताये ?

८. नंप्यार की हास्य-कविता का भक्ति-काव्य में क्या स्थान है यह पाठक की समझ में नहीं आता। परन्तु इससे स्वयं सिद्ध हो जाता है कि नंप्यार कैसे भक्त-कवि हैं।

९. मलयालम के प्रचुर चुने हुए छन्द और उनके सारांश डॉ० नायर ने हिन्दी को समृद्ध बनाने को दे दिये हैं, यह उनका वास्तव में स्तुत्य कार्य है और हिन्दी जगत् उनका आभार मानेगा। वास्तव में हिन्दी को अभी अन्य भाषाओं से अविकल अनुवादों की आवश्यकता है। इससे अन्य भाषा-भाषियों का यश-सौरभ हिन्दी-जगत् में निस्सन्देह फैलेगा।

प्रबन्ध की साज-सज्जा सुन्दर है। भाषा की अशुद्धियाँ हैं, तो क्षन्तव्य हैं। सारांशतः प्रस्तुत प्रबन्ध हिन्दी में अनेक प्रकार से स्वागत के योग्य है। वह हमारी जानकारी बढ़ाता है और हमें सोचने को बाध्य करता है।

रामभक्ति शाखा

डॉ० रामदत्त भारद्वाज

नागपुर विश्वविद्यालय की पी.-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत डॉ० रामनिरंजन पांडेय का यह शोध-ग्रन्थ अध्ययन और अध्यवसाय का फल है। इसके प्रथम अध्याय में उन्होंने 'राम' शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या रामपूर्व-तापनीय, रामोत्तरतापनीय, सीतोपनिषद् आदि अनेक प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर बड़े सुन्दर रूप से की है। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास को, रामानन्द जी की छठी पीढ़ी के नरहरिदास जी का शिष्य मान कर, विशिष्टाद्वैती विचारधारा का अनुयायी बताया है और तन्निमित्त ऐसे स्थलों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया हैं जिनके कारण गोस्वामी जी को विशिष्टाद्वैतीं न माना जा सके।

डॉ० पांडेय ने 'मानस' के बालकण्ड के आधार पर, द्वितीय अध्याय में, 'विमल सन्तोष' पर विस्तार से प्रकाश डाला है; और अयोध्याकाण्ड के आधार पर, तृतीय अध्याय में, 'विज्ञान वैराग्य' का स्पष्टीकरण किया है। इसी प्रकार, चौथे अध्याय में, अरण्यकाण्ड के आधार पर जीवन और वैराग्य का प्रतिपादन किया गया है। "राम के विमल वैराग्य के भीतर भक्तवत्सलता है, कृपालुता है और कोमल शील है। विमल वैराग्य ही उनका निज गृह है। वे उसीमें निवास करते हैं। उनका यह परमधाम उसीको प्राप्त होता है, जो अनासक्तिमय प्रेम (विमल वैराग्य) के प्रकाश से आलोकित हो जाता है।" गोस्वामी जी ने विज्ञान और वैराग्य के साथ-साथ विमल शब्द का भी प्रयोग किया है। डॉ० पांडेय के शब्दों में, "जगत् के व्यवहारों की मलिनता का अभाव और उसके अनन्त सौन्दर्य और पवित्रता को भगवान् राम में देखकर उस पवित्रता में लीन होने के इनके विमल स्वभाव के कारण ही गोस्वामी जी ने भक्ति के क्षेत्र में इन्हें विमल विशेषण से विशिष्ट बना दिया है। केवल अद्वैत को देखने वाले ज्ञान और वैराग्य भक्ति के क्षेत्र में आकर जब विशिष्ट ब्रह्म की

प्रकाशक : नवहिन्द पब्लिकेशन्ज, हैदराबाद
लेखक : डॉ० रामनिरंजन पाण्डेय
मूल्य : २०) रु० ; पृष्ठ संख्या : ५१४

सगुण झाँकी देखकर पवित्रता में लीन होने लगे, तब तुलसीदास जी ने उनके लिए भी सार्थक विशेषणों की आवश्यकता का अनुभव किया और विमल और विशुद्ध आदर्शों को देखने के कारण विमल और विशुद्ध विशेषण जोड़ दिये।" किष्किन्धा-काण्ड के आधार पर, इस प्रबन्ध के पञ्चम अध्याय में, विशुद्ध सन्तोषमय जीवन का स्वरूप बताया गया है। "सुग्रीव की मैत्री के बाद अपने प्रवर्षण-गिरि पर निवास करने के समय विभिन्न ऋतुओं के सौन्दर्य का वर्णन करने के बहाने गोस्वामीजी के राम ने विशुद्ध सन्तोष उत्पन्न करने वाली मर्यादाओं की ओर उपमान विधान के द्वारा संकेत किया है। वर्षा और शरद् दो ऋतुओं में प्रवर्षण पर राम ने निवास किया था। उन्हीं का वर्णन करते हुए विशुद्ध सन्तोष सम्पादन करने वाली मर्यादाओं की स्थापना राम ने लक्ष्मण के साथ अपने वार्त्तालाप में की है।"

षष्ठ अध्याय में, सुन्दर-काण्ड के आधार पर, विमल ज्ञानयुक्त जीवन-दर्शन के दर्शन कराये गये हैं। पांडेय जी के शब्दों में 'मंगल श्लोकों से ही यह कार्य प्रारम्भ हो गया है। ज्ञान चिन्तन का विषय है। चिन्तन से उत्पन्न हुआ ज्ञान सत्य को एक अभेद्य, असीम, अनन्त, निर्गुण रूप में उपलब्ध करता है। भाव सत्य के विविध रूपों को सीमा के भीतर सगुण रूप में प्राप्त करके सन्तोष का अनुभव प्राप्त करता है।' गोस्वामी जी ने अपने विशिष्ट विमल ज्ञान की योजना के भीतर ज्ञान और भाव का समन्वय कर लिया है······वियोगिनी तारा को राम के उपदेश के बाद जिस ज्ञान की उपलब्धि हुई उसकी प्रतिक्रिया का वर्णन गोस्वामी जी ने किया है।

सप्तम अध्याय में विमल विज्ञानमय जीवन-दर्शन की झाँकी उपलब्ध है। "लंकाकाण्ड के युद्ध में मर्यादा-पुरुषोत्तम का साथ देने वाला प्रत्येक योद्धा राक्षसों का शत्रु इसीलिए है कि उनमें उसे राम की मर्यादाओं का प्रायः अभाव ही दिखायी पड़ता है। समत्व की अखिल जागतिक मर्यादा का दर्शन विमल विज्ञान का दर्शन है। इस वासना को लेकर राम का प्रत्येक योद्धा राम के आदर्शों का सार्वभौम रूप देखने के लिए राक्षस का संहार करने के लिए आतुर है। भक्ति के इसी दृष्टिकोण को लेकर लंकाकाण्ड में अधार्मिक आततायित्व और लोकरक्षक पवित्र वीर भाव का संघर्ष दिखाया गया है।"

अष्टम अध्याय में उत्तरकाण्ड के आधार पर अविरल हरि-भक्ति अर्थात् उच्चतम जीवन-दर्शन का प्रतिपादन हुआ है। "विश्वास और एकनिष्ठता अविरल हरि-भक्ति के एक अंग हैं।······गोस्वामी जी ने अपनी अविरल भक्ति की योजना के भीतर संसार-रूपी अनादि तरु के रूप में वेदों से भगवान् का ध्यान कराया है ·········जब अविरल भक्ति प्राप्त हो जाती है तब मन निरन्तर राम के ध्यान के आनन्द में मन, वाणी और कर्म से लीन रहता है। ऐसे साधक का मन कभी चंचल रहता ही नहीं। अतएव उसके लिए योग की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है। ·········गोस्वामी जी के अनुसार रामचरित ही अविरल भक्ति की आधार-भूमि है ·········(जिस) की योजना में सीता का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।"

नवम अध्याय में डॉ० पांडेय ने तुलसी के मानसेतर ग्रन्थों की चर्चा की है। यद्यपि कुछ ग्रन्थों पर साधारण प्रकाश डाला गया है, तथापि कतिपय अन्य ग्रन्थों पर जो प्रकाश पड़ा है उससे अभाव की पूर्ति हो गयी है। यह अध्याय रोचक है और पठनीय भी। दशम अध्याय में डॉ० पांडेय ने डॉ० मैक मैकनीकॉल के तुलसी-सम्बन्धी विचारों की जो समालोचना की है वह तर्कसंगत और उचित ही है। इस प्रबन्ध का ग्यारहवाँ अध्याय सबसे अधिक सुन्दर है। इसमें सूरदास, अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान, हृदयराम, केशवदास, खानखाना रहीम, सेनापति, बाबा रामचरण दास, तथा रसिक-सम्प्रदाय एवं कतिपय हिन्दी-संस्कृत के ग्रन्थ-बहुल के आधार पर रामभक्ति की महत्ता को प्रकट किया गया है, जो रामभक्ति के तुलनात्मक अध्ययन के लिए विशेष उपयोगी है।

यह ग्रन्थ जैसा कि कहा जा चुका है पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन का परिणाम है; और डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र के शब्दों में, "आचार्यों और सन्तों—दोनों ही वर्गों में यह ग्रन्थ विशेष समादृत होगा।" तथापि अधिक विचार के हेतु निम्नलिखित बातों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा—

प्रथमतः, इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय से अष्टम अध्याय तक जो ऊहापोह हुआ है वह पर्याप्त प्रशंसनीय तो है, पर वह तुलसीदास जी की विचारधारा के अनुकूल कहाँ तक है इस विषय में स्पष्टतः कुछ नहीं कहा जा सकता। तुलसी के कुछ विद्वान् भक्त मानस की एक-एक चौपाई के अनेक अर्थ करते रहे हैं; एक चौपाई के अर्थों की संख्या तो लाख तक पहुँची है; किन्तु वे सभी अर्थ तुलसीदास जी के अनुकूल थे ऐसी अधिक सम्भावना नहीं। फिर डॉ० पांडेय ने विमल सन्तोष, वैराग्य विज्ञान आदि की चर्चा करके एक नयी-सी बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है। डॉ० पांडेय ने उक्त सात अध्यायों के शीर्षकों की कल्पना स्यात् रामचरितमानस के काण्डों के अन्त में दी गयीं पुष्पिकाओं के आधार पर की है। पर क्या रामचरित-मानस के प्रमुख हस्तलिखित एवं मुद्रित संस्करणों की पुष्पिकाएँ एक-सी हैं? कदाचित् किन्हीं-किन्हीं में वे नहीं भी हैं।

द्वितीयतः, इस ग्रन्थ के ३६६ वें पृष्ठ पर सूर और तुलसी के काल के सम्बन्ध में डॉ० पांडेय का आधार बाबा वेणीमाधवदास और महात्मा रघुवरदास की तथा-कथित रचनाएँ हैं, जिनकी प्रामाणिकता पर अनेक उच्चकोटि के विद्वानों को बड़ा सन्देह रहा है। अतएव इस सम्बन्ध में अन्य विश्वसनीय आधार की बड़ी आव-श्यकता थी।

तृतीयतः, डॉ० पांडेय गोस्वामी तुलसीदास को, दार्शनिक दृष्टिकोण से, आचार्य रामानुज का अनुयायी समझते हैं। हमारे विचार से गोस्वामी जी आचार्य शंकर

और आचार्य वल्लभ के मध्यस्थ हैं। उनका अद्वैत शंकराचार्य से प्रभावित है और भक्ति वल्लभाचार्य से। यदि आज रामानुजाचार्य जीवित होते तो क्या वे रामचरित-मानस के उन स्थलों को अपनी मान्यता प्रदान कर सकते थे जहाँ गोस्वामी जी ने सीता जी की अपेक्षा लक्ष्मी जी को उन्नीस ठहराया है और विष्णु जी को राम के आदेश पर नाचने वाला बताया है। क्या रामानुजाचार्य विनय-पत्रिका के एक सौ ग्यारहवें विनय की इस विचार-धारा से सहमत होते कि

केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए ॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति-दुख, पाइय यहि तनु हेरे ॥
रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥

इनके अतिरिक्त शांकर-अद्वैत-परक महत्त्वपूर्ण वचन मिलते हैं, यथा—

अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा। रा० १,२२,१
सोहमस्मि इतिवृत्ति अखंडा, दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा। रा० ७,११७ घ १
सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। रा० १,११५,१

माया के सम्बन्ध में तुलसी के विचार भी विचारणीय हैं जो उन्होंने निम्न-लिखित स्थलों पर व्यक्त किये हैं: रा० १-६; वि० १८८, १६०, २; २४६-४; क० ७-३६। भगवान् राम से कहलाया गया है:—

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे, जनु हिम उपल बिलगनहि जैसे। रा० १.११५ ३
फूले कमल सोह सर कैसे, निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसे। रा० ४-१६-२

भगवान् शिव के मुख से कहलाया है—

पुरइनि सघन ओट जल वेगि ना पाइअ मर्म।
माया छन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म। रा० ३-५०

क्या ये विचार परिणामवादी रामानुजाचार्य के अनुकूल होंगे?

चतुर्थतः, क्या गोस्वामीजी रामानन्दी थे? ऐसा सम्भव है कि बाल्यकाल में वे और नन्ददासजी रामानन्दी रहे हों। नन्ददासजी तो वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित

हो गये। 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' से प्रतीत होता है कि तुलसीजी में वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने की कुछ इच्छा तो थी, पर उनकी स्वतन्त्र विचारधारा एवं रामभक्ति इस विषय में बाधक रहीं। 'कृष्ण गीतावली' में २३ वें छन्द से वल्लभाचार्य के प्रति उनकी अव्यक्त आस्था प्रकट होती है। तुलसीदासजी रामानन्दियों की अपेक्षा वर्णाश्रम धर्म के कट्टर अनुयायी थे। मुरलीधर चतुर्वेद-कृत रत्नावली-चरित १८२९ में रचा गया, उसमें लिखा है कि उनके गुरु नृसिंह जी स्मार्त वैष्णव थे। उसके अनुसार रत्नावली शिव-गौरी की पूजा किया करती थी और उसके पिता भी कदाचित् शैव थे; क्योंकि उन्होंने अपने तीनों पुत्रों के नाम शिव, शंकर और शम्भु रखे थे। इस प्रकार गोस्वामीजी पर अपने गुरु और श्वसुर का कुछ प्रभाव था। मानस की अनेक टीकाओं में भी जो जीवनचरित दिया गया है उसमें गोस्वामीजी को स्मार्त वैष्णव माना गया है। स्मार्त वैष्णव वर्णाश्रम धर्म का पालन, तथा गणेश, शिव, विष्णु, दुर्गा और सूर्य की उपासना करते हैं। डॉ० पांडेय लिखते हैं कि "रामानन्दियों के मुख्य ग्रन्थों में से अध्यात्मरामायण भी एक है" (पृष्ठ ४४), किन्तु भगवानदास जी अपने ग्रन्थ 'श्रीमद् रामानन्द दिग्विजय' में (पृष्ठ ४८ पर) लिखते हैं कि अध्यात्मरामायण रामानन्दियों का प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि गोस्वामीजी ने रामचरितमानस को १६३१ वि० की चैत्र शुक्ला नवमी, मंगलवार को प्रकाशित किया। उस वर्ष मंगल के दिन नवमी स्मार्त्तों के अनुकूल थी, वैष्णवों की नवमी बुधवार को थी। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास रामानन्दी नहीं, स्मार्त वैष्णव थे।

ऊपर जो विचार प्रकट किये गए हैं उनका तात्पर्य यह है कि इस सम्बन्ध में अधिकाधिक विचार किया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ पठनीय एवं मननीय है।

मुक्तक काव्य-परम्परा और बिहारी

डॉ० बच्चन सिंह

आलोच्य ग्रन्थ पी.-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। उपाधि-सापेक्ष ग्रन्थों की अपनी सीमाएँ और सरणियाँ होती हैं और सामान्यत: प्रबन्धकार को उनसे गुजरना पड़ता है। प्राय: शोधक नई स्थापना की चेष्टा करते समय कड़ियाँ मिलाने के लिए चर्वित-चर्वण भी प्रस्तुत करता है। ये दोनों ही बातें इस शोध-ग्रन्थ में दिखाई देंगी। ध्वनि की दृष्टि से बिहारी का विस्तृत अध्ययन लेखक का नवीन प्रयास है पर कड़ियाँ मिलाने के कार्य को कुछ अधिक विस्तार मिल गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में मुक्तक का प्रवृत्तिगत वर्गीकरण करते हुए उसका क्रमागत विकास दिखाया गया है। द्वितीय खण्ड में काव्यशास्त्रीय परम्परा, मुक्तक काव्य-परम्परा आदि की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने जिस शास्त्रीय दृष्टिकोण से बिहारी का विवेचन किया है, वह अपने ढंग का है और बिहारी को इस ढाँचे में कसा हुआ देखकर शास्त्रवेत्ता रसिकों को विशेष प्रसन्नता होगी, इसमें सन्देह नहीं।

प्रथम खण्ड में मुक्तक काव्य-परम्परा का जो आकलन किया गया है वह अपने आप में पूर्ण होते हुए भी आंशिक रूप में बिहारी के अध्ययन में सहायक भी है। मुक्तक काव्य के रूप में ऋग्वेद का श्रम-साध्य अध्ययन रोचक और नया है, पर पूर्ण प्रबन्ध में इसका विस्तृत अध्ययन अपेक्षित नहीं था। द्वितीय अध्याय में रसात्मक मुक्तक और तृतीय में रसेतर मुक्तकों का विवरण दिया गया है। यद्यपि लेखक ने प्रत्येक चरण की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक स्थितियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है, फिर भी दो चरणों की समाज-सापेक्ष विशेषताओं तथा उनके अन्तर को वह स्पष्ट नहीं कर सका है।

बिहारी का विशेष अध्ययन द्वितीय खण्ड में हुआ है। प्रारम्भ में बिहारी की समसामयिक परिस्थितियों का इतिहास-सम्मत विवरण दिया गया है जो बिहारी के

लेखक : डॉ० रामसागर त्रिपाठी
प्रकाशक : अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य : १६ रुपये

अध्ययन से अनिवार्य रूप में नहीं जुड़ पाया है। वस्तुतः लेखक की शास्त्रीय दृष्टि जितनी पैनी है, सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि उतनी नहीं। इसलिए ऐसे प्रसंगों में उसे मोटी बातों के उल्लेख से ही संतोष करना पड़ा है। बिहारी-सतसई के दोहों में समसामयिक परिस्थितियों को ढूँढने में उसके निष्कर्ष उपर्युक्त तथ्य को पुष्ट करते हैं। 'सतसई' के एक दोहे में पाणिग्रहण-संस्कार का रूपक देखकर लेखक ने उसे समसामयिक रीति-रिवाज का प्रकाशक मान लिया है। 'स्वेद-सलिलु···हाथ' के सम्बन्ध में उसका कहना है कि 'इसमें पाणिग्रहण-संस्कार का वर्णन किया गया है।' गोया यह उस समय की कोई विशेष रस्म थी जिसमें कुश और जल का व्यवहार होता था। वस्तुतः रूपक के माध्यम से नायक-नायिका के मानसिक धरातल पर घटित होने वाले मानसिक आत्मसमर्पण का इसमें सूक्ष्म अंकन किया गया है, न कि पाणिग्रहण-संस्कार का वर्णन। इसी तरह ग्रामीणों के सम्बन्ध में भी उसका कहना है—'ग्रामीण लोग अपनी स्थिति से संतुष्ट थे। आजकल-जैसी साम्यवाद की भावना ने ग्रामीण जनता में घर नहीं कर पाया था और न उनमें प्रतिक्रिया की भावना उत्पन्न हुई थी। इतना अवश्य था कि जिस प्रकार नागरिक उच्च घरानों के व्यक्तियों के हृदयों में ग्रामीणों के प्रति घृणा की भावना घर कर गई थी, उसी प्रकार ग्रामीण लोग भी आपस में नागरिकों की हँसी उड़ाया करते थे।' इसकी पुष्टि में यह दोहा उद्धृत किया गया है—

> **सबे हँसत करतार दै नागरकता के नाँव।**
> **गयौ गरब गुनकौ सबु, गए गवारै गाँव।।**

कहना न होगा कि इसके आधार पर उपर्युक्त निष्कर्ष स्थूल है। इसमें भी बिहारी की नागरक दृष्टि गाँव की हँसी उड़ा रही है। 'गंवारै' शब्द बिहारी के सामंतीय दृष्टिकोण का सूचक है जो हँसी उड़ाने वालों की मूर्खता पर स्वयं व्यंग्य है।

'काव्य-शास्त्रीय परम्परा और बिहारी' में कतिपय दोहों के आधार पर लेखक ने उन्हें ध्वनिसंप्रदायवादी कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता है। पर इस प्रकार का कथन कि 'इनकी रचना देखने से यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि बिहारी ने भी पंडितराज का पदानुसरण कर अपने दोहों की रचना उदाहरण के मन्तव्य से ही की थी' भ्रामक है। इसके लिए प्रामाणिक रूप से, इतने बलपूर्वक, कुछ नहीं कहा जा सकता। शोध-ग्रन्थों में तो इस प्रकार के कथन को और भी बचाना चाहिए। इस प्रकार के मन्तव्यों का प्रक्षेपण बिहारी पर पहली बार नहीं हुआ है। कभी उनमें नायक-नायिका भेद ढूंढा गया, तो कभी अलंकार। ऋग्वेद में ध्वनि के उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं पर उसे कोई इस दृष्टि से लिखा गया नहीं मान सकता। रसात्मक मुक्तकों की चर्चा करते समय लेखक स्वयं कहता है—'यद्यपि ये कविताएँ लक्षण-ग्रन्थों के उदाहरण संकलित करने के लिए नहीं लिखी

जाती थीं तथापि इनमें लक्षण-ग्रन्थों के उदाहरण प्रस्तुत करने की पर्याप्त क्षमता थी।' (पृष्ठ ७१) हाल की 'गाथासप्तशती' के सम्बन्ध में भी लेखक का यही मत है। 'अमरुकशतक' के सम्बन्ध में उसका कहना है—'कुछ लोगों ने इसके आधार पर नायिका-भेद का निरूपण करने की चेष्टा की तथा दूसरे लोगों ने इस ग्रन्थ को अलंकारों के उदाहरण के रूप में लिखा हुआ सिद्ध करने का प्रयत्न किया। किन्तु यह ग्रन्थ इन दोनों उद्देश्यों से लिखा गया नहीं जान पड़ता। इस ग्रन्थ का एक मात्र मन्तव्य शृंगार रस के मुक्तकों की रचना करना ही था…' (पृष्ठ ७६) गोवर्धन की 'आर्यासप्तशती' का उद्देश्य भी इससे भिन्न नहीं था। तब इस परम्परा में पड़ने वाले बिहारी को लक्षण-ग्रन्थों का अनुकर्त्ता क्यों मान लिया जाता है? इन दृष्टियों से बिहारी का अध्ययन बिहारी की अपेक्षा अध्ययनकर्त्ता का अपनी रीतिबद्धता का अधिक द्योतक है।

जो हो, जहाँ तक ध्वनिपरक अध्ययन का सम्बन्ध है, लेखक ने अपने विशद शास्त्रीय ज्ञान का पूरा उपयोग किया है। अविवक्षित-वाच्य, विवक्षितान्यपर-वाच्य आदि के भेद-प्रभेदों का विवेचन करते हुए बिहारी-सतसई से अनेकानेक उदाहरणों को उद्धृत कर लेखक ने अपनी पैनी पकड़ का परिचय दिया है। ध्वनि-सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या करते समय वह यथास्थान अन्य शास्त्रों से अपने वक्तव्य की पुष्टि करता चलता है जो शास्त्र-सम्बन्धी उसके व्यापक ज्ञान का परिचायक है।

द्वितीय खण्ड के तृतीय अध्याय में असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य अथवा रस-ध्वनि की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन प्रस्तुत करते समय 'रसास्वादन-प्रक्रिया' का विवाद्य प्रश्न उठाया गया है। लेकिन इस प्रश्न के उठाने में शब्दों के प्रयोग में पर्याप्त सावधानी नहीं बरती गई है और न उसे आज की बदली हुई परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही देखा गया है। भट्ट तौत का उल्लेख करते हुए वह कहता है कि 'ठीक रूप में रस-निष्पत्ति तभी हो सकती है जबकि जिस भावना का अनुभव नायक ने किया है, उसी प्रकार की भावना का अनुभव कवि करे, और उसी प्रकार की भावना का आस्वादन सहृदय को भी करा सके।' इस कथन की नई व्याख्या अपेक्षित थी, क्योंकि स्रष्टा कवि प्रख्यात वृत्तों की पुनःसर्जना करता है। वह ठीक-ठीक वैसा ही अनुभव कैसे कर सकता है जैसा अनुभव नायक ने किया है। मिहिरकुल की बर्बरता की चर्चा करते हुए लेखक लोक-भावना के प्रतिनिधि रूप में जिस तटस्थ व्यक्ति का उल्लेख करता है उसी के साथ सामाजिक के तादात्म्य को औचित्यपूर्ण मानता है। माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद-वध' को ही लीजिए। इसमें मेघनाद के शौर्य और उच्च आदर्शों को देखते हुए तटस्थ व्यक्ति यदि दकियानूसी लोक-वृत्ति का पोषक है तो नए विचारों का सहृदय उसके साथ तादात्म्य कैसे कर सकता है? इस तटस्थ व्यक्ति को कवि में अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। सृजन की प्रक्रिया में स्वयं कवि का

निर्वैयक्तीकरण हो जाता है। यदि उसके समस्त काव्य-व्यापार का साधारणीकरण मान लिया जाए तो देव-विषयक रति आदि का भी समाधान हो जाता है; क्योंकि देवताओं के प्रति उसकी धारणा लोक से भिन्न नहीं होगी। संक्षेप में यदि कवि अपनी नवीन भावनाओं का भावन उसी रूप में सहृदय को करा सके तो उसी में उसके काव्य की सफलता है।

नायिका-भेद की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन और बात है तथा अनिवार्य रूप से बिहारी में विशेष प्रकार की नायिका को ढूंढ निकालना और बात। बिहारी के आलोचक इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। एक ही दोहे में एक आलोचक को एक नायिका दिखाई पड़ती है तो दूसरे को दूसरी। 'दुरत न कुच बिच···' में इस पुस्तक का लेखक मुग्धा के दर्शन करता है तो डा० हरिवंशलाल जी मध्या के। स्वयं लाला जी और रत्नाकर जी में अनेक स्थानों पर मत-वैभिन्न्य मिलेगा। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि बिहारी ने इस दृष्टि से सतसई नहीं लिखी थी।

रस-ध्वनि और अलंकारों की विवेचना में नवीनता तो नहीं मिलेगी पर लेखक ने मनोयोगपूर्वक उदाहरणों को जुटाया ज़रूर है। मुक्तक काव्य की परम्परा की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन करते समय आर्थिक सूक्ति का नामकरण विचित्र मालूम पड़ता है। एक अर्थगत तथ्योक्ति का उदाहरण देखिए :—

बढ़त-बढ़त सम्पत्ति सलिलु, मन-सरोजु बढ़ि जाइ।
घटत-घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ॥

इस पर लेखक की टिप्पणी द्रष्टव्य है—'अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० ऐंजिल का सिद्धान्त है कि जब आय में वृद्धि होती है तब आवश्यक वस्तुओं पर व्यय में प्रतिशत घट जाता है और विलासिता पर व्यय बढ़ जाता है। ऐंजिल यहीं पर रुक गए, पर बिहारी एक कदम और आगे बढ़ गए' लेखक महोदय बिहारी से कई कदम आगे बढ़कर कहते हैं—'निस्संदेह बिहारी के इस दोहे का उत्तरार्द्ध डॉ० ऐंजिल के सिद्धान्त का विकास है जिस पर अर्थशास्त्रियों को अनुसंधान करना चाहिए।' पता नहीं, कोई अर्थशास्त्री इस पर अनुसंधान कर रहा है अथवा नहीं। इस प्रकार की अर्थशास्त्रीय टिप्पणियों पर टिप्पणी व्यर्थ है। कामपरक सूक्तियों का अलग वर्ग है। इसके उदाहरण में 'वह चितवन औरै कछू···' को पेश किया गया है पर पता नहीं, ध्वनिवादी लेखक को 'औरै' की 'ध्वनि' क्यों नहीं सुनाई पड़ी। अन्त में बिहारी की भाषा, निपुणता आदि को समेटकर अध्ययन को सर्वांगपूर्ण बनाने की चेष्टा की गई है।

संक्षेप में, इस शोध-ग्रन्थ में मुख्यत: शास्त्रीय दृष्टि से बिहारी का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें ध्वनि-सम्बन्धी अध्ययन विशेष रूप से द्रष्टव्य है जो लेखक का अपना है। इससे शोधात्मक औचित्य का तो पूरा निर्वाह हो जाता है पर कृति का अन्तरंग उद्घाटित नहीं हो पाता। कवि को एक विशेष ढाँचे में ढालने पर ऐसा होना स्वाभाविक ही है। आधुनिक ऐतिहासिक चेतना के अभाव में लेखक सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों में बिहारी के कर्त्तव्य का उचित मूल्यांकन नहीं कर पाया है। कदाचित् लेखक का यह अभिप्रेत भी नहीं रहा है। लेखक के मुख्य दृष्टिकोण से—शास्त्रीय दृष्टि से—विचार करने पर, आलोच्य कृति की उपादेयता निर्विवाद है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

मतिराम : कवि और आचार्य

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त

सामान्यतः यह समझा जाता है कि अनुसंधान की पद्धति में वैज्ञानिकता होने के कारण उसके रूप एवं प्रयोग में सर्वत्र साम्य रहता है। इस धारणा का सर्वाधिक प्रचार उन व्यक्तियों में पाया जाता है जो 'वैज्ञानिकता' की बारम्बार दुहाई देते हुए भी अनुसंधान के वास्तविक लक्ष्य से अपरिचित हैं। निःसंदेह अनुसंधान की पद्धति वैज्ञानिक होती है, किन्तु यह वैज्ञानिकता भी विषय-सापेक्ष्य है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में हम जिस पद्धति का प्रयोग करते हैं उसी पद्धति का प्रयोग मनोविज्ञान में नहीं किया जा सकता; भाषाविज्ञान में जिस पद्धति का प्रयोग करते हैं वही साहित्यानुसंधान में नहीं अपनाई जा सकती। यही कारण है कि पाश्चात्य अनुसंधान के क्षेत्र में "पद्धति-शास्त्र" (Methodology) नाम से एक अलग शास्त्र का विकास हो रहा है जिसके अनुसार प्रत्येक विषय के अनुरूप विभिन्न अनुसंधान-पद्धतियाँ स्थिर की जाती हैं। इसके विपरीत हिन्दी में अभी तक अनेक विद्वान् साहित्यानुसंधान के क्षेत्र में भी भाषावैज्ञानिक शोध-पद्धति का प्रयोग करना उचित समझते हैं। वे साहित्य के सूक्ष्म तत्त्वों के स्थान पर उसके स्थूल तथ्यों की उपलब्धि में ही अनुसंधान की इतिश्री मान लेते हैं। वस्तुतः हिन्दी में अनेक शोध-प्रबन्ध इसी तथ्य-परक पद्धति के आधार पर लिखे गये हैं, जिनकी सामान्यतः ये विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं—(१) काव्यगत घटनाओं, पात्रों एवं विचारों से सम्बन्धित स्थूल तथ्यों का क्रम-बद्ध रूप में संकलन। (२) प्रत्येक विचार को व्यक्त करने के लिए किसी न किसी पूर्व-लेखक का उद्धरण आवश्यक रूप में। (३) शुष्क एवं प्रवाहहीन शैली। निश्चित रूप से ही यह पद्धति तथ्यों को दोष-शून्य रूप में प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होती है, किन्तु साथ ही मौलिकता की दृष्टि से गुण-शून्य भी रहती है। जहाँ प्रत्येक विचार के लिए पूर्व-लेखक का उद्धरण अपेक्षित होता है, वहाँ मौलिक उद्भावनाओं के लिए अवकाश कहाँ। संभवतः इसी प्रकार के प्रबन्धों को ध्यान में रखते हुए आचार्य हजारीप्रसाद जी ने एक बार अपने एक लेख में लिखा था—"शोध-कार्य केवल तथ्यों का निर्जीव पुलिन्दा नहीं होना चाहिए, उसमें रचनात्मक

लेखक : डॉ० महेन्द्रकुमार
प्रकाशन : भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली
मूल्य : १० रुपये

प्रतिभा का स्पर्श होना बहुत आवश्यक है।" कहना न होगा कि हिन्दी साहित्य में उक्त भाषावैज्ञानिक तथ्य-परक शोध-पद्धति की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप 'रचनात्मक प्रतिभा के स्पर्श' को काफी समय तक गुण के स्थान पर दोष ही समझा जाता रहा।

उपर्युक्त तथ्य-परक शोध-पद्धति के प्रचलन के परिणामस्वरूप ही हिन्दी साहित्य का रीतिकाल भी—जो तथ्य संकलन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं था—अनुसंधान की दृष्टि से दीर्घकाल तक उपेक्षित रहा। जहाँ सन् १९४५ तक विभिन्न विषयों पर हिन्दी में ३२ शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हो चुके थे—अकेले तुलसीदास पर चार प्रबन्ध प्रस्तुत हो चुके थे, वहाँ रीतिकाल पर एक भी शोध-प्रबन्ध का प्रस्तुत न होना आश्चर्यजनक है। इसका कारण शृंगारिकता के प्रति अरुचि होना भी नहीं है, अन्यथा आलोचना के क्षेत्र में देव-बिहारी आदि पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित न होतीं। किन्तु १९४५ के अनन्तर हिन्दी-अनुसंधान के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात होता है जबकि एक ओर विषय की दृष्टि से रीतिकाल को अपनाया गया तो दूसरी ओर तथ्य-परक के स्थान पर तत्त्व-परक शोध-पद्धति का प्रयोग किया गया। 'रीतिकाल की भूमिका और महाकवि देव' इस पद्धति का हिन्दी में प्रथम प्रबन्ध था जिसमें इतिवृत्त की स्थूल घटनाओं एवं पात्रों की नामावली के स्थान पर काव्य के सूक्ष्म तत्त्वों एवं परम्परागत मूल्यों को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया। आगे चलकर अनेक शोध-कर्त्ताओं ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इस ग्रन्थ से प्रेरणा एवं प्रभाव ग्रहण करते हुए तत्त्व-परक पद्धति का प्रयोग किया—विशेषत: रीतिकाल-सम्बन्धी विषयों पर शोध-कर्त्ताओं ने इसी पद्धति का अनुगमन किया। इस पद्धति की सामान्य विशेषताएँ ये बताई जा सकती हैं—(१) विषय से सम्बन्धित युग एवं पूर्व-परम्पराओं का यथेष्ट अध्ययन, (२) परम्परागत भारतीय मान-दण्डों के आधार पर विषय-वस्तु का विश्लेषण, (३) उपलब्ध तथ्यों के आधार पर मौलिक स्थापनाओं का प्राचुर्य, (४) साहित्यिक शैली का प्रयोग।

आलोच्य प्रबन्ध—"मतिराम : कवि और आचार्य" भी हिन्दी की इसी तत्त्व-परक शोध-ग्रन्थों की परम्परा में आता है। इसका निर्देशन भी उसी विद्वान् के द्वारा हुआ है जिसे इस परम्परा को हिन्दी में प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त है। अत: इसमें तत्त्व-परक शोध-पद्धति का प्रयोग होना स्वाभाविक ही है।

(२)

प्रस्तुत प्रबन्ध को मुख्यत: तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) कवि के जीवन-चरित, व्यक्तित्व आदि का अध्ययन। (२) उसके काव्य का विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचन एवं विश्लेषण। (३) कवि के कृतित्व का समग्र रूप में

मूल्यांकन । प्रथम भाग में प्रारम्भिक दो अध्यायों का समावेश किया जा सकता है। प्रथम अध्याय में अनुसंधित्सु ने तॉसी से लेकर अपने कार्यारम्भ तक की मतिराम-सम्बन्धी समस्त उपलब्ध सामग्री की छान-बीन की है, जिससे एक ओर मतिराम-सम्बन्धी प्रामाणिक शोध की आवश्यकता का बोध होता है तो दूसरी ओर लेखक की श्रमशीलता का पता चलता है । दूसरे अध्याय में मतिराम के जीवन एवं व्यक्तित्व सम्बन्धी तथ्यों का अनुसंधान किया गया है। सूर, तुलसी, बिहारी आदि कवियों की भाँति मतिराम के जीवन-चरित के सम्बन्ध में भी अनेक परस्पर-विरोधी धारणाएँ प्रचलित हैं। पर इन कवियों का सौभाग्य यह है कि उनकी संख्या प्रायः निश्चित है । किन्तु मतिराम के सम्बन्ध में तो अन्वेषक महोदय को सबसे पूर्व इसी समस्या का समाधान खोजना पड़ा कि मतिराम नाम के कवि हिन्दी में एक हैं, दो हैं, या तीन ! मिश्रबन्धु जहाँ 'फूल-मंजरी' 'रसराज' और 'वृत्त-कौमुदी' के रचयिताओं को परस्पर भिन्न मानते हुए मतिराम नामक तीन कवियों की धारणा को जन्म देते हैं, वहाँ श्री भागीरथ दीक्षित और कृष्णबिहारी मिश्र 'फूल-मंजरी' और 'वृत्त-कौमुदी' के रचयिताओं को मतिराम नामधारी दो भिन्न कवियों की रचनाएँ मानते हैं—फिर भी ये दोनों विद्वान् एकमत नहीं हैं; एक यदि 'फूलमंजरी' के रचयिता को प्रसिद्ध मतिराम मानते हैं तो दूसरे, दूसरे मतिराम को प्रसिद्ध मतिराम मानते हैं।

इसी प्रकार मतिराम के कुल, गोत्र, जीवन-काल, कृतित्व आदि के सम्बन्ध में भी अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। जैसे, कुछ लोग त्रिपाठी होने के कारण ही मतिराम को भूषण और चिन्तामणि का सहोदर मानते हैं, जबकि इनके पिता का नाम इस तथ्य के अनुकूल पड़ता है । कहना न होगा कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के रचयिता ने अपनी पैनी दृष्टि, व्यापक अध्ययनशीलता एवं शुद्ध निर्णय-शक्ति का परिचय देते हुए इन भ्रान्तियों का निराकरण ठोस प्रमाणों के आधार पर किया है, और साथ ही मतिराम के जीवन के विषय में अनेक अज्ञात तथ्यों का उद्‌घाटन भी किया है। इस सम्बन्ध में लेखक ने जिस श्रमशीलता का परिचय दिया है वह उसकी सच्ची शोध-लालसा को सूचित करता है।

निःसंदेह मतिराम के जीवन-वृत्त की खोज में लेखक ने अच्छी सफलता प्राप्त की है ; किन्तु कवि के व्यक्तित्व पर डाला गया प्रकाश उसकी तुलना में पर्याप्त नहीं है। एक तो व्यक्तित्व के अन्तर्गत सर्वप्रथम वेश-भूषा को लेना—एक अत्यन्त स्थूल दृष्टिकोण का परिचायक है । दूसरे कवि की प्रतिभा का विश्लेषण अत्यन्त चलताऊ ढंग से एक वाक्य में किया गया है—"मतिराम में इस गुण के अतिरिक्त प्रतिभा भी थी, यह निश्चित है तभी तो ये अपने ८० वर्ष के दीर्घ रचना-काल में लगभग एक दर्जन आश्रयदाताओं के यहाँ समादृत हो सके ।" (पृष्ठ ३७) निस्संदेह मतिराम प्रतिभाशाली रहे होंगे; किन्तु क्या आश्रयदाताओं के यहाँ सम्मानित होना ही

उसका एकमात्र प्रमाण है ? फिर '८० वर्ष का दीर्घ रचना-काल' और 'एक दर्जन' की संख्या भी क्या इस तथ्य के विरोध में नहीं पड़ती ? रचनाकाल जितना दीर्घ होगा, उतने ही अधिक आश्रयदाता मिलेंगे—अतः इसमें प्रतिभा का क्या योग है ? वस्तुतः कवि के व्यक्तित्व का सम्यक् रूप में उद्घाटन करने के लिए उस युग की चेतना, उसकी नैतिक आस्थाओं, काव्य-प्रेरणा के स्रोतों तथा काव्य-प्रवृत्ति के प्रयोजन तथा उसके साहित्यिक आदर्शों आदि पर भी विचार अपेक्षित था, जिससे कि कवि की अन्तरात्मा का साक्षात्कार संभव था। इससे कवि और उसके काव्य की मूलभूत प्रवृत्तियों को समझने में बहुत सहायता मिल सकती थी।

प्रबन्ध के तृतीय से दशम अध्याय तक कवि की प्रामाणिक रचनाओं का निर्णय करने के अनन्तर विभिन्न दृष्टिकोणों से उसके काव्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम मतिराम के कवि-रूप को पाँच शीर्षकों में विभक्त किया गया है—(१) शृंगार, (२) राज-प्रशस्ति, (३) धर्म और नीति, (४) प्रकृति और (५) राज-वैभव। यह विषय-विभाजन किस आधार पर किया है, यह प्रबन्ध से स्पष्ट नहीं हो पाता। 'शृंगार' शब्द रस-सिद्धान्त को सूचित करता है, किन्तु आगे के शीर्षक इसका समर्थन नहीं करते; क्योंकि उस स्थिति में 'धर्म-नीति' को शान्त-रस के अन्तर्गत स्थान दिया जाता। 'राज-प्रशस्ति' और 'राज-वैभव' भी एक जैसे विषय ही प्रतीत होते हैं, किन्तु लेखक का दृष्टिकोण यह है कि जहाँ राज-प्रशस्ति में राजाओं की वीरता का आख्यान होने के कारण वह वीर-रस की पोषक है, वहाँ 'राज-वैभव' का स्थूल निरूपण किसी रस-विशेष से सम्बद्ध नहीं है, इसी से इन दोनों को पृथक्-पृथक् रक्खा गया है। यहाँ रस-सिद्धान्त के अनुगामी विद्वानों के सामने एक मौलिक प्रश्न उपस्थित होता है—वह यह कि यदि कोई कवि प्रकृति और वैभव का वर्णन आलम्बन रूप में—विशुद्ध सौन्दर्य की प्रेरणा से करता है तो उसे किस रस में स्थान देंगे ? यदि लेखक महोदय चाहते तो संभवतः इसका समाधान कर सकते थे, किन्तु इसका मूल विषय से सीधा सम्बन्ध न होने के कारण वे इस प्रश्न में नहीं उलझे, जिसके लिए उन्हें कोई दोष नहीं दिया जा सकता।

मतिराम के शृंगार एवं वीर रस-सम्बन्धी काव्य का विश्लेषण शास्त्रीय आधार पर अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक किया गया है। वस्तुतः वीर रस के सैद्धान्तिक विवेचन में तो अनेक स्थानों पर अनुसंधित्सु ने परम्परागत मान्यताओं में आवश्यक संशोधन भी प्रस्तुत किया है; यथा—वीर रस का आलम्बन शत्रु या प्रतिनायक को मानने के स्थान पर 'महत्कार्य' को सिद्ध किया गया है जो सर्वथा तर्कसंगत प्रतीत होता है। हाँ, शृंगार-रस निरूपण के सम्बन्ध में प्रस्तुत निष्कर्ष कहीं-कहीं विश्वसनीय प्रतीत नहीं होते। जैसे, प्रबन्ध लेखक का एक निष्कर्ष है—"कवि ने प्रेम को अपने सच्चे, गंभीर और मर्यादापूर्ण अर्थ में ग्रहण किया है।" साथ में ही निम्नांकित उक्तियों के

आधार पर मतिराम को परकीया-प्रेम का विरोधी सिद्ध किया गया है—

१. "कोऊ कितेक उपाय करो, कहुँ होत है आपुने पीड पराये !"

२. क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै, मोहन को तन पानिप पीजै
नेकु निहारे कलंक लगै, इहि गाँव बसै कहो कैसे कै जीजै ।।

निःसंदेह इन उक्तियों में परकीया के प्रेम की असफलता एवं कठिनाइयों की व्यंजना की गई है, किन्तु क्या कवि ने ऐसा इसलिए किया है कि उसकी परकीयाओं के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है ? सही बात तो यह है कि पहली उक्ति में जहाँ नायक की वंचकता पर व्यंग्य किया गया है वहाँ दूसरी उक्ति में 'कलंक लगाने वाले गाँव वालों की निष्ठुरता' की व्यंजना हुई है । इससे स्पष्ट है कि कवि ने परकीयाओं को सहानुभूति की दृष्टि से देखा है । यदि वह विशुद्ध मर्यादावादी होता तो ऐसा नहीं कर पाता । अतः अनुसंधित्सु महोदय के उपर्युक्त निष्कर्ष को स्वीकार करना कठिन है ।

मतिराम-काव्य के अन्य पक्षों—विचार-धारा, कला-पक्ष, भाषा-शैली आदि की विवेचना अत्यन्त विस्तार से की गई है । मतिराम की विचार-धारा का विश्लेषण शुद्धाद्वैत-दर्शन के प्रकाश में सम्यक् रूप में हुआ है । मतिराम के उपास्य एवं उनकी नैतिक दृष्टि पर भी प्रकाश डाला गया है । रीतिकालीन कवियों में शृंगारिकता के साथ-साथ धार्मिकता की प्रवृत्ति भी मिलती है, जिसे युग-प्रवृत्ति ही माना जा सकता है, किन्तु लेखक महोदय ने उसे व्यक्तिगत प्रवृत्ति के रूप में ग्रहण करते हुए उसका मूल उत्स ढूँढने का प्रयत्न किया है । कला-पक्ष के विवेचन में अलंकार, रीति, भाषा छंद आदि सभी प्रमुख दृष्टिकोणों से यथेष्ट रूप में विचार किया गया है । पृष्ठ २४६ पर 'सवैया' छन्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए लेखक ने अपने ही निर्देशक के मत का विरोध किया है—जो स्पष्टतः अनुसंधित्सु एवं निर्देशक—दोनों की ही सत्य-प्रियता का परिचायक है ।

मतिराम के आचार्यत्व के सम्बन्ध में लेखक ने विशुद्ध तटस्थता एवं निष्पक्ष दृष्टि का परिचय देते हुए स्वीकार किया है कि मतिराम में न तो मौलिकता ही मिलती है और न ही व्याख्या का प्रयास ; उनका महत्त्व पंडित या शिक्षक के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है । इस निष्कर्ष को स्वीकार करने में कदाचित् किसी भी पाठक को आपत्ति नहीं होगी ।

(३)

अन्तिम अध्याय में कवि का समग्र रूप से मूल्यांकन किया गया है जो दो दृष्टिकोणों पर आधारित है । एक परवर्ती कवियों को प्रभावित करने की दृष्टि से

और दूसरा हिन्दी-कवियों मे सापेक्ष महत्त्व की दृष्टि से । पहले दृष्टिकोण से विचार करने पर तो अनुसंधित्सु को निराश ही हो जाना पड़ा, अतः उसने इसका सारा दोष उस युग की चमत्कारवादिता पर मढ़ते हुए लिखा है—"परवर्ती साहित्य पर मतिराम का विशेष प्रभाव नहीं रहा—बात वास्तव में यह है कि बिहारी चमत्कारवादी थे; और चूँकि उक्ति-चमत्कार से ही कवि को काव्य-रसिक समुदाय में वाह-वाही मिलती है।" यहाँ मतिराम के बचाव में एक ग़लत सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। रसिक को चमत्कार से नहीं, रस से ही तृप्ति मिलती है।

हिन्दी-साहित्य में मतिराम का स्थान निश्चित करते समय भी अनुसंधित्सु महोदय किंचित् दुविधा में पड़ गये हैं। वे लिखते हैं—"भावावेग एवं कल्पना-वैभव में यद्यपि वे (मतिराम) देव, घनानन्द और बिहारी जैसे कवियों से घटकर हैं, किन्तु परिष्कृत रुचि और उस पर आश्रित भाव और कल्पना के सामंजस्य का धनी होने के नाते यह व्यक्ति अपने क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ है।" यह निर्णय स्पष्ट होने के साथ-साथ असंगत भी प्रतीत होता है। एक ओर बिहारी को चमत्कारवादी माना गया है तो दूसरी ओर भावावेग में भी उन्हें मतिराम से बढ़ कर माना गया है। फिर जिन दो क्षेत्रों का—एक "भावावेग एवं कल्पना-वैभव" का, दूसरा "भाव और कल्पना के सामंजस्य का"—यहाँ निर्धारण किया गया है, वे भी वस्तुतः एक ही हैं। और फिर "अपने क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ" वाली बात तो प्रत्येक कवि पर लागू हो सकती है, अतः उसका क्या महत्त्व है ?

वस्तुतः अनुसंधित्सु ने विषय-वस्तु के विवेचन एवं विश्लेषण में जिस तटस्थता, पैनी दृष्टि एवं तर्क-बुद्धि का परिचय दिया था, उसका निर्वाह वे इस अंतिम अध्याय में नहीं कर पाये। आखिर, वे यहाँ मतिराम को ऊँचा उठाने के चक्कर में जाने या अनजाने पड़ ही गये।

अस्तु, यह शोध-प्रबन्ध सर्वथा दोष-शून्य न होते हुए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सर्वथा निर्दोष तो कोई वस्तु हो ही नहीं सकती; फिर इसके गुणों की तुलना में इसके दोष नगण्य ही हैं। यदि समग्र रूप में विचार करें तो इसमें मतिराम के जीवन एवं कृतित्व का जैसा सूक्ष्म, विस्तृत एवं तर्क-संगत विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है वह अनुसंधित्सु की सच्ची शोध-लालसा, अथक श्रम-शीलता, प्रखर प्रतिभा एवं दृढ़ भाषाधिकार का परिचायक है। इसमें काव्य के भाव-पक्ष, विचार-पक्ष एवं कला-पक्ष को जिस व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है; वह लेखक एवं निर्देशक दोनों की व्यापक दृष्टि का प्रमाण है। साथ ही प्रकाशक ने इसे शुद्ध एवं स्वच्छ रूप में प्रस्तुत करके इसकी वैभवश्री में और अधिक अभिवृद्धि कर दी है। अतः निश्चित रूप से ही हिन्दी-अनुसंधान की एक गौरव-पूर्ण उपलब्धि के रूप में इसका स्वागत किया जा सकता है।

महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी-कविता में अलंकरण-प्रवृत्ति

डॉ० सत्यदेव चौधरी

हिन्दी शोध-ग्रन्थों में 'रीतिकाल की भूमिका और देव और उनकी कविता' के प्रकाशन से हिन्दी शोध-प्रक्रिया में एक नया मोड़ प्रारम्भ होता है। इस प्रबन्ध के द्वारा शोधार्थियों का ध्यान रीतिकालीन कवियों एवं आचार्यों की ओर आकृष्ट हुआ। इसी ग्रन्थ के अनुरूप इन्होंने जीवनात्मक परिचय तथा शोधपरक अध्ययन प्रस्तुत करने के अतिरिक्त तद्विषयक पृष्ठभूमि लिखने की प्रणाली को भी किसी-न-किसी रूप में अपना लिया, तथा अधिकांश ने विवेच्य कवियों के साथ अन्य कतिपय कवियों की तुलना भी प्रस्तुत की। इस सम्बन्ध में केशव, भिखारीदास, घनानन्द, पद्माकर, बिहारी, चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, प्रतापसिंह और मतिराम पर प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रबन्ध प्रमाणस्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध को भी इस शृंखला की एक कड़ी के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय (पृष्ठ १-४८) का नाम 'अलंकृत काव्य के मूल तत्त्व और परिवेश' है। इसे तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं: विभिन्न कलाओं में—काव्यकला को मिलाकर पाँचों कलाओं में—अलंकरण-प्रवृत्ति; संस्कृत के महाकाव्यों, नाटकों, कथा-आख्यायिकाओं तथा मुक्तक काव्यों में अलंकरण-प्रवृत्ति; और काव्यशास्त्रीय विभिन्न सम्प्रदायों में अलंकरण-प्रवृत्ति। अलंकरण-प्रवृत्ति से शोधकर्ता का तात्पर्य है कला-प्रियता अथवा अलंकरण-प्रियता; और उनके कथनानुसार भारत में इसका उद्गम एवं विकास क्षत्रिय-संस्कृति और दरबारी सभ्यता से हुआ।

द्वितीय अध्याय (पृष्ठ ४९-९९) का नाम 'मध्यकालीन हिन्दी-कविता में अलंकरण-प्रवृत्ति' है। मध्यकाल से लेखक का तात्पर्य है संवत् १५०० से १९००

लेखक : डॉ० त्रिभुवन सिंह
प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
मूल्य : १० रुपये, पृष्ठ संख्या : ३४२

तक। प्रथम अध्याय इस अध्याय की पृष्ठभूमि है और यह अध्याय प्रबन्ध का मूल भाग है। इसमें इधर भक्तिकालीन सूरदास से लेकर रीतिकालीन आचार्य कवि प्रतापसिंह तक लगभग ५५ कवियों की मुक्तक अथवा प्रबन्ध रचनाओं में उपलब्ध अलंकरण-प्रवृत्ति का सोदाहरण दिग्दर्शन कराया गया है।"

तृतीय अध्याय (पृष्ठ १००-१२३) में मतिराम का 'वंशपरिचय' प्रस्तुत किया गया है, जिसमें शोधकर्ता की विनम्र स्वीकृति है कि "मतिराम के सम्बन्ध में जितनी ऐतिहासिक तथा काव्यगत सूचनाएँ पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने दी हैं, मुझे उससे अधिक कोई विशिष्ट सामग्री तो नहीं मिल सकी है, किन्तु उन्हें मैंने नये ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे उसमें नवीनता आ गई है।"

चतुर्थ अध्याय (पृष्ठ १२४-१५८) में मतिराम के उपलब्ध (प्रकाशित एवं अप्रकाशित) ९ ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है—उनके कलेवर का आकार-प्रकार, उनका वर्ण्य विषय एवं रचना-काल और उनकी प्रामाणिकता। लेखक की मान्यता है कि "वृत्तकौमदी" विवेच्य कवि मतिराम की रचना न होकर किसी अन्य कवि—शायद उसका नाम भी मतिराम ही हो—की रचना है। इस अध्याय की उल्लेखनीय विशेषता है इन ग्रन्थों के रचना-काल के सम्बन्ध में लेखक की ऊहापोह, जो अधिकांशतः मान्य प्रतीत होती है।

पंचम और षष्ठ अध्याय (पृष्ठ १५९-१९८; १९९-२२५) मतिराम के आचार्यत्व से सम्बद्ध हैं। इनमें 'फूलमंजरी' और 'रसराज' के आधार पर नायिका-भेद का और 'ललितललाम' के आधार पर अलंकार का निरूपण है। मतिराम का अलंकार-विषयक अन्य ग्रन्थ 'अलंकार-पंचाशिका' लेखक को खण्डित रूप में ही उपलब्ध हुआ है।[1] दोनों अध्यायों के प्रारम्भ में संस्कृत काव्यशास्त्र के आलोक में इन दोनों काव्यांगों का पूर्ववृत्त तथा मतिराम से पूर्ववर्ती हिन्दी-आचार्यों द्वारा निरूपित इन काव्यांगों का विवरण संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके उपरान्त मतिराम द्वारा निरूपित इन काव्यांगों का अनुशीलन है जिसमें विभिन्न नायिका-भेदों और अलंकारों का अधिकांशतः अनुवाद-मात्र प्रस्तुत करना ही पर्याप्त समझा गया है, और पाद-टिप्पणी में ग्रन्थ-नाम तथा सन्दर्भ का उल्लेख नहीं किया गया। अन्त में इनसे पूर्व एवं परवर्ती कम-से-कम १५ हिन्दी-आचार्यों के साथ इस सम्बन्ध में इनकी तुलना की गई है। इस सम्बन्ध में लेखक की एक मान्यता तो यह है कि "महाकवि देव ऐसे दो-एक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्यों को छोड़कर नायिका-भेद पर लिखने वाले प्रायः सभी आचार्यों एवं कवियों ने मतिराम की नायक-नायिका

---

१. इस ग्रन्थ की पूर्ण हस्तलिखित प्रति आर्कस लायब्रेरी, पटियाला में सुरक्षित है।

भेद-वर्णन-प्रणाली का अनुसरण किया है"; और दूसरी मान्यता यह है कि "नायिका-भेद-वर्णन में मतिराम ने परवर्ती आचार्यों को जितना प्रभावित किया है, अलंकार-वर्णन में उतना नहीं कर सके हैं।"

सप्तम अध्याय (पृष्ठ २२६-२४७) का नाम 'सतसई-परम्परा और मतिराम' है। आरम्भ में मुक्तक का स्वरूप एवं संस्कृत के कुछ-एक मुक्तक-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देने के बाद मतिराम से पूर्ववर्ती कतिपय मुक्तककारों एवं सतसईकारों का परिचय दिया गया है। इसके बाद हिन्दी के मुक्तककार, एक ओर संस्कृत के मुक्तक-कारों के तथा दूसरी ओर से आपस में एक दूसरे के कहाँ तक ऋणी हैं, इस पर तुलनात्मक प्रकाश डाला गया है। लेखक की मान्यता है कि मतिराम की सतसई के अधिकतर दोहे बिहारी-सतसई से पूर्व निर्मित हो चुके थे और बिहारी ने उनसे अनेक स्थलों पर प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उक्तिवैचित्र्य और वाग्वैदग्ध्य के बल पर उसे और अधिक निखार दिया, किन्तु मर्मस्पर्शिता, स्वाभाविकता एवं सरसता की दृष्टि से मतिराम के दोहों की किसी से कोई तुलना ही नहीं है।

अष्टम अध्याय (पृष्ठ २५८-२८४) में मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में मतिराम का स्थान निर्धारित करने के लिए उनकी छन्दोयोजना, स्वाभाविक वर्णन-शैली, शृंगार-रस-सम्बद्ध प्रसंगों तथा प्रकृति-चित्रण का सामान्य अवलोकन किया गया है तथा इसके उपरान्त उनकी मौलिकता पर प्रकाश डालने के लिए पूर्ववर्ती कवियों से इनकी तुलना करके यह सिद्ध किया गया है कि इन्होंने जिन स्थलों में उनसे प्रभाव ग्रहण किया है उन्हें इन्होंने अपनी मौलिकता के बल पर अधिक चमत्कृत कर दिया गया है। अन्त में 'उपसंहार' में मतिराम के सम्बन्ध में लेखक का मन्तव्य है कि इनमें मध्यकालीन हिन्दी-कविताओं की समस्त प्रवृत्तियों का समन्वित रूप उपलब्ध होता है जिसे उन्होंने विशिष्ट रूप दे दिया है।

उपर्युक्त सामान्य अवलोकन से स्पष्ट है कि लेखक शोध-प्रक्रिया के प्रति आवश्यकता से अधिक सतर्क एवं श्रमशील है। परिणामतः अनुपात का निर्वाह नहीं हो सका। प्रबन्ध का जितना कलेवर पृष्ठभूमियों को तथा मतिराम से पूर्व एवं परवर्ती कवियों की समीक्षा तथा उनसे तुलनात्मक अध्ययन को समर्पित हुआ है, उतना न तो मतिराम को हुआ है और न मध्यकालीन हिन्दी-कवियों को। 'वंश-परिचय' और 'मतिराम के ग्रन्थ' नामक अध्याय अवश्य इसके अपवाद हैं। प्रथम अध्याय में पृष्ठभूमि-रूप में संस्कृत के मुक्तक काव्य के अतिरिक्त महाकाव्यों, नाटकों और कथा-आख्यायिकाओं में भी उपलब्ध अलंकरण-प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि विवेच्य कवि मतिराम न तो महाकाव्यकार एवं नाटककार हैं और न कथा-आख्यायिकाकार। इसी प्रकार दूसरे अध्याय में केवल ५०

पृष्ठों में मध्यकालीन ५५ हिन्दी-कवियों की अलंकरण-प्रवृत्ति का सोदाहरण निदर्शन कर देने से किसी के प्रति समुचित न्याय नहीं हो सका।

प्रबन्ध के शीर्षक में 'मध्यकालीन हिन्दी-कविता' को यदि इसलिए स्थान देना अभीष्ट है कि इसके आलोक में मतिराम की विशिष्टता स्पष्टतः उभर और निखर आये तो शीर्षक इस प्रकार होता : "मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण-प्रवृत्ति : विशेषतः मतिराम के सन्दर्भ में।" और यदि इस प्रबन्ध का ही एक भाग बनाना अभीष्ट है तो इसे केवल एक अध्याय में चलता-सा रूप देने मात्र से पर्याप्त स्थान नहीं मिला। और आश्चर्य तो यह है कि लेखक ने मध्यकाल से तात्पर्य संवत् १५००-१६०० (सूरदास से प्रतापसिंह तक) लेते हुए दूसरे अध्याय में तो इस मान्यता का निर्वहण किया है किन्तु आठवें अध्याय में उन्होने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में मतिराम का स्थान निर्धारित करते समय मध्यकाल से तात्पर्य 'रीतिकाल' लेते हुए इस काल के कवियों को रीतिबद्ध और रीतिमुक्त रूप में विभक्त किया है।

अपनी धारणाओं की पुष्टि के लिए पूर्ववर्ती लेखकों के मन्तव्य प्रस्तुत करना निस्सन्देह समुचित है; किन्तु प्रस्तुत लेखक ने वर्ण्य-सामग्री की निर्वहण-पूर्ति के लिए अन्य लेखकों और वह भी इसी ही युग के लेखकों के—उदाहरणार्थ सर्वश्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मिश्रबन्धु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बलदेवप्रसाद उपाध्याय, नगेन्द्र, भगीरथ मिश्र आदि के—मन्तव्य तथा उद्धरण न केवल पृष्ठभूमियों में, अपितु लगभग पूरे प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर जड़ दिये हैं। इससे एक तो लेखक की निजी धारणाओं से सम्यक् परिचिति प्राप्त नहीं होती, और दूसरे ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें या तो आत्मविश्वास का अभाव है या वह श्रम से पलायन कर रहा है। यहाँ तक कि विवेच्य कवि मतिराम की भाषा के कतिपय दोषों के निदर्शन में और इसी सम्बन्ध में उनके मूल्यांकन में भी लेखक ने श्री कृष्णबिहारी मिश्र के उद्धरण दे दिए हैं (देखिए पृष्ठ २७२-२७३)।

प्रस्तुत प्रबन्ध में खटकने वाले कतिपय ऐसे प्रसंग भी हैं जो या तो अशास्त्रीय हैं या भ्रान्त एवं अस्पष्ट हैं। कुछ उदाहरण लीजिए :

क. आचार्य रुद्रट ने अलंकार-सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती आचार्यों के मत से अपनी पूर्ण सहमति प्रदान कर दी है : 'तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राचां मतम्। (रुय्यक-प्रणीत अलंकार-सर्वस्व पृ० ७) पृ० ४४।

ख. मम्मट तो रस-भाव में भी अलंकार की स्थिति स्वीकार करते हैं : "उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण......।" पृ० ४६।

ग. भरत मुनि ने जो दश गुणों को प्रतिपादित किया था, उसमें उन्होंने (भामह ने) ओज, माधुर्य तथा प्रसाद तीन गुणों का निर्देश और किया। (पृ० ४३)

घ. 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्'......यदि इस रूपक को दूर तक ले जाएँ तो कहा जा सकता है कि गुण उसका सौन्दर्य है और हावभाव आदि स्वभावतः दोनों में समान हैं। शरीर में इन सब नैसर्गिक साधनों के रहते हुए भी जैसे सुन्दर वस्त्राभूषणों की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार काव्य में ध्वनि तथा अलंकार की भी आवश्यकता है। (पृष्ठ ४५)।

ङ. हिन्दी का यह काव्य-काल हिन्दी कविता का विकासकाल नहीं, बल्कि काव्य-काल का विकास-काल है। (पृष्ठ २५८)।

च. काव्यक्षेत्र में 'रीति' की प्रतिष्ठा का जब से आविर्भाव हुआ तथा उसे साहित्य-सिद्धान्त के रूप में जब से स्वीकार किया गया, नायक-नायिका भेद का अस्तित्व साहित्य में उससे प्राचीन है।

विवेच्य कवि के प्रति सहानुभूति एवं उदारतापूर्ण दृष्टिकोण रखने के लिए यह परिपाटी-सी चल पड़ी है कि उसकी त्रुटि अथवा उसके किसी अभाव को छिपाने के लिए कोई युगपरिस्थिति-जन्य अथवा मनोवैज्ञानिक कारण समुपस्थित कर दिया जाए, किन्तु यह प्रणाली उस समय असंगत एवं हास्यास्पद प्रतीत होने लगती है जब लेखक इस दिशा में अधिक खींचतान करने लग जाए : "महाकवि मतिराम का स्थितिकाल किसी महाकवि के उत्पन्न होने के अनुकूल नहीं था। 'सूर' और 'तुलसी' जैसे महाकवि उत्पन्न हो चुके थे तथा 'सूरसागर' और 'रामचरितमानस' जैसे महान् साहित्यिक ग्रन्थ भी लिखे जा चुके थे......।" (पृष्ठ २७३)।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध अपने समग्र रूप में साधारण कोटि का है। फिर भी रीतिकालीन कवियों के सामान्य परिचय के लिए छात्रोपयोगी अवश्य है। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट-रूप में 'मतिराम-सतसई' का स्वच्छ सम्पादन निस्सन्देह एक सफल प्रयास है किन्तु इसे प्रबन्ध के साथ प्रकाशित करा देने का उद्देश्य समझ में नहीं आता, शायद ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि के लिए ही ऐसा किया गया है जो कि अपने-आप में कोई स्वस्थ प्रणाली नहीं है।

अवध के प्रमुख कवि

डॉ० रामसरूप

सन् १९६० ई० में प्रकाशित प्रबन्धों में 'हिन्दी-साहित्य में अवध के प्रमुख कवि' शीर्षक प्रबन्ध अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस प्रबन्ध में अवध के श्रृंगारकालीन (१७००-१९०० वि०) जिन दस प्रमुख कवियों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, उनके नाम निम्नलिखित हैं—१. सुखदेव मिश्र २. भिखारीदास ३. कासिमशाह ४. गुरुदत्तसिंह 'भूपति' ५. गुलामनबी 'रसलीन' ६. जनकराज किशोरीशरण ७. गिरधर कविराय ८. बेनी भट्ट ९. बेनी प्रवीन वाजपेयी, तथा १०. महाराज मानसिंह द्विजदेव। इन कवियों के नाम, धाम और काम का सामान्य परिचय तो हिन्दी-साहित्य के प्रामाणिक इतिहासों में उपलब्ध हो जाता हैं परन्तु इन की जीवनियों, कृतियों तथा तत्कालीन परिस्थितियों का गम्भीर आलोचनात्मक अध्ययन अन्यत्र अप्राप्य है।

लेखक ने अपने अध्ययन को चार अध्यायों में लिपिबद्ध किया है। प्रथम अध्याय 'पूर्वदर्शन तथा इतिहास' दो खण्डों में विभाजित है—१. पूर्वदर्शन, २. इतिहास। 'पूर्वदर्शन' में मिश्र जी ने 'अवध' को अयोध्या का अपभ्रंश स्वीकृत किया है तथा उस की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मतों का निराकरण कर उस का अर्थ 'अजेय नगरी' माना है। मिश्रजी के इस विचार से तो हम सहमत हैं कि इसकी व्युत्पत्ति 'अज+युध' (ब्रह्मा का अजेय नगर) और अवधि (राम-वनवास की अवधि) से नहीं, परन्तु इस बात से विमत हैं कि अयोध्या का नाम इक्ष्वाकु के समय से प्राप्त होता है। नगरी-विशेष के लिए भले ही 'अयोध्या' नाम मनु और उसके पुत्र इक्ष्वाकु के साथ सम्बन्धित हो, परन्तु वस्तुतः अयोध्या शब्द वाल्मीकि-रामायण से बहुत पूर्व वैदिक संहिता में निम्नलिखित मंत्र में प्रयुक्त हो चुका था—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

लेखक : डॉ० व्रजकिशोर मिश्र
प्रकाशक : लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
मूल्य : ११ रुपए; पृष्ठ सं० : ३२८

अर्थ—यह मानवीय काया देवताओं की अयोध्या (अजेय) नगरी है जिसमें आठ चक्र और नौ द्वार हैं।

इसके पश्चात् मिश्रजी ने कोशल वा अवध प्रान्त के लगभग ढाई सहस्र वर्ष के इतिहास तथा उसकी सीमाओं पर विहंगम दृष्टि डाली है। यह ऐतिहासिक तथा भौगोलिक विवरण वस्तुतः गवेषणापूर्ण है और लेखक के गम्भीर अध्ययन का परिचायक है।

'पूर्वदर्शन' के पश्चात् लेखक 'इतिहास' पर आता है। इस शीर्षक के नीचे मिश्र जी ने अवध के उन स्थानों, शासकों, शासक-कवियों तथा कवियों का परिचय दिया है जो उनके विवेच्य विषय से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। लेखक ने निम्नलिखित दस स्थानों का विस्तृत इतिहास प्रस्तुत किया है जो साहित्यिक सक्रियता के लिए उन दिनों विशेष विख्यात थे—१. लखनऊ २. बैसवाड़ा ३. अमेठी (सुल्तानपुर] ४. अरवर देश (प्रतापगढ़) ५. महदौना (अयोध्या) ६. कोटवा (बाराबंकी) ७. बिलग्राम (हरदोई), ८. बिसवाँ (सीतापुर) ९. मुहमदी (हरदोई) १०. दौलतपुर (रायबरेली)।

उपर्युक्त स्थानों में से अधिकतर स्थानों पर तो कवि-गण गुणग्राही नवाबों तथा शासकों के आश्रय में रहते हुए काव्य-प्रणयन करते थे, परन्तु कुछ-एक स्थानों पर वे स्वतंत्र रूप में भी सरस्वती-सेवा में संलग्न रहते थे। अनेक शासक केवल काव्य-रसिक और कवियों के शरणदाता ही न थे अपितु स्वयं भी सुकवि थे। इस प्रकरण में मिश्रजी ने उक्त स्थानों, उनके शासकों तथा वहां के कवियों का विस्तृत व्यौरा प्रस्तुत किया है। यह अध्ययन विस्तृत, गम्भीर, रोचक तथा गवेषणापूर्ण है। इसमें आलोच्य कवियों की जीवनियों तथा कृतियों के सम्बन्ध में अनेक ऐसी बातों का परिचय प्राप्त होता है जो आजतक प्रकाशित हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में दुर्लभ हैं। इसके अतिरिक्त ठोस प्रमाणों के आधार पर अनेक प्रचलित भ्रान्तियों का भी निराकरण तथा अनेक कवियों के काल आदि का भी निर्धारण किया गया है। निदर्शनार्थ, सुखदेव मिश्र को लीजिये। 'शिवसिंह सरोज' में सुखदेव नाम के तीन कवियों का उल्लेख है—प्रथम कम्पिला-निवासी, द्वितीय दौलतपुर-निवासी तथा तृतीय अन्तर्वेद-निवासी। आचार्य द्विवेदीजी को भी इन के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्ति थी। मिश्रजी ने अनेक हस्तलिखित ग्रंथों के आधार मर इस विषय में गम्भीर मंथन करके एक ही सुखदेव कवि माना है जो विभिन्न शासकों के आश्रय में रहा था।[१]

प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय 'नामकरण और पोषक उपादान' दो भागों में विभाजित है—१. नामकरण २. पोषक उपादान। सं० १७०० से १९०० तक के

१. देखिये—अवध के प्रमुख कवि, पृष्ठ ४२-५२।

काल को मिश्रबन्धुओं ने 'कलाकाल' और 'अलंकृत काल' तथा आचार्य शुक्ल ने 'रीति-काल' संज्ञा प्रदान की थी। कहना न होगा कि भावपक्ष की गौणता, अलंकार की मुख्यता तथा रीति-ग्रंथों के प्राचुर्य के कारण इस काल को उपर्युक्त संज्ञाओं से अभिहित किया गया। इन तथा अन्य नामों का निरसन कर मिश्रजी ने, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का अनुसरण करते हुए इस काल को 'शृंगार-काल' नाम देना उचित समझा है। मिश्रजी ने पूर्वोक्त संज्ञाओं में अव्याप्ति आदि दोष दिखाते हुए, वर्ण्य-विषय की मुख्यता के अनुसार काल का नामकरण समीचीन समझा है। उनका कथन है कि रीति-ग्रंथों के प्रणेताओं का प्रतिपाद्य वस्तुत: शृंगार ही था, सराहने के लिए पल्ला उन्होंने चाहे 'रीति' का पकड़ लिया। इसलिए 'शृंगारकाल' नाम ही उपयुक्ततम है।

इसी अध्याय के द्वितीय खंड 'पोषक उपादान' में मिश्रजी ने अवध की तत्कालीन सामाजिक, साहित्यिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का विशद चित्रण किया है जिनसे प्रेरित होकर अवधीय कवियों ने स्वकाव्य रचना की। उदाहरणार्थ बेनी प्रवीन-कृत निम्नांकित कवित्त पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है—

पगन में कौस करि हौस द्यौस ही को चली,
पिय महबूब पै अजूब यह बात है।
घेरदार जामा पायजामा पै प्रवीन बेनी,
अतिहिं सकामा बामा मुख अरुनात है।
केस कसि पगरी में बबरी बनाय बाल,
मुगुल बचे लौं एक पेंचा सजे जात है।
बांधे बखतरी कांधे परी समसेर फरी,
लखि न परी है काहू सखिन सकात है॥[1]

प्राय: पाठक इस विचार से प्रभावित हैं कि विलासिता-बहुल इस युग के कवि भी नितान्त विलासी ही थे। परन्तु मिश्रजी इस विचार से सहमत नहीं हैं। उन की धारणा है कि जहाँ दरबारी वातावरण के कारण उनके हृदयों में विलास-तरंगिणी तरंगायमान रहती थी, वहाँ भक्ति-जाह्नवी में भी उनके मन निमज्जन किया करते थे। निम्नलिखित प्रकार के पद्यों में राम के समक्ष कवि का दैन्य कितनी स्वाभाविकता से व्यक्त हुआ है, यह कहने की आवश्यकता नहीं—

जानौं न भक्ति न ज्ञान की शक्ति हौं दास अनाथ, अनाथ के स्वामि जू।
माँगौं इतौ बर दीन दयानिधि दीनता मेरी चितै भरौ हामि जू॥

---

१. अवध के प्रमुख कवि, पृष्ठ ६४।

क्यों बिन नाम के नेह को ब्योर है अंतर्यामि निरंतर यामि जू ।
मो रसना को रुचै रस ना तजि राम नमामि नमामि नमामि जू ।
(दास : काव्यनिर्णय)

इस प्रकार द्वितीय अध्याय में श्रृंगार रस-प्रधान रीति-ग्रंथों की प्रचुरता, श्रीकृष्ण के नायकत्व, ब्रजभाषा के प्रयोग की स्वाभाविकता आदि का सम्यक् विश्लेषण करने के पश्चात् मिश्रजी ने तृतीय अध्याय में उन अन्य काव्यधाराओं का विवेचन किया है जिनके कवियों को हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में प्रायः फुटकर में फेंक दिया जाता है । वे धाराएँ निम्नलिखित हैं—१. निर्गुण सन्त-काव्य, २. सूफ़ी प्रेम-काव्य, ३. प्रशस्ति-काव्य, ४. हास्यवृत्ति, ५. नीति-काव्य, ६. गीत-काव्य ।

मिश्रजी ने प्रत्येक धारा के उद्भव तथा विकास का अपेक्षित विवरण देकर उनमें अवध के श्रृंगारकालीन कवियों के योगदान का सम्यक् उल्लेख किया है। 'निर्गुण सन्त-काव्य' के अन्तर्गत सतनामी सम्प्रदाय के संस्थापक बाबा जगजीवनदास के परिचय तथा उनके काव्यालोचन में पर्याप्त मौलिकता दृष्टिगोचर होती है । 'सूफ़ी प्रेम-काव्य' के अन्तर्गत कासिमशाह-प्रणीत 'हंसजवाहर' की आलोचना भी व्यापक और गम्भीर है । 'प्रशस्ति-काव्य' के अन्तर्गत मिश्रजी ने उन रचनाओं को लिया है जिन में या तो श्रीराम, शिवजी आदि के वीरकृत्यों की प्रशंसा है या कवियों के आश्रयदाता राजाओं और नवाबों की । इन प्रशस्तियों में धर्मवीरता और दयावीरता की अपेक्षा आश्रयदाताओं की युद्धवीरता तथा दानवीरता का वर्णन अधिक और उत्कृष्ट है । कारण स्पष्ट ही है । 'हास्यवृत्ति' के अन्तर्गत हास का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के पश्चात् धर्मध्वजी महात्माओं, मिथ्यादानियों, मनहूसों, कंजूसों आदि पर बड़े पैने व्यंग्यबाणों की वृष्टि की गई है । इसी प्रकार लखनऊ की कीच, कृष्ण की उच्छृङ्खलताओं तथा शिवजी की विलक्षण वेशभूषा आदि भी हास्य के आलम्बन बनाये गए हैं । 'नीतिकाव्य' के अन्तर्गत उन कविताओं का दिग्दर्शन कराया गया है जिनका उद्देश्य पाठकों को मनोरंजक रीति से व्यवहारोपयोगी विषयों की शिक्षा देना है । धर्म-नीति में नाम-महिमा, जगत् की क्षणभंगुरता, मोह तथा हिंसा का त्याग, क्षमा, अक्रोध, सत्य आदि विषयों पर पद्य-रचना की गई है और सामाजिक नीति में नारी-चरित की अविश्वसनीयता, कृपण-सेवा की निष्फलता, कुसंग का दुष्परिणाम, गुणप्रशंसा आदि विषयों पर। ये नीति-विषयक रचनाएँ पद्यमात्र नहीं हैं, पर्याप्त सरस तथा हृदयग्राही हैं । 'गीत-काव्य' की रचना अयोध्या तथा कोटवा (बाराबंकी) में अधिक हुई। अयोध्या केन्द्र का गीतकाव्य श्रीराम के सौन्दर्य तथा लीलाओं से विशेष रूप से सम्बन्धित है और कहीं-कहीं पर 'मर्यादापुरुषोत्तम' नाम को लांछित भी करता है । कोटवा में रचित गीत-काव्य निर्गुण ब्रह्म-विषयक है और अनुभूति से समृद्ध है । इनके अतिरिक्त प्रकृति-सौन्दर्य-विषयक कुछ गीतों की भी

रचना इस युग में उपलब्ध होती है। हमारे विचार में यदि इस खण्ड को अन्यत्र स्थान मिलता तो अधिक संगत होता; क्योंकि पूर्वोक्त पाँच खण्डों का सम्बन्ध वर्ण्य विषय से है और इसका शैली से।

प्रबन्ध का अन्तिम अध्याय—काव्यालोचना—आकार की दृष्टि से पूर्ववर्ती तीन अध्यायों के समान है तथा मिश्रजी के दीर्घकालीन परिश्रम का सुपरिणाम है। इसमें उन्होंने अवध के विवेच्यकालीन प्रमुख कवियों के काव्यों की गम्भीर आलोचना प्रस्तुत की है। भावपक्ष और कलापक्ष की विशेषताओं के वर्णन के पश्चात् काव्य-भाषा और काव्य-शैलियों का सविस्तर विवेचन किया गया है। अवध के शृंगार-कालीन कवियों ने अवधी की प्रायः उपेक्षा कर व्रजभाषा में स्वकाव्य-निर्माण क्यों किया, इसका विवेचन भी मिश्रजी ने इस अध्याय में सम्यक् किया है। मुक्तक तथा प्रबन्ध-शैलियों में व्यवहृत विभिन्न छन्दों के विकास तथा वर्ण्य-विषयों से उनके विशिष्ट सम्बन्ध को भी भली भाँति स्पष्ट किया गया है। प्रायः यह माना जाता है कि सवैया और कवित्त छन्दों के प्रयोग का आरम्भ सूरदास के समय में हुआ था, परन्तु मिश्रजी ने सवैया को 'पृथ्वीराजरासो' में से ढूंढ निकाला है। रासो में जिन्हें मुरिल्ल तथा त्रोटक (दुप्पया) छन्द कहा गया है वही हमारे आज के किरीट तथा दुर्मिल हैं।

प्रबन्ध के अन्त में तीन परिशिष्ट हैं। प्रथम दो में प्राचीन पद्यों द्वारा राजवंशों और कविवंशों का परिचय दिया गया है। तृतीय परिशिष्ट में सहायक-ग्रन्थों की सूची है जिनमें १० ग्रन्थ हस्तलिखित हैं। हस्तलिखित ग्रंथों में से उद्धृत सामग्री और उसकी आलोचना द्वारा प्रबन्ध की उपादेयता बहुत बढ़ गई है।

डॉ० मिश्र को इस उत्कृष्ट प्रबन्ध के प्रणयन पर वर्धापन देते हुए हम आशा करते हैं कि आगामी संस्करण में प्रकाशमान्, शताब्दि, बाह्य आदि शब्दों में अक्षरों की, यत्र-तत्र सम्वत्-सम्बन्धी अंकों की तथा संस्कृत के श्लोकों में समस्त पदों के व्यस्त रूप से मुद्रण की अशुद्धियाँ दूर कर दी जाएँगी।

पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव

श्री० तारकनाथ बाली

प्रस्तुत पुस्तक डॉक्टर रवीन्द्रसहाय वर्मा के शोध-प्रबन्ध 'द इन्फ़्लूयेन्स ऑफ़ इंग्लिश ग्रान हिन्दी-पोइट्री एण्ड क्रिटिसिज़्म' के द्वितीय खण्ड के ग्राधार पर लिखी गई है। इस पुस्तक का महत्त्व इस बात में है कि इसमें हिन्दी के विद्यार्थी को पाश्चात्य ग्रालोचना के सिद्धान्तों की एक झाँकी मिलेगी। इनमें से कुछ सिद्धान्तों पर विस्तार से विचार किया गया है। उदाहरणस्वरूप कलावाद और हीगेल के कला-सिद्धान्त का विवेचन पर्याप्त विस्तार से किया गया है।

किन्तु जब हम उक्त पुस्तक को एक शोध-ग्रन्थ की दृष्टि से देखते हैं, तथा उसके शीर्षक के प्रकाश में उसके मूल्यांकन का प्रयास करते हैं तो कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। शोध-विषय की दृष्टि से देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसका सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द है 'प्रभाव'। यह शब्द चाहे कितना ही प्रचलित और सामान्य ग्रर्थ-वाला क्यों न हो, शोध के प्रसंग में व्याख्या-सापेक्ष है। प्रश्न यह है कि किसी विशेष व्यक्ति या विशेष धारा पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है यह जानने का साधन क्या है? यदि किन्हीं दो व्यक्तियों या धाराओं के बीच समानता लक्षित हो तो क्या यह कहना संगत होगा कि परवर्ती व्यक्ति या धारा पर पूर्ववर्ती व्यक्ति या धारा का प्रभाव पड़ा है? ग्रथवा क्या साम्य प्रभाव का प्रमाण हो सकता है? वस्तुतः प्रभाव प्रमाणित करने के लिए साम्य के ग्रतिरिक्त कुछ ग्रन्य प्रमाण भी होने चाहिएँ, किन्तु लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में मात्र साम्य को प्रभाव का प्रमाण मानकर ग्रपने प्रयास की वैज्ञानिकता पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। लेखक ने द्विवेदीजी तथा शुक्लजी पर वर्ड्सवर्थ और ग्राई० ए० रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का जो प्रभाव दिखाने की चेष्टा की है (पृष्ठ ९४, पृष्ठ १०२) उसके लिए ग्रधिक पुष्ट ग्राधार की ग्रपेक्षा है।

यहाँ 'प्रभाव' की व्याख्या के विषय में यह भी जान लेना चाहिए कि एक ग्रन्य ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है जिसका विवेचन इस प्रसंग में ग्रवश्य होना चाहिए, और वह

लेखक : डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा
प्रकाशक : विश्वविद्यालय-प्रकाशन, गोरखपुर
मूल्य : पाँच रुपये; पृष्ठ-संख्या : १९०

तथ्य है हिन्दी-जगत् का अपना जन-जीवन और परम्परा। लेखक ने इसकी अत्यन्त सीमित और एकांगी चर्चा ही की है। संभवत: इस विषय में उसकी अपनी सीमाएँ हैं। इसलिए उनके निष्कर्ष और भी असंतुलित हो गए हैं। यह कहना कि 'महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो गद्य और पद्य में एक ही भाषा खड़ीबोली के प्रयोग पर बल दिया, उसका कारण वर्ड्सवर्थ की प्रेरणा थी', (पृष्ठ ९४) अथवा यह कहना कि 'शुक्लजी ने कविता के विवेचन में 'निवेदनीयता' पर जो बल दिया है उसका कारण रिचर्ड्स की प्रेरणा है' इस असन्तुलन के ही ज्वलन्त उदाहरण हैं। यहाँ पर द्विवेदी जी तथा वर्ड्सवर्थ में एवं शुक्लजी एवं रिचर्ड्स में समानता तो है, किन्तु इस समानता का कारण प्रभाव-ग्रहण नहीं है। हिन्दी की साहित्यिक एवं सामाजिक परम्पराओं से परिचित व्यक्ति सहज ही यह कह देगा कि द्विवेदी जी ने जो बात कही, उसका मूल यहाँ के तत्कालीन साहित्यिक एवं सामाजिक जीवन में था और शुक्लजी की 'निवेदनीयता' का मूल तो साधारणीकरण में है। इस प्रकार की भ्रान्तियों के उपर्युक्त दो कारण हैं—एक, प्रभाव की वैज्ञानिक व्याख्या का अभाव; द्वितीय, हिन्दी की साहित्यिक एवं सामाजिक परम्पराओं का अज्ञान।

प्रस्तुत पुस्तक अपनी योजना में भी संतुलन की अपेक्षा रखती है। अन्तिम दो अध्याय छोड़कर शेष सभी अध्यायों में पाश्चात्य आलोचना का विवेचन यदि बीस पृष्ठ में है तो हिन्दी पर उसके प्रभाव की चर्चा दो या तीन पृष्ठों में ही खींच दी गई है। एक अन्य कमी यह है कि लेखक ने पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों की विवृति तो की है, किन्तु पश्चिम में उनकी प्रतिक्रिया क्या हुई, इसकी चर्चा नहीं की। उदाहरण के लिए 'अभिव्यंजनावाद' की व्याख्या तो बड़े विस्तार से की गई है, लेकिन पश्चिम में उसकी प्रतिक्रिया क्या हुई, इसका ज़िक्र तक नहीं। ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक था; क्योंकि अनेक पाश्चात्य सिद्धान्त ऐसे हैं जिनका हिन्दी पर प्रभाव तो बहुत सीमित है, लेकिन जिनकी प्रतिक्रिया हिन्दी में बड़े तीव्र रूप से हुई है। उदाहरण के लिए शुक्लजी पर अभिव्यंजनावाद का प्रभाव नहीं है, वरन् अभिव्यंजनावाद की जो प्रतिक्रिया उनके मन में हुई उसी का दर्शन उनके निबन्धों में हुआ है। और यह प्रतिक्रिया स्वतन्त्र रूप से हुई—बिना पाश्चात्य प्रभाव के हुई और अपनी साहित्यिक परम्पराओं में स्वस्थ निष्ठा के कारण हुई। यहाँ क्या यह आवश्यक नहीं था कि लेखक पाश्चात्य आलोचना में अभिव्यंजनावाद की प्रतिक्रिया की चर्चा करता और उससे शुक्लजी की प्रतिक्रिया की तुलना करता।

बिलकुल यही बात कला के विवेचन के विषय में भी कही जा सकती है। प्रसाद और शुक्ल में हीगेल के कला-सिद्धान्त की प्रतिक्रिया मिलती है, न कि प्रभाव। और इस प्रतिक्रिया की आधारभूत परम्पराओं को जानने के कारण लेखक उनके विचारों से न्याय नहीं कर सका।

यह माना जा सकता है कि इन प्रतिक्रियाओं में कहीं एकांगिता भी आ गई हो। इसका ऐतिहासिक कारण था। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद ने भारत पर राजनीतिक प्रभुत्व पा लेने के बाद उस पर एक विराट् सांस्कृतिक अभियान किया, जिसके गढ़ थे गिर्जे। इनके विरुद्ध भारत में विविध समाजों की स्थापना हुई। तत्कालीन भारतीय युवकों में जो यह धारणा बिठाई जा रही थी कि 'पाश्चात्य' का अर्थ 'श्रेष्ठ' है उसका विरोध करना आवश्यक था। साहित्य के क्षेत्र में यह कार्य शुक्लजी ने बड़ी शक्ति एवं गम्भीरता के साथ किया।

इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक हिन्दी-आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है। किन्तु उसका विवेचन-मूल्यांकन वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए। उदाहरण के लिए, हिन्दी की समाजवादी अथवा मनोविश्लेषणवादी आलोचना पर पश्चिम का प्रभाव पड़ा है। किन्तु इस प्रभाव के भी दो स्रोत हैं। एक तो मूलशास्त्र—मार्क्स का राजनीति या अर्थशास्त्र एवं फ्रायड आदि का मनोविश्लेषण-शास्त्र और द्वितीय पाश्चात्य समाजवादी या मनोविश्लेषणवादी आलाचना। मेरे विचार में इन दोनों स्रोतों में से प्रथम का प्रभाव अधिक शक्तिशाली रहा। इस लिए यदि पाश्चात्य आलोचना और हिन्दी की आलोचना में कहीं समानता दिखाई देती है तो इससे तुरन्त ही यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि हिन्दी-आलोचना पर पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव है। यह साम्य स्रोतों की समानता के कारण भी हो सकता है और है।

पाश्चात्य आलोचना के विवेचन में भी कुछ ऐसी बातें दिखाई देती हैं जो प्रश्न बनकर ही रह जाती हैं। उदाहरण के लिए, 'आलोचना का दार्शनिक आधार' अध्याय में हीगेल का विवेचन प्लेटो और अरस्तू से पूर्व क्यों किया गया, इसका कोई स्पष्टीकरण लेखक ने नहीं किया। और इसी अध्याय में रस के दार्शनिक आधार का विवेचन भी होना चाहिए था, लेकिन वह नहीं है। कलावाद के विवेचन में कांट का उल्लेख ही नहीं है। वस्तुतः कांट के 'निष्काम आनन्द' के सिद्धान्त ने कलावाद को अपार शक्ति दी और बड़ी दूर तक प्रभावित किया। 'आलोचना का ऐतिहासिक आधार' में तेन और सेंट ब्योव दोनों को एक-साथ रखा गया है। वस्तुतः सेंट ब्योब की दृष्टि ऐतिहासिक की अपेक्षा जीवनचरितात्मक अधिक है और तेन ने इसकी सर्वथा उपेक्षा की है।

'भूमिका' में लेखक ने जो भारतीय काव्यशास्त्र का परिचय दिया है उसमें भी कुछ त्रुटियाँ एवं भ्रान्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए, रस-सिद्धान्त की व्याख्या में लोल्लट का उल्लेख तक नहीं किया गया। डॉक्टर वर्मा ने लिखा है कि भट्टयायक के अनुसार रसदशा में 'रज और तम के गुणों का तिरोभाव हो जाता है'। किन्तु वस्तुतः यह ठीक नहीं है। भट्टनायक के मत में रसानुभूति में भी रज और तम का अनुवेध रहता

है। साधारणीकरण की प्रतिष्ठा भट्टनायक ने ही की थी, इससे भी डॉक्टर वर्मा अपरिचित प्रतीत होते हैं। अब तो कुछ विद्वानों का यह अनुमान भी है कि साधारणीकरण किसी भिन्न रूप में भट्टनायक से पहले भी ज्ञात था। नायिका-भेद को 'रस-शास्त्र का एक विकृत रूप' मानना भी उचित नहीं है।

कोई भी जीवन्त समाज अपने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विकास के लिए बाह्य प्रभाव ग्रहण करता है। किन्तु प्रभाव प्रायः गौण ही होता है। प्रधान स्थान होता है उस समाज की अपनी परम्परा का और अपने जीवन का। बिना इस सत्य को जाने तथा बिना हिन्दी-जगत् की परम्पराओं और परिस्थितियों को पूर्णतः प्रत्यक्ष किये हिन्दी पर किसी बाह्य प्रभाव का संतुलित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत प्रबन्ध में लेखक ने पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के विवेचन को ही प्रमुख स्थान दिया है। लेकिन साथ ही भारतीय काव्यशास्त्रियों की दृष्टियों का भी परिचय मिलता है। इससे हिन्दी के विद्यार्थी को काव्यशास्त्र के अध्ययन में एक व्यापक और तुलनात्मक दृष्टि अपनाने की प्रेरणा मिलेगी। इस दृष्टि से इस प्रबन्ध की उपयोगिता असंदिग्ध है।

आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त

डॉ० जयचन्द राय

प्रस्तुत ग्रन्थ दिल्ली-विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। इसके अन्तर्गत भारतेन्दु-काल से लेकर आधुनिक काल तक के कवियों के काव्य-सिद्धान्तों का आकलन किया गया है। प्रबन्ध तीन प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम और द्वितीय प्रकरण का सम्बन्ध क्रमशः भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग से है। तृतीय प्रकरण को चार अवान्तर भेदों में विभक्त करके वर्त्तमान काल की पाँच प्रमुख काव्य-धाराओं में उपस्थापित काव्य-विषयक मान्यताओं की मीमांसा की गई है। ये काव्य-धाराएँ हैं—(१) राष्ट्रीय-सांस्कृतिक, (२) छायावादी, (३) व्यक्तिवादी, (४) प्रगतिवादी, (५) प्रयोगवादी। गवेषणा की मूल प्रस्तावित योजना का परिचय और मुख्य विषय का प्रवर्त्तन 'विषय-प्रवेश' द्वारा हुआ है और उसका समापन अंत के 'उपसंहार' द्वारा।

कवि-कृत काव्य-चिन्तन का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक दुस्साध्य कार्य है; कदाचित् इसलिए कि उसकी बाह्य अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष उतनी नहीं होती जितनी परोक्ष। कवि काव्य-सत्य का विवेचक नहीं, द्रष्टा है; शास्त्रकार नहीं दार्शनिक है। इस सत्य का साक्षात्कार वह विकल्प द्वारा नहीं, संकल्प द्वारा करता है; दूसरे शब्दों में यह उसकी उपपत्ति नहीं, स्वयं-सिद्धि है! जहाँ वह आलोचक की आसन्दी पर बैठकर मनोयोगपूर्वक साहित्य-सिद्धान्तों का विश्लेषण करता अथवा कलाकृतियों के विषय में अपनी तर्कपूर्ण मीमांसा प्रस्तुत करता है, वहाँ उसके काव्यशास्त्र-विषयक मन्तव्यों के सूत्र आप-से-आप हाथ आ सकते हैं और अध्येता का मार्ग सुगम हो सकता है; किन्तु जहाँ रागदीप्त चित्त से काव्य-सृजन की प्रक्रिया में तल्लीन रहकर ही वह साहित्यशास्त्र के प्रच्छन्न सूत्र छोड़ता चला जाता है वहाँ संकलन, संपादन और समुचित पुनर्व्यवस्थापन द्वारा ही उसके काव्य-सिद्धान्तों का आगमनात्मक आकलन और समीक्षण हो सकता है। काव्यशास्त्र के इन विशकलित सूत्रों को संकलित करना कम जोखिम का काम नहीं। यह मार्ग कंटकाकीर्ण है, क्योंकि इसमें

लेखक : डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त
प्रकाशक : हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली—६
मूल्य : २५ रुपये

पग-पग पर भ्रमित होने की आशंका है। हमें यह स्वीकार करते हुए हर्ष है कि प्रस्तुत प्रबन्ध के अध्यवसायी लेखक को इस दुर्गम पथ पर होकर प्रायः निकलना पड़ा है, किन्तु वह कहीं विचलित नहीं हुआ।

विवेचन की सुविधा के लिए साहित्यशास्त्र को काव्य के स्वरूप, आत्मा, हेतु, प्रयोजन, तत्त्व, भेद, वर्ण्यविषय, शिल्प तथा स्फुट काव्य-सिद्धान्त और विशिष्ट काव्य-मत नामक शीर्षकों में विभाजित एवं मर्यादित कर लिया गया है। उसी प्रकार काल-विस्तार 'भारतेन्दु-युग', 'द्विवेदी-युग', 'वर्तमान काल' आदि सर्वमान्य खण्डों में विभक्त है। उक्त विभाजन के आधार पर कवियों के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार करके सम्पूर्ण युग की साहित्यशास्त्र-गत उपलब्धि का मूल्यांकन किया गया है। सुधी अन्वेषक ने यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी इसी सन्दर्भ में उठा लिया है कि कवियों के काव्य-सिद्धान्त उनकी रचनाओं में कहाँ तक विनियुक्त हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि इन सभी समस्याओं को एक-साथ उठा लेने से प्रबन्ध का प्राविधिक दायित्व जटिल एवं गम्भीर हो गया है किन्तु सन्तोष की बात तो यह है कि लेखक ने उसे अत्यन्त संयम और धैर्यपूर्वक निभाया है।

पुस्तक में जो तथ्य सब कुछ को उत्तीर्ण करके प्रतिष्ठित हुआ है वह यह है कि हमारे यहाँ कविकृत काव्य-चिन्तन की अत्यन्त समृद्ध, पूर्ण स्वतन्त्र और किसी सीमा तक स्वायत्त परम्परा रही है। इस चिन्तन-धारा का क्रमबद्ध निरूपण और शास्त्रीय पर्यालोचन श्रम-साध्य होने पर नितान्त वांछनीय था; किन्तु नाना कारणों से वह अब तक सम्पन्न न हो सका था। प्रस्तुत प्रबन्ध में पहली बार, उस परम्परा का तारतमिक निरूपण हुआ है। इसके लिए लेखक बधाई का पात्र है। लेकिन काव्य-चिन्तन की उस धारा को सर्वथा स्वतन्त्र और स्वायत्त रूप में उभारने के लिए विचारशील लेखक को भी कहीं संदर्भगत प्रश्नों की उपेक्षा करनी पड़ी है। उनमें से दो ऐसे हैं जिन्हें लेखक की कठिनाई और ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि देखते हुए भी, हम अनुपेक्षणीय मानते हैं।

पहला सन्दर्भ है काव्य-सिद्धान्तों की पार्श्व-भूमि का। कवि, आलोचकों की अपेक्षा बाह्य जगत् के प्रति अधिक संवेदनशील होता है और उसकी काव्य-रचना ही नहीं, अपितु काव्य-चिन्तना भी अपने परिवेश से अपेक्षाकृत अधिक अनुप्रेरित रहती है। अतः उसका परिवेशातीत मूल्यांकन सदैव अधूरा ही रह जायेगा। इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध के समन्वित विवेचन वाले प्रकरणों में, यदि संक्षेप में ही, उस पृष्ठ-भूमि का उल्लेख हो जाता जिसमें ये विचार पनपे और विकसित हुए हैं तो संगति बैठ जाती। अनुसन्धाता ने उपसंहार में उसका संक्षिप्त किन्तु तात्त्विक निरूपण

किया भी है, किन्तु प्रबन्ध के मुख्य कलेवर में उसे समुचित स्थान देना अधिक श्रेयस्कर था।

दूसरा संदर्भ है शास्त्रीय समीक्षा के आदान का। भारतेन्दु-युग में कवियों और आलोचकों के वर्ग अलग-अलग नहीं हुए थे, किन्तु द्विवेदी-युग में दोनों के व्यक्तित्व स्वतन्त्र होने लगे; यहाँ तक कि वर्त्तमान काल में पहुँचते-पहुँचते दोनों दायित्व एक व्यक्ति में सिमटने योग्य रह ही नहीं गए। प्रस्तुत प्रबन्ध में विचारणीय केवल वे ही कृतियाँ रही हैं जो कवि-रूप में मुख्यतः प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा लिखी गई हैं। उन्हें यदि आलोचक रूप में प्रतिष्ठित व्यक्तियों (जैसे मिश्रबन्धु, पं० पद्म-सिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि) की साहित्यशास्त्र-विषयक मान्यताओं के सन्दर्भ में भी रखकर देखा जाता और उनके पारस्परिक आदान-प्रदान का संक्षिप्त उल्लेख हो जाता तो पूरा परिवेश पाठक के समक्ष उभर जाता। कवियों की काव्यशास्त्र-विषयक मौलिक देन का उद्‌घाटन भी इसी पद्धति से हो सकता था। प्रबन्ध के अन्तिम वाक्य में स्वयं डॉ० गुप्त ने ही आलोचकों की मान्यताओं और कवियों की धारणाओं के समन्वय की आशा व्यक्त की है—"आलोचकों की शास्त्रीय मान्यताओं और कवियों की अनुभूत धारणाओं का समन्वय करने पर हिन्दी काव्यशास्त्र को नवीन रूप-रेखा अवश्य दी जा सकती है—ऐसा हमारा विश्वास है।"

हम यह बात पुनः स्वीकार करना चाहते हैं कि उपर्युक्त दोनों संदर्भगत समस्याएँ विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखती हैं और प्रस्तुत प्रबन्ध के सुनिश्चित आभोग में उनका उतना सम्यक् निरूपण नहीं हो सकता जितना अन्यथा सम्भव है; किन्तु उनके समुचित उल्लेख से सूक्ष्म पृष्ठाधार बनाया जा सकता था।

प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल समीक्षा-सिद्धान्तों का ही निरूपण है, इसलिए क्षमा-याचनापूर्वक ही, हम अपने मन की एक आकांक्षा और प्रकट कर रहे हैं। साहित्य-शास्त्र को विभिन्न अंगों में विभाजित कर देने से जहाँ विवेचन-विश्लेषण में स्पष्टता, वैज्ञानिकता, आनुपातिकता और संगति आ गई है वहाँ, दूसरी ओर एक ऐसी यान्त्रिकता भी विकसित हो गई है जो कवि-समीक्षकों द्वारा लिखी गई गरिमामयी आलोचनात्मक कृतियों का सम्पूर्ण वैभव अखण्ड रूप में हमारे सामने उभरने नहीं देती। लगता है जैसे वर्गीकरण के विस्तार में कृतियों का घनीभूत समन्वित प्रभाव सो गया है। उदाहरण के लिए, 'पल्लव' के 'प्रवेश' को ले सकते हैं जो छायावादी काव्य के 'रूप' पक्ष का अत्यन्त ओजस्वी और भावाविष्ट व्याख्यान होते हुए भी पूर्णतः तर्क-संगत है। डॉ० गुप्त ने इस 'प्रवेश' और इस प्रकार की भूमिकाओं के सिद्धान्त-प्रतिपादक वक्तव्यों का चयन करके शास्त्रानुसारी वर्गीकरण और समीक्षण किया है और इस प्रकार उनके स्थायी महत्त्व का उद्‌घाटन भी किया है; किन्तु

उनका ऐतिहासिक महत्त्व (जो उन्हें वास्तविक गौरव प्रदान करता है) प्रस्तुत प्रबन्ध में उभर न सका। प्रारम्भ में ही प्रमुख समीक्षात्मक कृतियों का क्रम-विकास दिखाते हुए इस महत्त्व को उन्मीलित किया जा सकता था।

इतने अधिक कवियों के काव्य-सिद्धान्तों की प्रत्येक पहलू से बहुत गहरी और विस्तृत परीक्षा तो प्रस्तुत प्रबन्ध में सम्भव नहीं थी, किन्तु लेखक ने यथासम्भव तटस्थ रहकर, अनासक्त भाव से, उद्भावक कवि-समीक्षकों के मतों का तर्कपूर्ण विवेचन किया है। यह असम्भव है कि इतने सिद्धान्तों के व्यापक परीक्षण में मत-भेद की सम्भावनाएँ न हों, किन्तु विवेचन की स्वच्छता से इन्कार नहीं किया जा सकता। जहाँ किसी शीघ्रता अथवा असावधानी के कारण विवेचन साधारण स्तर पर उतर आया हो ऐसे प्रसंग क्वचित्-कदाचित् ही मिलते हैं। यहाँ हम एक ऐसे ही स्थल का उल्लेख करना चाहेंगे।

प्रबन्ध के पृष्ठ ३३८-३९ पर 'प्रसाद' जी की काव्य-परिभाषा पर विचार किया गया है। परिभाषा है, "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है,...... । वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।" डॉ० गुप्त ने इसका मर्म समझाते हुए लिखा है, "उसमें (काव्य में) आध्यात्मिक (श्रेय) और यथार्थ (प्रेय) को एक जैसा महत्त्व प्राप्त है।"

लेकिन प्रसंग पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि 'श्रेय' और 'प्रेय' शब्द 'प्रसाद' जी की दृष्टि में, 'आध्यात्मिकता' और 'यथार्थ' के समकक्ष नहीं हैं। वस्तुतः, वे 'शिव' और 'सुन्दर' के अधिक निकट हैं। श्रेय सत्य (शिव) को उसके मूल चारुत्व (सौन्दर्य) में ग्रहण कर लेना ही कला-सृजन की एकमात्र समस्या है। प्रसादजी के अनुसार आत्मा की मनन-शक्ति की असाधारण अवस्था में ही यह सम्भव है।

आगे चलकर, इसी प्रसंग में, जब डॉ० भगीरथ मिश्र की आपत्तियों को डॉ० गुप्त सहसा 'यथार्थ' मान बैठते हैं तब हमें लगता है कि इस गम्भीर प्रसंग में निर्णय की दृष्टि से कुछ शीघ्रता हो गई। उक्त परिभाषा पर डॉ० मिश्र की तीन आपत्तियाँ दी गई हैं :—

(१) **"काव्य को हम अनुभूति-मात्र नहीं मान सकते। हमारे साहित्य-भण्डार में भरा हुआ विशेषोक्ति, लक्षणा और अलंकार को लेकर चलने वाला समस्त काव्य अनुभूति के रूप में नहीं है।"**

मिश्रजी की यह स्थापना रसवादियों को मान्य नहीं हो सकती। जो लोग विशेषोक्ति, लक्षणादि को अभिव्यक्ति के साधन-रूप में देखेंगे वे उनके माध्यम से व्यक्त अनुभूति को ही काव्यत्व का निर्णायक तत्त्व स्वीकार करेंगे।

(२) **"अनुभूति संकल्पात्मक ही होती है अतः संकल्पात्मक शब्द व्यर्थ ही जान पड़ता है।"**

मिश्रजी की यह स्थापना विचारणीय है। मन संकल्पात्मक और विकल्पात्मक दोनों ही होता है, और संकल्प-विकल्प की स्थिति युगपत् रूप से भी बनी रह सकती है। अतः अनुभूति द्वन्द्वात्मक हो सकती है। स्वयं अभिनवगुप्त ने ही अविकल्पात्मक और सविकल्पात्मक संवित् की चर्चा की है। 'प्रसाद' जी ने यहाँ उन्हीं का अनुगमन किया है।

(३) **"श्रेयमयी प्रेयज्ञानधारा भी सदा ही काव्य नहीं हो सकती।"**

यहाँ 'ज्ञानधारा' शब्द पर आपत्ति की गई जान पड़ती है; किन्तु श्रेय सत्य जब अपने मूल चारुत्व में पकड़ लिया जाता है तभी वह काव्य बनता है। चारुत्व-सम्पन्न ज्ञानधारा को काव्य मानने में क्या कठिनाई है? संकल्पात्मक अनुभूति में यह सत्य (ज्ञान-धारा) गृहीत होता है। मिश्रजी की यह आपत्ति चिन्त्य है और इसका हठात् अनुमोदन करने से 'प्रसाद' जी के साथ न्याय नहीं हो पाता।

यहाँ हमारा केवल इतना ही निवेदन है कि ऐसे अवसरों पर हम लेखक का चलता हुआ वक्तव्य-मात्र नहीं चाहते, अपितु उससे गम्भीर विश्लेषण की आशा रखते हैं।

प्रबन्ध की प्राविधिक व्यवस्था अत्यन्त सराहनीय है। वह सामग्री-संकलन, वस्तु-निबन्धन, विषय-निरूपण, प्रमाण-संग्रह, पद-टिप्पणी, उद्धरणादि के क्षेत्रों में सर्वथा संतुलित है।

मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य

डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त

कवियों के जीवन और कृतित्व का अनुसंधान अनेक जिज्ञासुओं ने किया है, किन्तु ऐसे कवि प्रायः द्विवेदी-युग तक के ही रहे हैं। वर्त्तमान समय में काव्य-साधना में लीन कवियों में से केवल मैथिलीशरणजी पर दो प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं—(क) डॉ० उमाकान्त गोयल को "मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता" पर दिल्ली विश्वविद्यालय से सन् १९५७ में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई थी और प्रबन्ध का प्रकाशन सन् १९५८ में हुआ था, (ख) श्री कमलाकान्त पाठक को "मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य" पर सागर-विश्वविद्यालय ने सन् १९५७ में पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की थी और उक्त प्रबन्ध जनवरी १९६० में प्रकाशित हुआ। इनके अतिरिक्त उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा पर श्री शशिभूषण सिंहल का प्रबन्ध, जिसे लखनऊ-विश्वविद्यालय ने सन् १९५८ में पी-एच. डी. के लिए स्वीकार किया था, इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है। जीवित साहित्यकारों के कृतित्व के अनुसंधान में सबसे बड़ी समस्या यह रहती है कि आलोच्य व्यक्तित्व का प्रकट अथवा प्रच्छन्न प्रभाव पूर्वाग्रहों की संभावना को जन्म देता रहता है। डॉ० उमाकान्त ने सभवतः इसीलिए गुप्तजी की जीवन-सामग्री का विश्लेषण नहीं किया है; किन्तु इसके विपरीत डॉ० पाठक ने कवि की जीवनी और व्यक्तित्व का सभी सम्भव पहलुओं से निष्पक्ष अध्ययन प्रस्तुत किया है। इससे एक लाभ तो यह हुआ है कि उनके विवेचन में विशेष हार्दिकता आ सकी है; और दूसरे यह कि वे कवि के अप्रकाशित साहित्य (कविता, निबन्ध, अनुवाद आदि), महत्त्वपूर्ण पत्र-व्यवहार, दुर्लभ निबन्धों एवं भाषणों की प्रतियाँ प्राप्त कर सके हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि उन्होंने गुप्तजी के काव्य की परिचित विशेषताओं को अप्रकाशित रचनाओं से पुष्ट किया है, अप्रकाशित सामग्री के सन्दर्भ में प्रकाशित कृतियों का पुनर्मूल्यांकन किया है और अज्ञात तथ्यों को यथास्थान प्रकट किया है।

लेखक : डॉ० कमलाकान्त पाठक
प्रकाशक : रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली
मूल्य : २५ रु० पृष्ठ संख्या : ७०४

यहाँ यह निष्कर्ष निकालना असंगत होगा कि प्रस्तुत निबन्ध का लक्ष्य डॉ० गोयल और डॉ० पाठक के प्रबन्धों की तुलना करना है; तथापि यह ज्ञातव्य है कि भाव-पक्ष के विवेचन में अनेक बातों में प्राय: एक-जैसी समीक्षा-प्रणाली अपनाने पर भी कुछ कारणों से ये प्रबन्ध विशेष ध्यान आकृष्ट करते हैं—(अ) इन्हें मूल रूप में प्रकाशित न कर अध्याय-विशेष को पूर्ण अथवा आंशिक रूप में छोड़ दिया गया है, (आ) डॉ० पाठक ने कवि के जीवन-दर्शन (समाज, राष्ट्र, संस्कृति आदि से सम्बद्ध विचार) का प्रारम्भ में विवेचन किया है और डॉ० उमाकान्त ने ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में; फलत: दोनों प्रबन्धों में काव्य-समीक्षा के प्रसंग में जीवन-सिद्धान्तों का उपयोग भिन्न रूपों में हुआ है, (इ) दोनों प्रबन्धों में गुप्तजी द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूपों के वर्गीकरण का आधार भिन्न है, जिससे मौलिकता सुरक्षित रह सकी है।

आलोच्य प्रबन्ध का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शोधार्थी ने सामग्री की निष्ठापूर्वक खोज की है और कवि की सामान्यतम अथवा सर्वश्रेष्ठ रचना तक उसकी पैनी दृष्टि एक-जैसी संलग्नता से गई है। कृति-विशेष का मूल्यांकन करते समय केवल साहित्यिक मानदण्डों का आधार नहीं लिया गया है, अपितु देश-काल को उचित महत्त्व देकर सम्बद्ध युग की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखा गया है। जहाँ यह सत्य है कि इसके अभाव में गुप्तजी की उपलब्धियों का यथार्थ मूल्यांकन सन्दिग्ध था, वहाँ यह भी स्पष्ट है कि इसका आश्रय अनुसन्धान की वैज्ञानिक प्रक्रिया की सूचना देता है। इस प्रवृत्ति को ग्रन्थ में प्रारम्भ से ही देखा जा सकता है—अनुसन्धाता ने जीवनी और व्यक्तित्व-विषयक सामग्री को प्रामाणिक बनाने के लिए, प्रकाशित सामग्री के अतिरिक्त, एक ओर कवि और उनके स्वजनों से वार्तालाप का आधार लिया है, और दूसरी ओर उनके सम्पर्क में रह कर प्राप्त किये गए अनुभवों से लाभ उठाया है। कवि पर कुल-संस्कार और परिवेश के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए कमलाकान्तजी ने उनके पिता, माता, छोटे काका आदि के जीवन-प्रसंगों का विविध स्रोतों से परिश्रमपूर्वक संग्रह किया है।

डॉ० पाठक ने गुप्तजी के काव्य की समीक्षा के प्रसंग में पृष्ठभूमियों की सुन्दर खोज की है। उदाहरणस्वरूप उनका यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि 'काबा और कर्बला' की रचना से पूर्व कवि ने मुहम्मदसाहब की जीवनी, मरसिये आदि का बंगला के माध्यम से अध्ययन किया था और उनके उपदेशों को दोहों में रूपान्तरित किया था। इसी प्रकार शोधार्थी द्वारा कवि की ब्रजभाषा-रचनाओं का उल्लेख (पृष्ठ १४४-१४६ तथा १५१-१५२) और द्विवेदी-युग में अनुवाद की आवश्यकता का प्रतिपादन (पृष्ठ ६०१-६०३) भी महत्त्वपूर्ण है। पृष्ठाधार की शोध के अतिरिक्त विद्वान् अनुसंधाता ने तुलनात्मक आलोचना का भी आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ, उन्होंने

एक ओर गुप्तजी की प्रारम्भिक रचनाओं पर आल्हाखण्ड, बंगला-कृतियों और नाथूराम शंकर की कविताओं के प्रभाव की चर्चा की है (पृष्ठ ५२४) और दूसरी ओर 'हिडिम्बा' की नायिका और 'पंचवटी' की शूर्पणखा की संक्षेप में तुलना की है (पृष्ठ ३३५)। युगीन साहित्य से आदान अथवा प्रदान और कवि की विभिन्न रचनाओं के पारस्परिक तारतम्य की सम्भावनाओं का अध्ययन निश्चय ही शोध का रुचिकर अंग है, तथापि प्रस्तुत प्रबन्ध में ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं।

डॉ० कमलाकान्त ने गुप्तजी के काव्य की सहृदयतापूर्वक समीक्षा की है, किन्तु कवि की अनुपलब्धियों की यथास्थान चर्चा करना भी वे नहीं भूले हैं। जिन प्रकरणों में सदाशयता का प्राबल्य है, उनमें से कुछ ये हैं—(अ) 'साकेत' में प्रसंगोद्भावनाओं की समीक्षा के प्रसंग में नवम सर्ग की पन्द्रह विशेषताओं की खोज (पृष्ठ ४३४-४३५, ४४१-४४२), (आ) 'साकेत' के महाकाव्यत्व की गम्भीर तथ्यपूर्ण समीक्षा (पृष्ठ ५१०-५२०), (इ) गुप्तजी द्वारा अनूदित रचनाओं की मौलिक विवेचना (विशेषतः पृष्ठ ६०४-६१३, ६४६-६५२), (ई) गुप्तजी की रचनाओं में अभिनयात्मक पद्धति के समावेश की खोजपूर्ण मीमांसा (पृष्ठ ६६४-६७२)। इसके विपरीत गुप्तजी की भाव-योजना के दोष प्रकट करने (यथा—कैकेयी और दशरथ के प्रति लक्ष्मण के क्रोध की निन्दा (पृष्ठ ४२४-४२५) में भी लेखक ने संकोच नहीं किया है। इसी प्रकार उनकी रचनाओं में उपलब्ध होने वाली शाब्दिक अशुद्धियों के विवेचन (पृष्ठ ६७६-६७७) में भी निर्भीकता स्पष्ट है। गुप्तजी की सामयिक पद्य-रचनाओं (प्रशस्तियाँ, उद्घाटनों के अवसर पर पद्यबद्ध भाषण, राज्यसभा के अधिवेशनों में पद्यात्मक भाषण, आदि) को अधिक महत्त्व न देकर भी पाठकजी ने निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाया है (पृष्ठ ५६३-५६५); किन्तु उनकी गद्य-रचनाओं की नितान्त संक्षेप में आलोचना की गई है—इस प्रकरण में अनुसन्धाता ने आवश्यक उद्धरण भी प्रस्तुत नहीं किए हैं। कारण स्पष्ट है—उनका विषय गुप्त-जी के कवि-रूप के अध्ययन तक सीमित था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलोच्य प्रबन्ध की विचार-सामग्री समृद्ध है; किन्तु यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि सामान्यतः विचार-पक्ष और विशेषतः कला-पक्ष की कुछ असंगतियाँ भी नितान्त स्पष्ट हैं। उदाहरणस्वरूप डॉ० पाठक के अनुसार "झंकार की रचना गुप्तजी का प्रासंगिक कवि-कर्म है"[1]; किन्तु ऐसी कल्पना को वैज्ञानिक शोध के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। अन्यत्र उन्होंने गुप्त जी की राष्ट्रीय भावना के विषय में लिखा है—"उसमें विरोध का स्वर अनुदात्त है।"[2] हमारी सम्मति में राष्ट्रीयता में औदात्त्य के अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

---

१. आलोच्य प्रबन्ध, पृष्ठ ५२७।

२. वही, पृष्ठ ५२८।

एक अन्य प्रसंग में असंगति न होने पर भी पुनर्विचार की अपेक्षा है। उन्होंने गुप्तजी के निबन्ध-काव्य के चार भेद किए हैं—आख्यानक लघु-निबन्ध, निराख्यानक लघु-निबन्ध, आख्यानक बृहत्-निबन्ध और संकलनात्मक निबन्ध-काव्य (पृष्ठ २५०-२५२)। हमारे विचार से इस प्रकरण में डॉ० उमाकान्त के वर्गीकरण—पद्य-कथा, पर्यायबन्ध, काव्य-निबन्ध (पृष्ठ २२४-२२५) को दृष्टि में रखना भी उपयोगी होगा। तथापि हमारा निष्कर्ष यही है कि अनुसन्धाता ने विचार-सामग्री को प्रस्तुत करने में सहृदयता, निष्पक्षता, तथ्य-संकलन आदि का उचित ध्यान रखा है। कला-पक्ष (कमलाकान्त जी ने इसके लिए 'क्रियाकल्प' शब्द की खोज की है) अथवा शोध-शिल्प की असावधानियाँ भी प्रायः लेखन में शीघ्रता के फलस्वरूप आई हैं। 'कविता आह्लादिनी है' (पृष्ठ १२३), 'गुप्त जी ने इसे आचारित भी किया' (पृष्ठ १२७), 'चमत्कृत सम्वाद' (पृष्ठ १४१), 'नारी की व्यक्तिता' (पृष्ठ २३८), 'शृंगारिक' (पृष्ठ १४१), 'दृष्टव्य' (पृष्ठ १२३,५५४,५६७,६४२) आदि में अप्रचलित प्रयोगों और अशुद्धियों को सहजही देखा जा सकता है। स्थान-संकोच और समयाभाव की विवशताओं के कारण कहीं-कहीं उद्धरण प्रस्तुत करने के स्थान पर सामग्री-संकेतों से ही सन्तोष कर लिया गया हैं (देखिए पृष्ठ १२२, महाकाव्य-सम्बन्धी धारणाएँ)। प्रूफ-संशोधन में असावधानी भी चिन्त्य है, जिसका परिणाम केवल शाब्दिक अशुद्धियों तक सीमित नहीं है, अपितु मूल में उद्धरण का संकेत न होने पर भी सन्दर्भगत पृष्ठ-निर्देश जैसी भूल भी देखी जा सकती है (पृष्ठ ६४३)।

उपर्युक्त शिल्पगत असावधानियों में से अधिकांश प्रबन्ध-लेखन में शीघ्रता के फलस्वरूप घटित हुई हैं, अन्यथा आलोच्य प्रबन्ध में विचार-प्रौढ़ि की भाँति भाषा-सौष्ठव भी दुर्लभ नहीं है। सत्य तो यह है कि जहाँ कमलाकान्तजी ने बुद्धि-तत्त्व और हृदय-तत्त्व में अद्भुत सामंजस्य रखते हुए ग्रन्थ को सुपाठ्य बनाया है, वहाँ भाषागत प्रवाह और शब्द-योजना की नवीनता पर भी उनकी दृष्टि रही है। हम उन्हें इस सुन्दर गवेषणात्मक प्रबन्ध की रचना के लिए हृदय से साधुवाद देते हैं।

उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा

डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

'उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा' लखनऊ-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है और इसके लेखक श्री शशिभूषण सिंहल हैं।' इसमें वर्माजी के सन् १९५५ तक प्रकाशित उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। समस्त प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में लेखक ने उपन्यासकार के व्यक्तित्व और जीवन का रेखाचित्र अंकित किया है। उपन्यासकार के संस्कार, उसके उपन्यास-लेखन का ध्येय, बुन्देलखण्ड के प्रति उसकी आसक्ति आदि का रहस्योद्घाटन करते हुए उसपर वाल्टर स्कॉट का जो प्रभाव पड़ा है उसकी ओर संकेत किया गया है। वर्माजी की स्कॉट से तुलना करते हुए स्कॉट के लम्बे वर्णन, सामन्तशाही के प्रति उसकी अडिग आस्था और निम्न वर्ग के प्रति उसकी उपेक्षा-दृष्टि जैसे दोषों से वर्माजी के बचने की उसने प्रशंसा की है। इस अध्याय में उपन्यासकार वर्माजी का साहित्यिक जीवन नाटक लिखने से प्रारम्भ हुआ, यह जानकर आश्चय होता है। वर्माजी के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों का परिचय देकर उनके स्वभावगत फक्कड़पन पर लेखक ने आत्मीयता से प्रकाश डाला है। लेकिन इस अध्याय में हमारी दृष्टि से यदि वर्माजी के समग्र साहित्य-सृजन का कम से कम नामोल्लेख होता तो उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का और अधिक निखरा हुआ रूप सामने आता। भले ही शोध-प्रबन्ध उपन्यासों पर था, पर लेखक को शोध-प्रबन्ध की दृष्टि से पूरे साहित्यिक कृतित्व अर्थात् वर्मा जी ने जो कुछ लिखा है उसका नामोल्लेख करना आवश्यक था, ताकि उनकी विशाल साहित्यराशि के प्रकाश में उपन्यासों का मूल्यांकन किया जा सकता। लेकिन संभवतः लेखक ने नाम के अनुरूप अपने क्षेत्र से बाहर जाना उपयुक्त नहीं समझा। वैसे यह अध्याय बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे वर्माजी के उपन्यासों के स्वरूप को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

दूसरे अध्याय में वर्माजी के उपन्यासों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

लेखक : श्री शशिभूषण सिंहल,
प्रकाशक : विनोद पुस्तक भण्डार, आगरा
मूल्य : १० रुपये

इस प्रसंग में 'उपन्यास' की व्युत्पत्ति, उपन्यास के तत्त्व, उपन्यास के प्रकार आदि की सामान्य सैद्धान्तिक चर्चा के पश्चात् वर्माजी के उपन्यासों के तत्त्वों और वर्ण्य-वस्तु के आधार पर भेद किये गए हैं। तदनन्तर इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास के भेद को स्पष्ट कर सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों का वर्गीकरण किया गया है। वर्गीकरण में लेखक ने मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है। सामाजिक, ऐतिहासिक और लोक-कथात्मक—इन तीन विभागों में उनके उपन्यासों को विभाजित कर सामाजिक में वैवाहिक समस्या, धर्म-परिवर्तन समस्या, ग्राम-सुधार समस्या, ग्रामीण समाज-सम्बन्धी, नागरिक समाज-सम्बन्धी और ग्रामीण नागरिक समाज-सम्बन्धी उपभेद किये गये हैं, जो अत्यन्त स्पष्ट और वैज्ञानिक हैं। ऐतिहासिक वर्ग में शुद्ध ऐतिहासिक और ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक दो भेद किये गए हैं। कालक्रमानुसार वर्गीकरण से पता चलता है कि वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यासों का काल तेरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक का है।

इन दो अध्यायों के पश्चात् लेखक ने वर्माजी के उपन्यासों की कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण-सृष्टि, भाषा और लेखन-शैली, जीवन-दर्शन आदि का विवेचन किया है। इस तात्त्विक विवेचन में लेखक ने जो पद्धति अपनाई है उसमें उसने हडसन, श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय आदि विद्वानों द्वारा प्रतिपादित उपन्यास-सम्बन्धी सिद्धान्तों को निजी मनन, चिन्तन की कसौटी पर वर्मा जी के उपन्यासों को कसा है। इस प्रकार वर्माजी के उपन्यासों के तत्त्वों के विश्लेषण तथा परस्पर तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा उनके मूल में निहित उपन्यासकार की कला की खोज एवं उसके विकास का निर्देश कार्य—यह लेखक के शब्दों में उसकी दृष्टि का मौलिक प्रयत्न है। (पृष्ठ ६)। वस्तुतः यह तात्त्विक विश्लेषण वर्माजी की कृतियों के मर्म को समझने में सहायक होता है। उदाहरण के लिए, कथावस्तु के प्रसंग में हम देखते हैं कि लेखक ने 'वस्तु' या 'कथानक' की परिभाषा, सन्देश के अनुसार घटनाओं के ग्रंथन, कथा-वस्तु में इतिवृत्ति और रस आदि का संक्षिप्त परिचय देकर बाबू गुलाबराय द्वारा प्रतिपादित कथानक की मौलिकता, कौशल, संभवता, संगठितता और रोचकता नामक उपन्यास के गुणों का उल्लेख किया है। फिर कथानक के शिथिल और सुगठित एवं आधिकारिक और प्रासंगिक भेदों पर प्रकाश डाला गया है। उसके पश्चात् प्रत्येक उपन्यास के कथासूत्रों और कथा-विन्यास पर विचार किया गया है। साथ ही प्रारम्भ में उल्लिखित तात्त्विक विश्लेषण की परिणति भी दिखाई गई है। तदनन्तर 'समान कथासूत्र' शीर्षक उपखण्ड से प्रणय-कथाओं का विश्लेषण है जिनमें असफल एकांगी प्रेम-कथाओं, प्रेम के त्रिकोण, सफल दाम्पत्य-जीवन, पति-सुधार, असफल वैवाहिक जीवन, मंगलमय अन्त के प्रतीक-स्वरूप विवाह आदि से सम्बद्ध प्रणय-कथाओं का परिचय दिया गया है।

इसके उपरान्त 'ऐतिहासिक कथानकों के स्रोत' शीर्षक के अन्तर्गत

इतिहास, स्थानीय इतिहास, अवशिष्ट वातावरण, जिसमें परम्पराओं, किंवदन्तियों पुराने भवनों के खण्डहर एवं स्मारक चिह्नों का समावेश होता है। बीती हुई घटनाओं, लोक-कथाओं, कल्पना आदि को वर्माजी के ऐतिहासिक कथानकों के स्रोत के रूप में ग्रहण किया गया है । इसी प्रकार चरित्र-चित्रण के प्रसंग में भी हुआ है। लेखक ने वर्माजी के पुरुष पात्रों के विश्लेषण में उन पात्रों के साथ एक विशेषण जोड़कर उनकी मनोवृत्ति पर प्रकाश डाला है । जैसे 'उग्र प्रणयी नागदेव और अग्निदत्त', 'प्रणय में पूजक दिवाकर और कुंजरसिंह', या 'दृढ़ अचल और रसिक सुधाकर'। हमारी विनम्र सम्मति में यह अनुपयुक्त है। इससे अच्छा तो यह होता कि पात्रों के वर्ग बनाकर उनके अन्तर्गत उपन्यासों के सभी पात्रों को लिया जाता। जैसा कि नारी-पात्रों के विश्लेषण में हुआ है। खलपात्रों में स्वार्थी और धूर्त भुजबल, अहम्मन्य नवलविहारी, कुटिलमति रामदयाल इन तीनों का समावेश कर दुर्बल-चरित्र नायक सम्पतराम, लोभी भिखारी ललिया, उद्दण्ड नन्दराम का विश्लेषण कुछ जँचता नहीं। एक-एक गुण के आधार पर पात्रों का यह श्रेणी-विभाजन गड़बड़-घोटाला पैदा करता है। उत्तम, मध्यम और अधम या देवता, मनुष्य और राक्षस या आदर्श, व्यावहारिक और धूर्त ऐसा श्रेणी-विभाजन कर उसके अन्तर्गत पात्रों को रखकर उनकी संगति मिलाई जाती तो अत्युत्तम होता । इस अध्याय में 'सामन्तवादी पात्र' शीर्षक भी देखने को मिलता है (पृष्ठ १८६) । यह शीर्षक अनावश्यक-सा जान पड़ता है। जब एक बार आप गुणों के आधार पर पात्रों का वर्गीकरण कर चुके हैं तब सामन्तवादी या पूँजीवादी विभाजन ठीक नहीं। यदि ऐसा करना ही था तो दूसरी पद्धति अपनानी चाहिए थी। यह शब्द एक विशिष्ट आलोचना-प्रणाली का है। वैसे वर्माजी के उपन्यासों में सामन्ती वातावरण के प्रसंगों में इन पात्रों को लिया जा सकता था । अभिप्राय यह कि लेखक ने पात्रों के वर्गीकरण में एक पद्धति नहीं अपनाई जो कि आवश्यक थी। इसके अभाव में पात्र-विश्लेषण में सन्तुलन नहीं रहा। हाँ, अन्त में उसने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे उसकी इस त्रुटि का परिहार कर देते हैं।

सम्वादों के विवेचन में नाटकीयता, पैनापन, भावानुकूलता (प्रणय और क्रोधावेश) आदि संवाद की विशेषताओं के आधार पर वर्माजी के संवादों का विश्लेषण बहुत सुन्दर है; परन्तु उसके बाद 'युवती वार्तालाप', 'लोक-भाषा का प्रयोग', 'मुसलमान पात्रों की आस्वाभाविक भाषा' ये तीन उपशीर्षक और हैं जो बीच में ही आ टपके हैं। यदि लेखक संवाद की एक विशेषता 'पात्रानुकूलता' लेकर उसमें इन उपशीर्षकों का समावेश कर देता तो यह भ्रम उत्पन्न नहीं होता कि वह कथोपकथन का विश्लेषण करते-करते भाषा पर आ गया है यद्यपि 'पात्रानुकूलता, में भी उसे यही करना पड़ता, पर वह भावानुकूलता के सदृश उपयुक्त तत्त्व होता।

'वातावरण-सृष्टि' में लेखक ने बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक रूप-रेखा, उपन्यासों के काल की सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थिति, त्यौहार, रीति-

रिवाज, भौगोलिक और प्राकृतिक दृश्य आदि का विवरण देकर वर्माजी के बुन्देल-खण्ड-प्रेम, प्रकृति के प्रति आसक्ति, वातावरण-निर्माण की क्षमता आदि पर प्रकाश डाला है। इस कार्य में लेखक को अच्छी सफलता मिली है और यह अध्याय अध्ययन-अनुशीलन की प्रवृत्ति का भी परिचायक है। इसका विवेचन शीशे-सा साफ है। लेकिन 'भाषा और शैली' के विवेचन में उसे जैसी सफलता मिलनी चाहिए थी, वैसी नहीं मिली। एक शोध-प्रबन्ध की दृष्टि से यह अध्याय बहुत हल्का लगता है, जैसे जल्दी में लिखा गया हो। भाषा पर केवल एक पैराग्राफ में विचार किया है। उसमें जो संकेत हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि लेखक ने वर्माजी की भाषा का रहस्य समझा है, पर न जाने क्यों विस्तार से नहीं लिखा। शैली के विवेचन में पात्र-चित्र और उपमाओं का उल्लेख करके 'वर्णन'—शीर्षक के अन्तर्गत उसके 'भावात्मक', व्यंग्यात्मक, युद्ध और प्रणय जैसे भेद किए हैं। वर्णन के अन्तर्गत पहले और पिछले की संगति हम समझ सकते हैं। पर व्यंग्यात्मक वर्णन क्या होगा, यह हम नहीं जानते। यह एक कथन का ढंग अवश्य है, जो शैली के अन्तर्गत आता है, वर्णन के अन्तर्गत नहीं है। अन्त में 'कहावत और उक्ति-प्रयोग' और 'नाटकीय व्यंग्य' दो बातों को लेकर अध्याय समाप्त कर दिया गया है। इसमें पहले का समावेश भाषा में होना चाहिए और दूसरे का शैली में। हम आशा करेंगे कि लेखक दूसरे संस्करण में इस अध्याय को विस्तार से लिखकर वर्माजी की भाषा-शैली का ऐसा विवेचन करेंगे जो उसके शोध-प्रबन्ध की प्रतिष्ठा को बढ़ा सके। अन्तिम अध्याय जीवन-दर्शन का है और उसमें लेखक ने वर्माजी की विचार-धारा पर अच्छा प्रकाश डाला है।

इस शोध-प्रबन्ध की बहुमूल्य देन वर्मा जी के वे बीस पत्र हैं जो परिशिष्ट १ के अन्तर्गत दिये गये हैं। हम लेखक को इसके लिये हार्दिक बधाई देते हैं। इन पत्रों से जहाँ यह विदित होता है कि लेखक ने अपने शोध-प्रबन्ध के लिये मौलिक पथ निर्माण किया है वहाँ वर्माजी के साहित्य-सृजन की विधि और उद्देश्य पर भी प्रकाश पड़ता है। एक-एक पत्र अध्येताओं के काम का है। उनमें निहित संकेतों से अनुसंधित्सुओं को अनेक दिशाओं में काय करने की प्रेरणा मिलती है।

अन्त में 'माधव जी सिंधिया' और 'भुवन-विक्रम' उपन्यासों पर भी, जो शोध-प्रबन्ध छपते समय प्रकाश में आये हैं, विचार किया गया है। यों 'उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा' उनके उपन्यासों का सर्वांगीण विवेचन करने वाला शोध-प्रबन्ध है। यह उन पर पहला शोध-प्रबन्ध है, और लेखक ने स्वयं बंजर तोड़ा है, अतः विवेचन में कुछ त्रुटियों का रह जाना संभव है परन्तु सब मिलाकर यह शोध-प्रबन्ध सराहनीय है। हमें जो कमियाँ दिखाई दी हैं उनकी ओर संकेत करने का अभिप्राय लेखक के श्रम की उपेक्षा करना नहीं है। वह एक विनम्र सुझाव है। हमें विश्वास है कि लेखक स्वयं अपने शोध-प्रबन्ध को हमारी शंकाओं अथवा सुझावों के प्रकाश में पढ़कर देखेगा और वांछनीय संशोधन-परिवर्द्धन करेगा।

भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन

डॉ० रामसुभगसिंह

यह पुस्तक एक शोध-प्रबन्ध (थीसिस्) के रूप में लखनऊ विश्वविद्यालय में सन् १९५० में श्री कृष्णदेव उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत की गई थी और इस पर उन्हें वहाँ से पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की गई। तत्पश्चात् डॉ० उपाध्याय ने भोजपुरी साहित्य-सम्बन्धी कुछ अन्य कृतियाँ उपस्थित की हैं।

भोजपुरी भाषा पूर्वी-उत्तरप्रदेश, उत्तरी मध्यप्रदेश तथा पश्चिमी बिहार के जन-साधारण की भाषा है। इसमें लोक-साहित्य की भरपूर सामग्री उपलब्ध है। हिन्दी से इसका बड़ा सामीप्य है। विद्वान् लेखक ने भोजपुरी भाषा के सम्बन्ध में हिन्दी की इस पुस्तक में काफ़ी खोजपूर्ण सामग्री दी है। इसमें भोजपुरी भाषा के लोक-गीतों, मुहावरों, शब्दों आदि के दिए गये उद्धरणों से पता चलता है कि उनके संग्रह करने में लेखक को कितना परिश्रम करना पड़ा होगा। वस्तुतः इस पुस्तक में हिन्दी के माध्यम से भोजपुरी-भाषा से सम्बन्ध का खासा अच्छा परिचय प्राप्त हो जाता है। भोजपुरी-भाषी पाठक के लिए यह पुस्तक न केवल रोचक, वरन् ज्ञानवर्धक भी है; क्योंकि इसमें भोजपुरी इलाके के ग्राम्य-जीवन की बहुत-सी झाँकियाँ मिलती हैं। निःसन्देह, डॉ० उपाध्याय ने इस पुस्तक के माध्यम से भोजपुरी-भाषी जनता का चित्र हिन्दी-साहित्य-पटल पर बड़े सुन्दर ढंग से अंकित किया है, जैसा कि उनके इस निजी संग्रह से बोध होता है :

निरबल, निरगुन, निरधन, गँवार।
अलगा आपन बोली विचार।
कन-कन में जेकरा क्रान्ति बीज,
अइसन भोजपुर टप्पा हमार।

उनके अन्य संग्रह, जैसे—

राजा भैले रजुली; बहोरन भइले धुनिया,
मारेले दलभंजनदेव, दलके ले दुनिया;

ने तो पुस्तक में चार चाँद लगा दिये हैं।

लेखक : डा० कृष्णदेव उपाध्याय
प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी—१
मूल्य : १०) रु०; पृष्ठसंख्या ४५२

इस पुस्तक के चार खण्ड हैं :—प्रथम खण्ड में लोक-गीत, द्वितीय में लोक-गाथा, तीसरे में लोक-कथाएँ और अन्तिम खण्ड में प्रकीर्ण साहित्य पर प्रकाश डाला गया है।

लेखक ने यह स्वीकार किया है कि भोजपुरी भाषा में अमूल्य निधि भरी पड़ी है। परन्तु इसे समुचित उन्नति करने का मौका नहीं मिला। इस भाषा की उन्नति न होने के उन्होंने दो कारण बताये हैं :—(१) भोजपुरी-भाषी क्षेत्र के ब्राह्मण विद्वानों ने, मुख्यतः बनारस में, संस्कृत के माध्यम से ही अपना साहित्य-सृजन किया; और (२) इस क्षेत्र के राजाओं, ज़मींदारों आदि ने भी भोजपुरी के उत्थान का कोई ख़ास प्रयास नहीं किया। ये कारण तथ्य-शून्य नहीं हैं। तथापि यह सर्वविदित है कि रामायण के रचयिता तुलसीदास ने, जो स्वयं ब्राह्मण थे, काशी में ही रामायण की रचना संस्कृत में नहीं की। आलोच्य पुस्तक में डॉ० उपाध्याय ने भी "जो राउर अनुशासन पाऊँ" जैसे उद्धरण देकर यह प्रमाणित किया है कि भोजपुरी शब्दों का तुलसी-कृत रामायण में काफ़ी समावेश है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी की भोजपुरी भाषा की पुस्तकों की सर्वत्र मान्यता है।

इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि सदा से ही काशी नगरी में देश के कोने-कोने से आने वाले विद्वानों का जमघट रहा है। प्रधानतः धार्मिक केन्द्र होने के कारण काशी उस विद्या व भाषा का भी केन्द्र रही है जिनमें धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती थी। इससे डॉ० उपाध्याय का काशी के ब्राह्मणों पर भोजपुरी की सेवा न करने का दोष मढ़ना उतना न्यायसंगत नहीं है। वैसे ही भोजपुरी इलाके के राजे तथा ज़मीदारों आदि के बारे में भी कहा जा सकता है। महाराजकुमार दुर्गाशंकर सिंह के भोजपुरी ग्रन्थों का उल्लेख डॉ० उपाध्याय ने स्वयं अपनी पुस्तक में किया है।

इस पुस्तक से ऐसा प्रतीत पड़ता है कि लेखक ने इसे ध्यान से नहीं दोहराया था। अन्यथा इसमें अपने बारे में वे कहीं अन्य पुरुष और कहीं उत्तम पुरुष का प्रयोग नहीं किए होते, जैसा कि पुस्तक के "वक्तव्य" में भी है। 'वक्तव्य" के अन्तिम पैरा में जहाँ ६ बार अपने लिए उन्होंने "लेखक" शब्द का इस्तेमाल किया है, वहाँ एक बार "मैं" तथा "मुझे" और दो बार "मेरा" का भी प्रयोग किया है। शोध-प्रबन्ध (थीसिस्) में ऐसी त्रुटियों के लिए कोई स्थान नहीं होता।

"नवीन सामग्री" शीर्षक अध्याय में डॉ० उपाध्याय ने अपनी रचना "भोजपुरी और उसका साहित्य" के लिए यह बताया है कि उसमें लोक गीत आदि का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अपनी दूसरी रचना "लोक साहित्य की भूमिका" को उन्होंने लोक-साहित्य के मूलभूत तत्त्वों तथा सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा करने

वाली सर्वप्रथम तथा मौलिक पुस्तक कहा है। अपनी "भोजपुरी लोक-कथाएँ" नामक पुस्तक को उन्होंने लोक-कथाओं का सर्वप्रथम संग्रह बतलाया है। "भोजपुरी लोक-संस्कृति की रूपरेखा" नामक अपनी चौथी पुस्तक को उन्होंने एक "प्रकाण्ड ग्रन्थ" की संज्ञा दी है। अपनी ही पुस्तक में अपनी कृतियों के बारे में ऐसी संज्ञाएँ दी जानी उचित नहीं जँचतीं। ऐसी संज्ञाओं से सम्पन्न पुस्तकें जब डॉ० उपाध्याय ने भोजपुरी-साहित्य में स्वयं उपस्थित कर दी हैं तो उनकी "भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन" नामक यह आलोच्य पुस्तक फीकी पड़ जाती है।

भोजपुरी-भाषी विभिन्न क्षेत्रों में व्यवहृत ठेठ व आदर्श भोजपुरी के जो उदाहरण डॉ० उपाध्याय ने दिए हैं वे सन्तोषप्रद होते हुए भी किसी "शोध प्रबन्ध" के लिए उतने उपयुक्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए पृष्ठ ३० के अन्तिम पैरा में जो उद्धरण उन्होंने दिया है उसमें "मगर" शब्द का प्रयोग है। ठेठ व आदर्श भोजपुरी में "मगर" शब्द व्यवहृत नहीं होता। पुस्तक के पृष्ठ ३३ पर डॉ० उपाध्याय ने पश्चिमी भोजपुरी व आदर्श भोजपुरी के विशेषण-विशेष्य के लिंग, वचन व कारक की चर्चा करते हुए जो भेद बतलाया है वह भोजपुरी के सही स्वरूप का पूर्ण परिचायक नहीं है। आदर्श भोजपुरी में जहाँ "नीमन बेटा" और "नीमन बेटी" का प्रयोग होता है वहाँ "बड़का बेटा", "बड़की बेटी", "छोटका लड़का", "छोटकी लड़की" जैसे प्रयोगों में विशेषण विशेष्य के लिंग और वचन के अनुसार बदलता रहता है। इस ओर डॉ० उपाध्याय का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ।

अन्य भाषाओं, बोलियों व उपबोलियों से भोजपुरी का तुलनात्मक अध्ययन कर लेखक ने अपने विषय के साथ बड़ा न्याय किया है। किन्तु, उनका तुलनात्मक उदाहरण उपस्थित न कर उन्होंने पुस्तक के महत्त्व को कम कर दिया है। उदाहरण-स्वरूप पृष्ठ ३४ व ३५ पर भोजपुरी की एक बोली "नागपुरिया" और दो उपबोलियाँ "मधेसी" व "थारू" की चर्चा की गई है, पर उनका वहाँ कोई उदाहरण नहीं है।

भोजपुरी के व्याकरण की चर्चा के स्थान (पृष्ठ ३५) पर भी कहीं उदाहरण देने और कहीं न देने का डॉ० उपाध्याय का यह दोष सहज ही दृष्टिगोचर हो जाता है। जहाँ उन्होंने एकवचन के प्रयोग किये जाने की चर्चा की है वहाँ वे उसका उदाहरण देना भूल गए हैं। परन्तु वहीं मध्यम पुरुष के एकवचन तथा बहुवचन दोनों ही के उदाहरण दिए हैं। आगे चलकर वर्तमानकालिक रूप के उदाहरण न देने की उन्होंने फिर भूल की है।

इस पुस्तक में ऐसे दोष प्रत्येक प्रकार के उदाहरणों के सम्बन्ध में मिलते हैं। पुस्तक में उल्लिखित कुछ ऐतिहासिक घटनाओं को भी सर्वथा सही नहीं

माना जा सकता। सन् १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम को इस पुस्तक में डॉ० उपाध्याय ने "अंग्रेज़ों के विरुद्ध बग़ावत" की संज्ञा दी है और इसके दूसरे ही वाक्य में पृष्ठ १८ पर लिखा है "इस युद्ध में कुंवरसिंह पराजित हुए···।" कोई भी इतिहास का जानकार यह कथन स्वीकार नहीं कर सकता। वस्तुतः श्री कुंवरसिंह मार्च व अप्रैल १८५८ में अंग्रेज़ी सेना को बार-बार शिकस्तें देते हुए आज़मगढ़ (उत्तर प्रदेश) से अपनी राजधानी जगदीशपुर (बिहार) की ओर विजय-श्री प्राप्त करते आगे बढ़ते गए। २३ अप्रैल, १८५८ को दुलउर में अंग्रेज़ी सेना के छक्के छुड़ा कर २४ अप्रैल को उन्होंने जगदीशपुर को आज़ाद किया और वहाँ विजयोल्लास मनाया। विजय का सेहरा बाँधे हुए २६ अप्रैल, १८५८ को अपनी राजधानी में ही श्री कुंवरसिंह का स्वर्गवास हुआ।

भोजपुरी क्षेत्र के सभी खेतों, क्यारियों, कन्दरों व खंडहरों में कुंवरसिंह के शौर्य, सूझ व पराक्रम के बड़े सुन्दर गीत, फाग, चैत आदि गाये जाते हैं। पर उनके उचित उदाहरण का इस पुस्तक में उतना प्राधान्य नहीं है। ख़ैर! इस पुस्तक में दिए गये डॉ० उपाध्याय के कतिपय सुझाव भोजपुरी की उन्नति की दृष्टि से सामयिक व उपयोगी हैं। उदाहरणस्वरूप भोजपुरी भाषा में प्रसारण के लिए एक रेडियो स्टेशन के स्थापित किये जाने का सुझाव श्रेयस्कर है। भोजपुरी में व्यवहृत खेतीबारी आदि सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों—जैसे हल, फाल, पैना, जुआठ, नाधा, हरिष, परिहथ आदि—को हिन्दी में अपनाने का सुझाव भी बड़ा मार्मिक व वांछनीय है। ऐसा करने से हिन्दी को काफ़ी सबल किया जा सकता है। इससे हिन्दी भाषा में भाव-प्रकाशन में बड़ी शक्ति आ जायेगी और वह जनमन का अनुरंजन कर सकेगी।

भोजपुरी-साहित्य की जानकारी की दृष्टि से इस पुस्तक को एक उपयोगी पुस्तक कहा जा सकता है। भोजपुरी-भाषी साधारण लोगों की रुचि के लिहाज़ से यह पुस्तक काफ़ी महत्त्वपूर्ण व लाभदायक है। इससे न केवल उनको अपनी भाषा का सर्वांगीण दर्शन होता है, वरन् उसके प्रति उनकी एक नई ममता और स्वाभिमान जाग्रत हो जाता है। इस पुस्तक से यह साफ़ झलकता है कि भोजपुरी भाषा में महिलाओं के धार्मिक, सामाजिक, त्यौहारिक आदि लोकगीत कितने मधुर, सरस व भावपूर्ण हैं। वैसे, लोक-गीतों से प्रेम रखने वाले लोगों का ध्यान इस पुस्तक की ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है।

साहित्य की दृष्टि से भोजपुरी-भाषी क्षेत्र एक मरुस्थल-सा था। परन्तु वहाँ उत्साही साहित्यिकों ने कुछ मरूद्यान बना डाले। डॉ० उपाध्याय की प्रस्तुत पुस्तक बहुत कुछ वैसी ही है।

कृषक जीवन-सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली

डॉ० भोलानाथ तिवारी

पारिभाषिक और सामान्य दोनों ही प्रकार की लोक-शब्दावली का भाषा-शास्त्र और सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। यह हर्ष का विषय है कि हिन्दी में इस दिशा में अब कार्य प्रारम्भ हो गया है।

अन्य अनेक क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी भारत में पहले यूरोपीय विद्वानों ने ही कार्य शुरू किया था। पैट्रिक कारनेगी का 'कचहरी टैक्नीकलिटीज' (१८७७ ई०), विलियम क्रुक का 'ए रुरल एण्ड एग्रिकल्चरल ग्लॉसरी फ़ॉर द नार्थ-वेस्ट प्राविन्सिज़ एण्ड अवध' (१८७६ ई०), ग्रियर्सन का 'बिहार पीज़ैण्ट लाइफ़' (१८८५ ई०), हरिहर-प्रसाद गुप्त का 'आज़मगढ़ ज़िले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग से सम्बन्धित शब्दावली का अध्ययन' (१९५६ ई०) तथा विश्वनाथ प्रसाद का 'कृषिकोश' (१९५९ ई०) आदि पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से उल्लेख्य हैं।[१] आलोच्य ग्रंथ जो पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का प्रथम खण्ड है, इस दिशा में नवीनतम प्रयास है। इसमें अलीगढ़-क्षेत्र (लगभग २००० वर्गमील) के कृषक-जीवन सम्बन्धी शब्दावली दी गयी है।

इस खण्ड में खाद सिंचाई, जुताई, सुहगाई, खुदाई, बुवाई, नराई, भराई, खेती की रक्षा, फसल का काटना और ढोना, खलिहान, खेत, मौसम, पशु और जीव-जन्तु, घर, गृह-उद्योग, पहनावा तथा खान-पान आदि-विषयक शब्द संकलित हैं तथा उन्हें वर्णन, चित्रों एवं रेखाचित्रों द्वारा समझाया गया है।

इस प्रकार के कार्यों का प्राण होता है विषय को विस्तृत रूप में लेना तथा उसका शुद्ध अंकन। सुमन जी ने इन दोनों ही दिशाओं में अपने दायित्व का बड़ी

लेखक : डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

१. इन पंक्तियों के लेखक ने भी 'कहाँरों की पारिभाषिक शब्दावली' तथा 'हथिवानों की पारिभाषिक शब्दावली' आदि कुछ लेख कुछ वर्ष पूर्व लिखे थे जो 'हिन्दी अनुशीलन' तथा 'संगम' में प्रकाशित हुए थे।

सतर्कता से निर्वाह किया है। किन्तु, इसके बावजूद यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि भाषा-भूगोल (linguistic geography) तथा शब्द-भूगोल (word-geography) में आजकल यह कार्य जिस रूप में किया जा रहा है, उसे देखते हुए प्रस्तुत प्रबन्ध में कुछ और बातें भी अपेक्षित थीं। किसी भी भौगोलिक क्षेत्र के शब्द-भण्डार का जब अध्ययन किया जाता है तो उसके अन्तर्गत कई प्रकार की बातें लेनी पड़ती हैं: (क) पहली बात तो यह है कि विशिष्ट विषय से सम्बद्ध कितनी शब्दावली उस क्षेत्र-विशेष में प्रचलित है। यह आधार-कार्य है। (ख) शब्द-संकलन के बाद उनके अर्थों की समस्या आती है। इसके अन्तर्गत कई बातें विचार्य होती हैं, जैसे (१) उन विभिन्न शब्दों के अर्थ क्या हैं ? (२) उनमें कितने शब्द पर्याय, या लगभग मिलते-जुलते अर्थ वाले हैं। सिद्धान्ततः किसी भी भाषा में पूर्णतः एक अर्थ रखने वाले शब्द प्रायः नहीं मिलते। एक अर्थ वाले या पर्याय कहलाने वाले शब्दों में भी सूक्ष्म अन्तर होता है। लोकभाषा में तो शुद्ध समानार्थी शब्दों, विशेषतः पारिभाषिक शब्दों का और भी अभाव होता है। उदाहरणार्थ, भोजपुरी क्षेत्र में गाज़ीपुर के उत्तर के गाँवों में रोटी के लिए रोटी, हथरोटिया, लिट्टी, दोहथी या दोस्ती, मकुनी आदि शब्द हैं, जिनमें 'रोटी' एक सामान्य शब्द है, साथ ही इसका प्रयोग चौके-बेलन की रोटी के लिए भी होता है। 'हथरोटिया' हाथ से (चौके-बेलन से नहीं) बनी रोटी है जो कुछ मोटी और छोटी होती है। 'लिट्टी' और भी मोटी रोटी होती है। दोहथी या दोस्ती दो लोइयों से बनती है पर फुलाने के बाद बीच से चीर कर दो कर ली जाती है। 'मकुनी' वह रोटी होती है जिसमें कुछ भर देते हैं। इस प्रकार मिलते-जुलते अर्थ वाले शब्दों का सूक्ष्म अन्तर क्या है, यह भी विचारणीय होता है। (३) कभी-कभी एक ही क्षेत्र में एक स्थान पर एक शब्द का अर्थ कुछ होता है और दूसरे स्थान पर कुछ और होता है, क्षेत्रानुसार इसका भी संकेत आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए ब्रज प्रदेश में ही 'सिकन्दराराऊ' के पास 'झोल' या 'झोर' का अर्थ कुछ और है, वह 'करार' का प्रायः समानार्थी है किन्तु बाह तहसील में 'झोर' 'करार' से सर्वथा भिन्न है, एक में बेसन का 'लगावन' अपेक्षित है किन्तु दूसरे में कुछ और का। इसी प्रकार 'खड़पुरी' भोजपुरी क्षेत्र में चीनी या खांड़ आदि भरकर बनाई गई पूरी है, किन्तु आगरा के आसपास बड़े बताशे को 'खड़पुरी' कहते हैं। (४) इस प्रसंग में चौथी उल्लेखनीय बात यह है कि एक अर्थ, विचार या वस्तु के लिए पूरे क्षेत्र में एक ही शब्द है या भिन्न-भिन्न ? उदाहरणार्थ अलीगढ़ क्षेत्र में जिस बड़े बताशे के लिए 'फैना' शब्द चलता है, आगरे के बाह तहसील के आस-पास उसे 'खड़पुरी' कहते हैं। इसी प्रकार कुछ भोजपुरी क्षेत्रों में गंगा के एक किनारे पर साफ़ या पवित्र के एक ख़ास अर्थ में 'नीमन' शब्द चलता है तो दूसरे किनारे पर उसी अर्थ में 'फरिच'। (ग) एक ही क्षेत्र में कुछ स्थानों पर कोई-कोई शब्द एक रूप में बोला जाता है तो दूसरे स्थान पर दूसरे रूप में। उदाहरणार्थ, ब्रज क्षेत्र में ही कहीं-कहीं 'गिंदोरा' कहते हैं और कहीं 'गिंदौरा' तथा कहीं-कहीं 'गिदौड़ा'। इसी प्रकार 'गूझा'

'गूँझा' 'गूँजा' 'गुझिया' आदि रूप भी एक ही शब्द के चलते हैं। (घ) कभी-कभी एक ही क्षेत्र या स्थान पर कुछ जातियों या वर्गों या स्तरों में भी शब्दों में अन्तर होता है। उदाहरणार्थ, मैंने अपने गाँव (आरीपुर, ज़िला ग़ाज़ीपुर) में देखा है कि ऊँची जातियाँ जिसे 'पूरी' कहती हैं, उसे कुछ नीची जातियाँ (उसी गाँव में) 'सोहारी' कहती हैं। इसी प्रकार जातियों या वर्गों के अनुसार शब्दों के अर्थ या रूप में भी कभी-कभी अन्तर मिलता है।

प्रस्तुत निबन्ध में इन बातों का ध्यान प्रायः नहीं रखा गया है। यदि विषय के एक-एक अंश (जैसे भोजन में रोटी या हलवा) की शब्दावली देकर उसकी व्याख्या कर दी गई होती और फिर उसी के साथ (क) लिए गए पूरे क्षेत्र में उन शब्दों के रूपों में अन्तर है या नहीं, (ख) पूरे क्षेत्र में उन शब्दों का ठीक वही अर्थ है जो समझाया गया है या थोड़ा-बहुत अन्तर है, (ग) यदि अर्थ या रूप की दृष्टि से अन्तर है तो वह कहाँ-कहाँ है, (घ) एक ही स्थान पर जाति, वर्ग या स्तर की दृष्टि से अर्थ, शब्द, या रूप में अन्तर है या नहीं, यदि है तो विभिन्न अर्थों, शब्दों या रूपों का वितरण किस प्रकार का है, आदि बातों का भी उल्लेख कर दिया गया होता तो यह संग्रह और भी अधिक उपयोगी, मनोरंजक तथा पूर्ण हो गया होता।

उपर्युक्त बातें सैद्धांतिक दृष्टि से कही जा रही थीं। प्रायौगिक दृष्टि से यहाँ इन बातों को लेकर पूरे ग्रंथ की पूरी तरह से समीक्षा करना सम्भव नहीं है। यदि कोई इस प्रबन्ध के साथ पूरे अलीगढ़ क्षेत्र में घूमे तो तभी विभिन्न विषयों के शब्द-संग्रह की पूर्णता-अपूर्णता या इस प्रकार की अन्य बातों पर प्रामाणिक ढंग से कुछ कहा जा सकता है। हाँ, इस दिशा में बानगी के तौर पर कुछ संकेत अवश्य किए जा सकते हैं। नक्शे तथा स्थान-संकेत आदि से स्पष्ट है कि लेखक ने 'अनूपशहर' को भी अपने क्षेत्र में लिया है, किन्तु अनूपशहर तथा आसपास के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त शब्दावली के प्रकाश में जब पुस्तक को देखते हैं तो कई कमियाँ पाते हैं। उदाहरणार्थ, पुस्तक का भोजन-विषयक अध्याय लें। रोटियों के प्रसंग में (पृ० २६३) यहाँ 'दोहथी' का उल्लेख नहीं है, यद्यपि अनूपशहर के कुछ भागों में चकरा-बेलन से न बनाकर दोनों हाथों की सहायता से बनाई जाने वाली मोटा रोटी के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है।[1] पुस्तक में 'परामठे' का उल्लेख है (पृ० २६४) किन्तु अनूपशहर में कहीं-कहीं उसे 'परौंठा' भी कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ जिसे 'सोहार' (पृ० २६४) कहा गया है उसे 'सुहाल' भी कहते हैं। इन बातों का लेखक ने उल्लेख नहीं किया है।

गुड़ और भेली के प्रसंग में (पृ० १६२) लेखक ने राब, लाट, सीरा आदि को लिया है किन्तु 'पिंडी' शब्द छूट गया है। यह शब्द (अनूपशहर में) बहुत प्रचलित

---

१. भोजपुरी शब्द 'दोहथी' जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है, अर्थ की दृष्टि से इससे भिन्न है।

न होने पर भी अप्रचलित नहीं कहा जा सकता। भोजपुरी में इसे पिड़िया (सं० पिंडिका) कहते हैं।

आटे की बहुत पतली और छोटी पूड़ी को 'खीकरी' (पृ० २६४) कहा गया है। किन्तु लिए गए क्षेत्र के कुछ भागों में 'खीकरी' का कड़ी होना भी आवश्यक है। डॉ० सुमन ने 'सकलपारे' को त्रिभुजाकार (पृ० २६५) कहा है। सम्भव है उनके लिए गए क्षेत्र के कुछ भागों में यह त्रिभुजाकार बनता हो, किन्तु कुछ क्षेत्रों में इसका स्वरूप सामान्यतः समानान्तर चतुर्भुज (▱) जैसा होता है, इसका भी यहाँ उल्लेख होना चाहिए था। वहीं नमकीन और मोमनदार सकलपारे को मठरी कहा गया है। ऊपर हम देख चुके हैं कि सकलपारे को लेखक ने त्रिभुजाकार कहा है किन्तु मठरी प्रायः गोली बनती है, अतः उसे नमकीन और मोमदार सकलपारा कहना कम से कम उन क्षेत्रों (जैसे अनूपशहर के आस-पास) की दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता। गन्ने के रस में पके चावल को 'रसवाई' (पृ० २६६) कहा गया है, किन्तु लेखक द्वारा लिए गए क्षेत्र में अलीगढ़ के आस-पास इसके लिए एक और शब्द 'रसावल' भी चलता है, अतएव इस प्रसंग में उसका उल्लेख भी अपेक्षित था। लेखक ने जिसे तिरकौन या समोसा (पृ० २६८) कहा है उसे अनूपशहर के आस-पास 'तिकोना' भी कहते हैं।

मिठाइयों के प्रसंग में 'चनौरी' (पृ० २६८) का उल्लेख हुआ है। यहीं 'इलायचीदाना' का उल्लेख भी अपेक्षित था। अनूपशहर में तथा उसके आस-पास चनौरी के बड़े रूप को 'इलायचीदाना' कहते हैं। यह प्रायः प्रसाद रूप में प्रयुक्त होता है। इसी प्रसंग में (पृ० २६९) कहा गया है कि छाक में खाँड मिला दी जाती है तो उसे 'मट्ठा' कहते हैं। वस्तुतः 'मट्ठा' छाक में खाँड़ मिलाकर नहीं, अपितु छाक को खाँड में पाग कर बनाते हैं। कम से कम प्रस्तुत क्षेत्र के कुछ भागों में ऐसा ही होता है। इसी पृष्ठ पर 'खजुला' 'नामक मिठाई का उल्लेख है। लिए गए क्षेत्र में इसे 'खजला' भी कहते है। आगे चलकर 'छेने' (फटे दूध) से बनने वाली मिठाइयों का वर्णन है। इस प्रसंग में 'छेनिया' 'छेनिया सन्देश' आदि के साथ 'मक्खन-बड़ा' का भी उल्लेख किया गया है। सम्भव है लेखक को लिए गए क्षेत्र के कुछ भागों में छेने से बनी मिठाई के लिए इस नाम का प्रयोग मिला हो, किन्तु कुछ भागों में विशेषतः अनूपशहर के पास 'मक्खन-बड़ा' मिठाई छेने से नहीं बनती। इसे दही से बनाते हैं। दही को बाँधकर उसका पानी निकाल देते हैं और फिर उसमें मैंदा या आटा मिलाकर इसे तैयार करते हैं।

मैंदा से बनने वाली मिठाइयों में 'गुलाबजामुन' का उल्लेख (पृ० २७१) किया गया है और कहा गया है कि 'मैंदा की गोल-गोल वस्तु जो घी में सिकने के

बाद चाशनी में डुबाई जाती है गुलाबजामुन कहाती है।' इस सम्बन्ध में दो बातें उल्लेख्य हैं। लिए गए क्षेत्र के काफ़ी भागों में इसे केवल मैदा से न बनाकर, उसमें खोवा भी मिलाते हैं। इसी प्रकार इसे केवल गोल ही न बनाकर लम्बी भी बनाते हैं। पुस्तक के कुछ भागों से संकेतित कमियों के ये कुछ उदाहरण-मात्र हैं। इस दृष्टि से पूरी पुस्तक विचारणीय है, किन्तु प्रस्तुत समीक्षा में इतने अधिक विस्तार की गुंजाइश नहीं है।

इस प्रकार के संग्रह में व्युत्पत्ति आवश्यक तो नहीं कही जा सकती, किन्तु उससे संग्रह की उपयोगिता निश्चय ही बढ़ जाती है। इस प्रबन्ध में भी कुछ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। इस सम्बन्ध में एकरूपता अपेक्षित थी। यदि व्युत्पत्तियाँ दी गई तो ऐसे सभी शब्दों की दी जानी चाहिए थीं जिनकी दी जा सकती थीं या फिर इस कार्य को लिया ही नहीं जाना चाहिए था। बिना कोई विशेष आधार दिए कुछ की व्युत्पत्तियाँ देना और कुछ की न देना कुछ अव्यवस्थित-सा लगता है। कुछ व्युत्पत्तियाँ तो सम्भवतः कठिन या अनिश्चित होने के कारण छोड़ दी गई हैं, किन्तु बहुत-सी ऐसी भी छोड़ दी गई हैं जो इस प्रकार की नहीं कही जा सकतीं, जैसे मैंदा, घोड़ा, अज़दहा आदि।

जो व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं, इनमें कुछ अशुद्ध हैं। उदाहरणार्थ 'तमाखू' को अंग्रेजी शब्द 'टोबैको' से सम्बद्ध कहा गया है (पृ० ५४), किन्तु वस्तुतः भारत में तम्बाकू अंग्रेज़ों के आने के पूर्व ही पुर्तगालियों के साथ आ चुका था। इस प्रकार इसका सम्बन्ध पुर्तगाली शब्द 'तोबाको' (tobacco) से है। कहना न होगा कि, ऊपर जिन छोटे-मोटे संकलनों का उल्लेख किया गया है, उनसे प्रस्तुत प्रबन्ध का महत्त्व कम नहीं होता और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इसके द्वारा डॉ० सुमन ने लोक-शब्दावली के संग्रह और विवेचन-कार्य को आगे बढ़ाया है और इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

निमाड़ी और उसका साहित्य : एक मूल्याङ्कन

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

'निमाड़ी और उसका साहित्य' नामक ग्रन्थ डॉ० कृष्णलाल 'हंस' के पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का संक्षिप्त रूप है जो ४७८ पृष्ठों में समाविष्ट है। ग्रन्थ का आकार-प्रकार, रूप, मुद्रण, गेट-अप आदि सुन्दर है। प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ० उदयनारायण तिवारी कृत 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' की परम्परा में लिखा गया है। 'गढ़वाली भाषा और उसका लोक-साहित्य' नामक शोध-प्रबन्ध भी इसी परम्परा में आता है।

विद्वान् लेखक ने विवेच्य विषय-सामग्री को पहले दो खण्डों में विभक्त करके अन्त में निमाड़ी भाषा के कुछ लोकगीतों, लोककथाओं और लोकशब्दों को भी परिशिष्ट के रूप में संग्रहीत किया है। ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में भाषिक विवेचन है और द्वितीय में साहित्यिक स्वरूप-विश्लेषण।

निमाड़ी भाषा के विवेचन के लिए लेखक महोदय ने सात अध्यायों को निम्नांकित शीर्षकों से लिखा है—(१) निमाड़ी-भाषी प्रदेश, (२) भारतीय आर्य-भाषाओं में निमाड़ी का स्थान, (३) निमाड़ी का स्वरूप, (४) निमाड़ी और उसकी सीमावर्ती बोलियाँ, (५) ध्वनितत्त्व, (६) स्वरों का विकास (७) रूपतत्त्व (विकारी शब्द)।

निमाड़ी-साहित्य के स्वरूप का दर्शन कराने के लिए चार अध्याय लिखे गये हैं—(१) निमाड़ी साहित्य का सामान्य परिचय, (२) निमाड़ी का गीत-साहित्य, (३) निमाड़ी का कहानी-साहित्य, (४) निमाड़ी का प्रकीर्ण साहित्य।

प्रस्तुत ग्रन्थ लोक-भाषा तथा लोक-साहित्य के क्षेत्र में एक अभिनव योगदान है। विद्वान् लेखक ने बड़ी विद्वत्ता और परिश्रम से इस ग्रन्थ की सृष्टि की है। हिन्दी-

---

लेखक : कृष्णलाल हंस, निमाड़ी और उसका साहित्य
प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
पृष्ठ संख्या : ४७८
मूल्य : ८ रुपये

प्रदेश की उपभाषाओं में निमाड़ी का उल्लेख पूर्ववर्ती भाषाशास्त्रियों ने गौण रूप से ही किया था। सर जार्ज ग्रियर्सन ने निमाड़ी को दक्षिणी राजस्थानी के अन्तर्गत माना था; किन्तु डॉ० हंस ने बड़े प्रबल प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि निमाड़ी न तो दक्षिणी राजस्थानी के अन्तर्गत है और न हिन्दी के पूर्वी वर्ग की ही भाषा है; अपितु यह पश्चिमी हिन्दी की एक प्राणवन्त उपभाषा है, जिसका वास्तविक सम्बन्ध बुन्देली, ब्रजभाषा और खड़ी बोली से सिद्ध होता है। इस मान्यता को गम्भीरतापूर्वक गहन अध्ययन के वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने में विद्वान् लेखक की पैनी शोधन-दृष्टि तथा उपस्थापन-पटुता पूर्णरूपेण प्रकट हो जाती है।

निमाड़ी निमाड़ प्रान्त की भाषा का नाम है। 'निमाड़' की व्युत्पत्ति 'निम्न-वाड़' से देकर भूगोल और भाषाशास्त्र का सुन्दर रूप में समन्वय किया गया है। निमाड़ी भाषा के ध्वनि तत्त्व और रूपतत्त्व के विश्लेषण से पूर्व लेखक ने जो निमाड़ी की विकासपरम्परा पर प्रकाश डाला है, उससे पाठकों को भारत की सभी प्रमुख प्रमुख प्राचीन तथा मध्ययुगीन भाषाओं के स्वरूप का दिग्दर्शन हो जाता है। वैदिक भाषा से लेकर अपभ्रंशकाल तक की भाषा-परम्परा से भी परिचय प्राप्त हो जाता है। निमाड़ी की शब्द-सम्पत्ति का पूरा विवरण तथा विश्लेषण प्रस्तुत करने के उपरान्त विज्ञ लेखक ने गहन अध्ययन के आधार पर निमाड़ी की बोलियों की प्रायः सभी ध्वनि-सम्बन्धी तथा व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताएँ उपयुक्त उदाहरणों के साथ स्पष्ट की हैं।

प्रथम खण्ड के चतुर्थ और पंचम अध्याय ग्रन्थ में बड़े महत्त्व के हैं। निमाड़ी के साथ खानदेशी, मालवी, मारवाड़ी, बुन्देली और ब्रजभाषा नाम की सीमावर्ती बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए लेखक महोदय ने यह सिद्ध किया है कि निमाड़ी वाक्यरचना, ध्वनि और रूपतत्त्व की दृष्टि से बुन्देली तथा ब्रजभाषा के ही निकट ठहरती है। मारवाड़ी से इसका सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में भाषा की प्रकृति और स्वरूप से अवगत होने के लिए उच्चारण, सर्वनाम, परसर्ग, लिंग, वचन और क्रियारूप ही प्रमुख तत्त्व हैं। अतः डॉ० हंस ने इन्हीं उक्त तत्त्वों का तुलनात्मक विवेचन अपने ग्रन्थ में विस्तार से किया है जिससे पाठक निर्भ्रान्त रूप से यह स्वीकार कर लेता है कि निमाड़ी को राजस्थानी की एक बोली मानने का कोई कारण नहीं है। वह निश्चित रूप से पश्चिमी हिन्दी की ही एक बोली है।

विषय-सामग्री की साङ्गोपाङ्गता के साथ-साथ लेखक की विषयप्रतिपादन-शैली सरल और सुस्पष्ट है।

उपर्युक्त गुणों के बीच ग्रन्थ में कुछ भूलें और अशुद्धियाँ भी दिखाई पड़ीं। इनमें से कुछ भूलें तो मुद्रण-सम्बन्धी मानी जा सकती हैं। जैसे, अधिकाँश[1] द्रविण[2]

---

१. अधिक अंश के अर्थ में 'अधिकांश' शब्द है।

२. एक जाति-विशेष के अर्थ में 'द्रविड़' शब्द है।

(पृ० १२-१३)। क्षेत्रफल और जनसंख्या का विवरण करते हुए पृष्ठ ५ पर लेखक महोदय लिखते हैं कि—"इसीलिए हमने इस तहसील को निमाड़ी भाषी भाग में स्थान नहीं दिया (नक्शा देखिए)।" किन्तु किसी कारणवश ग्रन्थ में नक्शा सम्मिलित होने से रह गया है।

ग्रन्थ के अनुच्छेद २८६ में 'मउसा' शब्द में 'अ उ आ' का स्वर-संयोग बताया है, जबकि इसमें अ उ का ही स्वर-संयोग है। अनुच्छेद ३०७ में नमक, धमक, कमल आदि में तीन व्यंजनों का संयोग लिखा गया है, जबकि इन शब्दों में ऐसा व्यंजन-संयोग है ही नहीं।

'राजा, रानी' (अनु० ३११) को एकाक्षरी शब्द और 'अटकलबाज़ी' (अनु० ३११) को त्रि-अक्षरी शब्द बताया गया है, जबकि इन शब्दों में अधिक अक्षर पाये जाते हैं।

अनुच्छेद ४७५ में लेखक महोदय ने निमाड़ी में अघोषीकरण की प्रवृत्ति सिद्ध करते हुए निम्नांकित दो उदाहरण दिये हैं—भगिनी>बहिण। दण्ड>डंड। 'बहिण' और 'डंड' शब्दों की ध्वनियों में से हमें तो नितान्त भी अघोष ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती और न लिपिरूप में दिखाई ही पड़ती है।

अनुच्छेद ६९५ में फ़ारसी के उन उपसर्गों को लिखा गया है, जो निमाड़ी भाषा में प्रयुक्त होते हैं। उपसर्गों की उस सूची में 'ऐन', 'ग़ैर', 'बिल', 'बिला' और 'ला' को भी फ़ारसी-उपसर्ग बताया गया है, जब कि ये अरबी भाषा के उपसर्ग हैं।

अनुच्छेद २३८ में लेखक महोदय लिखते हैं—"पश्चिमी हिन्दी में जब सकर्मक क्रिया भूतकाल में होती है, तब सदैव पुंल्लिग होती है।" उदाहरण दिया है—'उसने कुतिया को मारा'। यहाँ लेखक का 'सदैव' शब्द आपत्तिजनक है, क्योंकि सकर्मक क्रिया भूतकाल में होने के साथ-साथ स्त्रीलिंग भी होती है, जैसे—"उसने कुतिया मारी," अथवा "मोहन ने पुस्तक पढ़ी।" यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पश्चिमी हिन्दी की प्रकृति का पूर्णरूपेण वाक्यरचनात्मक अध्ययन किये बिना ही 'सदैव' के दावे के साथ उक्त लिंग-सूचक नियम बहुत जल्दबाजी में घोषित कर दिया गया है।

अनुच्छेद ३९६ में लिखा गया है कि "प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के कुछ शब्दों का अन्त्य 'क्' निमाड़ी के 'स्' में परिवर्तित भी मिलता है। यथा दिक्—दिसा।" यहाँ 'क्' का 'स्' में परिवर्तन नहीं है। वास्तव में 'श्' का 'स्' में परिवर्तन है, क्योंकि संस्कृत में एक शब्द 'दिशा' है, उसीसे निमाड़ी में 'दिसा' हुआ है। इसी प्रकार सं० आशा>आसा। वंश>वंस इत्यादि।

आज्ञार्थक क्रिया में 'लिखो' और भूतकाल में 'लिख्यो' रूप ब्रजभाषा के बताये गए हैं। ब्रजभाषा के साहित्य में ये रूप मिल तो जाते हैं', किन्तु जनपदीय ब्रजभाषा की प्रकृति औकारान्त है। हाँ, कन्नौजी और बुन्देली ओकारान्त रूप अवश्य रखती है, जैसे कन्नौजी० 'गओ'; ब्रजभाषा० 'गयौ'। आज्ञार्थक ब्रज० 'लिखौ'।

उपर्युक्त इन थोड़ी-सी भूलों तथा अशुद्धियों को नगण्य-सी मानते हुए हम विश्वास के साथ निवेदन कर सकते हैं कि 'निमाड़ी और उसका साहित्य' ग्रन्थ हिन्दी भाषा के लिए सराहनीय योगदान है और नई दिशा के इस गूढ़ परिश्रम के लिए डॉ० 'हंस' बधाई के पात्र हैं। पूर्ण आशा है कि भाषा के विद्वानों तथा विद्यार्थियों में इस उत्तम ग्रन्थ का आदर होगा क्योंकि यह अपने राष्ट्र भारत की भारती की आरती उतारने के लिए सँजोए गए मंजुल दीपकों में से एक है।

आन्ध्र हिन्दी रूपक

श्री० हनुमच्छास्त्री

'आन्ध्र हिन्दी रूपक' डॉ० पाण्डुरंगाराव जी का नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. डिग्री के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। दो भिन्न भाषाओं—हिन्दी तथा तेलुगु—के नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन इस शोध-प्रबंध में प्रस्तुत किया गया है। इसमें सन् १४२० ई० से लेकर १९५४ ई० तक की सुदीर्घ काल-परिधि में परिदृश्यमान नाट्य अथवा नाटक-साहित्य का प्रयोग, प्रारम्भ, विकास तथा वर्तमान युगों में वर्गीकरण करके इन युगों में नाट्य साहित्य की गंगा पौराणिक, ऐतिहासिक आदि विभिन्न धाराओं में, दोनों भाषाओं में किस भाँति प्रवाहित होती चली आई है, यह बड़े परिश्रम के साथ दर्शाया गया है। अतः विद्वान् अनुसन्धाता इस स्तुत्य प्रयास के लिए हमारे अभिनन्दन तथा प्रशंसा के पात्र हैं।

इस कृति में कुल सात अध्याय हैं। पहले अध्याय में काव्य, कला और नाटक पर परिचयात्मक प्रकाश डाला गया है जो केवल सवा दो पृष्ठों में समाप्त होता है। इतने गम्भीर विषयों पर इतनी अल्पिष्ठ सीमा में वांछनीय प्रकाश डालना असम्भव नहीं तो कष्टकर अवश्य है। दूसरे अध्याय में संस्कृत नाटक-साहित्य का सिंहावलोकन किया गया है, साथ ही लेखक ने अपने अनुसन्धेय पर विषय के पूर्वाभास के रूप में यह दर्शाया है कि हिन्दी और तेलुगु में संस्कृत-नाटकों का अनुवाद-कार्य किस गतिविधि से होता आ रहा है।

तीसरे अध्याय में कालविभाजन निम्न प्रकार से हुआ है :

प्रयोग युग —सन् १४२०-१८६४ तक
प्रारम्भ युग —,, १८६५-१८९९ ,,
विकास युग —,, १९००-१९३४ ,,
वर्तमान युग—,, १९३५-१९५४ ,,

चौथे अध्याय में दोनों भाषाओं के लोक-साहित्य में संप्राप्त नाटक-प्रक्रियाओं

लेखक : पाण्डुरंगाराव
प्रकाशक : नागरी प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड पटना—४
मूल्य : साढ़े सात रुपये; पृ० सं० २३९

का विशद वर्णन है । वास्तव में, प्रथम चार अध्याय, इस अध्ययन का पूर्वरंग (प्रिल्यूड) समझे जा सकते हैं ।

पाँचवें अध्याय में हिन्दी और तेलुगु के धुरन्धर मनीषी तथा प्रतिभावान् साहित्यिक विभूतियाँ, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और श्री वीरेशलिंगम् की नाटक-सर्जना का विस्तृत अध्ययन किया गया है ।

छठे अध्याय में जिसका नाम 'नाटक साहित्य का विकास युग' है प्रसाद और तेलुगु के पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंहम् की नाटकीय प्रतिभा तथा साहित्यिक सर्जना पर समुचित प्रकाश डाला गया है । वास्तव में, लेखक के सारे परिश्रम तथा अनुसन्धान की गहराई पाँचवें तथा छठे अध्यायों में निखर आई है । इन अध्यायों में लेखक ने सन्तुलनात्मक दृष्टिकोण का सुखद परिचय दिया है ।

सातवें में वर्तमान युग के विभिन्न लेखकों की प्रभिन्न कृतियों की तथा आधुनिक नाटकीय प्रक्रियाओं और प्रयोगों की विपुलता तथा विविधता का सम्यक् अभिवर्णन हुआ है ।

पुस्तक के अन्त में प्रसङ्ग-ग्रन्थानुक्रमणी दी गई हैं, जिसकी उपयोगिता पृष्ठ-निर्देश-विहीनता में सन्दिग्ध ही बनी है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तुलनात्मक अध्ययन के लिए दो बातें अनिवार्य नहीं तो आवश्यक और वाञ्छनीय अवश्य मानी जाती हैं १. काल-साम्य और २. वस्तु साम्य । नाटक जैसी आधुनिक साहित्यिक प्रक्रिया में काल-साम्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती । दो जीवित भाषाओं के अध्ययन में इसका ध्यान रखना और भी समीचीन प्रतीत होता है । दुःख की बात है, इन दोनों की अवहेलना यत्र-तत्र इस प्रबन्ध में हुई है, जिससे प्रतिपादित विषय की गरिमा को क्षति पहुँची है । कुछ उदाहरण लीजिए :

(१) तेलुगु के प्रथम शास्त्रीय नाटक के रूप में 'क्रीडाभिराममु' लिया गया है और हिन्दी के 'आनन्दरघुनन्दन' नाटक से इसकी तुलना की गई है । 'क्रीडाभिराममु' का रचना-काल सन् १४३५ ई० माना जाता है जबकि 'आनन्दरघुनन्दन' नाटक का सन् १८१३-१८५४ था । एक मौलिक नाटक है और दूसरा अनुवाद । काल-वैषम्य दशाब्दियों का नहीं, परन्तु शताब्दियों का है । तेलुगु में प्रथम मौलिक नाटककार (आधुनिक अर्थ में) श्री कोराड रामचन्द्र शास्त्री थे (सन् १८१६-१९००), जिनकी मञ्जरी मधुकरीयमु प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है (दे० विज्ञानसर्वस्वमु तृतीय भाग पृ० ८९७) । कतिपय विद्वानों के अनुसार श्री वाविलाल वासुदेवशास्त्री (सन् १८५१-१८९७) का 'नन्दक राज्यमु' तेलुगु का सर्वप्रथम मौलिक नाटक है (दे० आन्ध्र-साहित्य परिषद् पत्रिका, सं० ४४०, पृ० ६० तथा

'आन्ध्र रचयितलु' पृ० ९५)। इनमें से किसी एक के साथ आनन्द-रघुनन्दन नाटक का तुलनात्मक अध्ययन करना अधिकतर समीचीन है, क्योंकि 'आनन्द-रघुनन्दन' की भाँति ये भी मौलिक नाटक हैं और विश्वनाथ सिंह का समय इन लेखकों के समय से मेल खाता है। इससे अनुसन्धाता को शतियों का कालगत अन्तर पार करने के लिए छलाँग मारने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

'क्रीडाभिराममु' के रचयिता के सम्बन्ध में तेलुगु के विद्वत्समाज में भारी मत-भेद है। श्रद्धेय श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री जी तथा श्री पिंगलि लक्ष्मीकान्तम् के अनुसार यह कृति कवि सार्वभौम श्रीनाथ जी की है। अन्य समालोचकों के अनुसार यह वल्लभराय की है। प्रायः आजकल ऐसा माना जाता है कि वल्लभराय ने अपने कृति-निर्माण में श्रीनाथ से अवश्य सहायता ली और श्रीनाथ की रचना इसमें यत्र-तत्र सम्मिलित है (दे० वाविल्ल संस्करण पृ० १९-२०)। ऐसी दशा में इस मत-भेद की ओर संकेत भी न करके, वल्लभराय को ही 'क्रीडाभिराममु' के कर्ता के रूप में मान बैठना उचित नहीं प्रतीत होता है।

(२) श्री धर्मवरम् कृष्णमाचार्य कृत 'विषाद सारंगधर' नाटक को एक ऐतिहासिक नाटक के रूप में चित्रित करना (दे० आन्ध्र हिन्दी रूपक पृ० १४१-१४२) इस अनुसन्धान-कार्य की सबसे बड़ी त्रुटि है। इस नाटक की कथावस्तु प्रथमतः तेलुगु-साहित्य में उपलब्ध गौरन्न कृत 'नवनाथ चरित्रमु' में अभिवर्णित है। 'चौरंगी' एकनाथ योगी था। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन सिद्धों का ऐतिहासिक व्यक्तित्व सन्दिग्ध है और इन व्यक्तित्वों के चारों ओर कल्पित कहानियाँ निजन्धरी (लिजेन्डरी) और अनैतिहासिक हैं। यही नहीं, इसी कथावस्तु को प्रसिद्ध पूर्वी चलुक्य-नरेश राज राज नरेन्द्र (१०१९-१०६१ ई०) के सिर पर मढ़ाया गया है जो सर्वात्मना अनैतिहासिक है (दे० Andhra Historical Research Journal Vol. IV p.112 और वेंगी-संचिका (पृ० २६३-२६९)। धर्मवरं कृष्णमाचार्य ने तो राज-राजु को राज महेन्द्रवरम के राजा न कह कर मालव देश के राजा के रूप में चित्रित किया है (दे० आन्ध्र सा० प० पत्रिका सं० ४४ पृ० ४३)। अतः स्वयं नाटककार को इसकी ऐतिहासिकता पर सन्देह है। हाँ, यह तो सच है कि ऐतिहासिक नाटकों में भी कल्पना का रंगीन सम्मिश्रण होता है परन्तु आधारभित्ति इतिहास की सच्चाई पर ही निर्मित होती है। 'विषाद सारंगधर' में तो सारी कथावस्तु निजंधरी और अनैतिहासिक है, इसकी आधार-शिला ही काल्पनिक है। इस दशा में इस नाटक को ऐतिहासिक नाटक का श्रेय देना एक अक्षम्य साहित्यिक अपराध है। वास्तव में, 'विषाद सारंगधर' की महत्ता तेलुगु के नाटक-साहित्य में इसके दुःखान्त होने में है। विषाद सारंगधर को प्रथम दुःखान्तकी (ट्रेजिडी) मानते हैं। एलिज़बेथन ट्रेजिडी से प्रभावित होकर नाटककार ने तेलुगु में इस नाटक के द्वारा प्रथम दुःखान्तकी

के निर्माण करने का प्रयास किया है। इस नाटक के एवंविध महत्त्व पर अनुसन्धाता ने समुचित दृष्टिपात नहीं किया है।

प्रारम्भ-युग के इस नाटक का तुलनात्मक अध्ययन वर्तमान युग के नाटककार 'अश्क' के द्वारा प्रणीत 'जयपराजय' से किया गया है (दे० आ० हि० रू० पृष्ठ २१२)। भिन्न युगों के भिन्न नाटककारों की मनोदशाएँ तथा दृष्टिकोण अलग-अलग होते हैं, जिनके कारण उनकी कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन न्याय-संगत प्रतीत नहीं होता। वास्तव में तेलुगु की 'काञ्चनमाला' तथा 'जयपराजय' में तुलना बड़ी सफलता के साथ हो सकती है। काञ्चनमाला-कार श्री वेलूरि चन्द्रशेखर तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' इस वर्तमान युग के नाटककार हैं और इन दोनों नाटकों में वस्तु-साम्य भी प्रबल है। 'काञ्चनमाला' तेलुगु के नाटक-साहित्य में एक दिव्य और भव्य रचना है जिसकी ओर 'तोल की अपेक्षा मोल' पर अधिक ध्यान देने वाले अनुसन्धाता का अधिकतर ध्यान जाना चाहिए था। 'नन्दक राज्यमु' को भी ऐतिहासिक नाटक मानना बड़ी भूल है। वह सामाजिक नाटक है (दे० 'आन्ध्र रचयितलु' पृ० ९५)।

३. अनुसन्धाता की रचना में कुछ ऐसे दोष भी प्रवेश कर गए हैं जिनको हम प्रमाद-जन्य समझ कर नहीं टाल सकते। पृ० ७७ की अधःसूचिका में लेखक लिखते हैं "आन्ध्र भागवतकार पोतन्न और आन्ध्र वाल्मीकि वाविलिकोलनु सुब्बाराव का जन्मस्थल यही माना जाता है। १५ वीं शताब्दी में यह नगर विलासिता और सुसम्पन्नता का केन्द्र था"। इन पंक्तियों में प्रयुक्त 'यही' से लेखक का तात्पर्य ओरुगल्लु अथवा एक शिलानगर से है (दे० पृ० ७७ पहला पैरा) आन्ध्र-साहित्य के ज्ञाताओं से यह बात गुप्त नहीं है कि वाविलिकोलनु सुब्बाराव का जन्म ज़ोंचमुपेट कडपा में हुआ है (दे० आन्ध्र रचयितलु पृ० १८४) सुब्बाराव जी, पोतन्न का जन्मस्थल तक ओरुगल्लु को नहीं परन्तु ओंटिमिट्ट (जिला कड़पा में बसा हुआ है) को मानते थे। ओंटिमिट्ट रायलसीमा में है जब कि ओरुगल्लु अथवा एक शिलानगर (आधुनिक 'वरंगल') तेलंगाना में स्थित है। ऐसी दशा में, वाविलकोलनु सुब्बाराव जी का जन्म-स्थल 'ओरुगल्लु' ठहराना अत्यन्त उपहासास्पद है। इतिहास-वेत्ताओं से यह बात छिपी नहीं है कि काकतीय राजाओं की राजधानी के रूप में एक शिलानगर अथवा ओरुगल्लु (वरंगल) १२ वीं शती से लेकर चौदहवीं शती पूर्वार्ध तक ही अपने वैभव के उत्तुंग शिखर पर था और पन्द्रहवीं शती तक वह पतनोन्मुख हो चला (दे० काकतीय संचिका पृ० १३)। अतः लेखक का यह कहना कि ओरुगल्लु १५ वीं शती में आन्ध्रों की राजधानी थी ऐतिहासिक सत्य से मेल नहीं खाती।

४. काल्लकूरि नारायणराव कृत 'चिन्तामणि' को प्रतीक धारा के अन्तर्गत मानना भी दोषपूर्ण है (आन्ध्र हिं० रू० पृ० ३९)। 'चिन्तामणि' को विद्वत्समालोचक

सामाजिक धारा के अन्तर्गत ही मानते हैं (दे० विज्ञान-सर्वस्वमु तृ० भाग पृ० ८६९)।

५. वस्तुगत विशेषताओं को और प्रक्रियागत चतुरता को ध्यान में रख कर अनुसन्धानकर्त्ता को कविसम्राट् विश्वनाथ, सत्यनारायण तथा तल्लावज्झल शिवशंकर शास्त्री (शिवशंकर स्वामी) की कृतियों पर अधिकतर प्रकाश डालना चाहिए था। आश्चर्य की बात है कि सत्यनारायण जी का सबसे सफल नाटक 'नर्तनशाला' का लेखक ने स्मरण तक नहीं किया।

६. तेलुगु के नाटक-साहित्य की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों पर भी लेखक को ध्यान देना चाहिए था। हिन्दी को राष्ट्रभाषा अथवा राजभाषा बनाने के लिए तीव्र आन्दोलन प्रारम्भ होने से पहले ही तेलुगु के नाटककारों में एक ऐसे विशिष्ट-प्रतिभा-संपन्न नाटककार का उदय हुआ जिन्होंने तेलुगु नाटकों के साथ-साथ उस अतीत काल में हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी भाषा में बत्तीस नाटकों की रचना की (दे० 'आन्ध्र-रचयितलु पृ० १८८)। यही नहीं, उन्होंने इन नाटकों का सफल अभिनय भी तेलुगु के रंगमञ्च पर कराया। श्री नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि (सन् १८६३-१८३८ ई०) ही वह महान् व्यक्ति था। इन नाटकों की दूसरी विशेषता यह है कि भाषा हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी होते हुए भी इनकी लिपि तेलुगु लिपि थी। इनमें से कुछ नाटकों की कथावस्तु तेलुगु के भक्त-कवियों से सम्बद्ध थी। इस प्रकार के नाटकों में रामदास नाटक बहुत मशहूर था। आदान-प्रदान के प्रशस्त मार्ग के इस प्रशंसनीय अग्रदूत की इन कृतियों की ओर लेखक का ध्यान न जाना आश्चर्यजनक अवश्य है।

७. तेलुगु में नाटक-रचना के साथ-साथ रंगमंच का प्रबल विकास हो चला। तेलुगु के अभिनेता कलकत्ता, बम्बई, तथा रंगून (बर्मा) आदि सुदूर स्थानों में बड़ी सफलता के साथ तेलुगु नाटकों का अभिनय करते थे। रंगमञ्च के इस विकास पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डाल कर, इस अध्ययन को परिशिष्टांश के रूप में सम्मिलित करना वाञ्छनीय रहा।

विद्वान् लेखक के इस स्तुत्य प्रयास पर हार्दिक अभिनन्दन देते हुए मैं यह आशा करता हूँ कि वे सम्भवतः इन कतिपय सुझावों तथा मतभेदों से सहमत होंगे और पुस्तक के दूसरे संस्करण में यथावश्यक सुधार करेंगे।

अंत में, नागरी प्रकाशन लिमिटेड पटना के अधिकारियों का भी अभिनन्दन करना मेरा हर्षदायक कर्त्तव्य है जिन्होंने इस संस्करण को बड़ी तत्परता के साथ हर दृष्टि से सुन्दर बनाया है।

सन् १९६० का हिन्दीतर भारतीय साहित्य

सम्पादक : डॉ० ओम्प्रकाश

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर राष्ट्रीय भावना के रचनात्मक विकास ने हमारे प्रादेशिक साहित्यों को पारस्परिक सान्निकट्य की सफल प्रेरणा दी है। इस सान्निकट्य के दो रूप हैं। एक, सभी प्रादेशिक साहित्य प्रायशः समान योजनाएं बनाकर अपनी समृद्धि में दत्तचित्त हैं। दो, पारस्परिक आदान-प्रदान की इच्छा बलवती हो गई है। गत दशाब्दी में भारत का प्रत्येक साहित्य मात्रा तथा संख्या में इतना विराट् हो गया है जितना इससे पूर्व किसी भी दशाब्दी में नहीं था। यह भी सत्य है कि विस्तार में यह साहित्य जितना महान् है, मूल्य में अपेक्षाकृत कम है। अथवा यह कहिए कि इस काल में साहित्य की जितनी वृद्धि हुई है उतनी समृद्धि नहीं, इसका जितना निर्माण हुआ है उतना सृजन नहीं, यह सामाजिक बुद्धि का परिणाम है वैयक्तिक मनीषा का फल नहीं। बाज़ार में जब किसी वस्तु की मांग बढ़ जाती है तो उसकी पूर्ति के लिए विज्ञान की सहायता से हम रात-दिन कारखाने चलाकर उसी स्तर की अनेक गुनी वस्तुएँ तैयार कर सकते हैं, परन्तु समाज में लोकप्रियता प्राप्त करनेवाले साहित्य के प्रतिरूप किसी मनोवैज्ञानिकशाला में अहर्निश उत्पन्न नहीं किये जा सकते। ऐसे प्रयत्न स्तर में न्यूनता के कारण बन जाते हैं। हमारे पिछले दशक का साहित्य उक्त कथन का समर्थक है। सन् १९६० का भारतीय साहित्य भी उक्त सत्य की पुष्टि करता है।

सन् १९६० के भारतीय साहित्य की मुख्य प्रेरणाएं तीन हैं—योजनाबद्ध संरक्षण, लोकरुचि, आत्माभिव्यक्ति। योजनाबद्ध संरक्षण से हमारा अभिप्राय उन सरकारी, अर्द्ध-सरकारी अथवा स्वतन्त्र योजनाओं से है, जो भाषा विशेष में विशेष प्रकार के साहित्य की सृष्टि कराने का प्रयत्न करती हैं। इसके अन्तर्गत पाठ्यपुस्तकों

इस लेख की सामग्री जिन विद्वानों से प्राप्त हुई है उनके नाम हैं—डॉ० प्रफुल्ल चन्द्र गोस्वामी (असामिया), प्रो० कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह (गुजराती), श्री वी० आर० महालिंगम (तमिल), डॉ० के० वीरभद्रराव (तेलुगु), श्री क० वे० राघवाचार्य (कन्नड़), श्री अनुजन नम्बूदरीपाद (मलयालम), श्री इन्द्रनाथ चौधरी (बंगला), डॉ० हरभजन सिंह (पंजाबी), डॉ० कमर रईस (उर्दू)। सम्पादक इन सब के प्रति कृतज्ञ है।

की रचना, अनुवाद, सन्दर्भ ग्रन्थ, मालाएं, सम्पादित ग्रन्थ, बालोपयोगी पुस्तकें, प्रौढ़ शिक्षा साहित्य, कोश, इतिहास आदि की गणना की जा सकती है। हिन्दी के समान भारत की सभी भाषाओं में इस प्रकार के साहित्य की प्रचुरता है। साहित्य के प्रति अभिरुचि का फल उपन्यास-कहानी की लोकप्रियता है, जिससे लेखक और प्रकाशक कथा-साहित्य का निर्माण करने को सदा उद्यत रहते हैं। जैसे-जैसे साहित्यानुराग बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही कथा-साहित्य का भांडार भी बढ़ता जा रहा है। जिस साहित्य की मूल प्रेरणा विशुद्ध आत्माभिव्यक्ति है, परिस्थितियों की अनुकूलता में भी, उसका निर्माण गत दशाब्दी में कम ही हुआ है। काव्य, साहित्यिक निबन्ध इस वर्ग में आते हैं। बाजार की दृष्टि से इस साहित्य की रचना अधिक सार्थक नहीं, परन्तु स्थायित्व इसी साहित्य को अधिक प्राप्त होता है। भारतीय साहित्य मात्र पर दृष्टिपात करने से यह विदित हो जायगा कि संघर्ष के युग में यह साहित्य जिस मात्रा में रचा गया था उसका अंश ही वर्त्तमान स्वाधीन युग में लिखा जा सका है।

योजना-बद्ध रचनाएं

योजनाबद्ध संरक्षण के सफल प्रयत्नों में "तमिल विश्वकोष" है जिसका सप्तम खण्ड सन् १९६० में प्रकाशित हुआ है। इस योजना के लिए केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों ने "तमिल विकास समिति" का निर्माण कर उसको संरक्षण प्रदान किया है। "तमिल विश्वकोष" का प्रकाशन १० खण्डों में होगा. इसमें अनेक विषयों का परिचयात्मक विवेचन भी रहेगा और तमिल पारिभाषिक शब्दावली भी निर्मित हो सकेगी। डॉ० ए० चिदम्बरनाथन तथा श्री के० अप्पादुरै के सम्पादन में तीन खण्डों का एक "तमिल अंग्रेजी कोष" भी प्रकाशित हो रहा है। श्री वानमामलै ने "तमिल लोकगीत" नाम से एक बड़ा संकलन प्रकाशित किया है जो अपने क्षेत्र में प्रामाणिक तथा पूर्ण माना जाता है। लोक-संस्कृति का दूसरा महत्त्वपूर्ण संग्रह "तमिल लोकोक्ति कोष" है जिसमें लगभग १० हजार लोकोक्तियां हैं। श्री एस० के० स्वामी ने इस ग्रन्थ के निर्माण में बड़ा श्रम किया है। इन सन्दर्भ-ग्रन्थों को सरकार का पूर्ण सहयोग तथा पर्याप्त सहायता प्राप्त है। श्री एम० एस० सम्बन्धन ने "अचुक्कलै" नामक पुस्तक में 'मुद्रण-कला' का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है और तमिल पुस्तकों के प्रकाशन का रोचक इतिहास लिखा है।

तेलुगु भाषा समिति ने "तेलुगु विश्वकोष" की जो योजना बनाई थी वह सफल हो रही है, "तेलुगु विश्वकोष" के तीन खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं और सन् १९६० में आगामी खण्डों का कार्य प्रगति पर है। हैदराबाद की अकादमी ने "विज्ञान-कोष" का दूसरा खण्ड प्रकाशित किया है। प्रादेशिक साहित्य अकादमी "लोकोक्ति कोष" तथा "साहित्य का इतिहास" प्रस्तुत करने की योजना को कार्यान्वित कर रही है। अंग्रेजी में "तेलुगु-सेवी-संसार" (हू इज हू इन तेलुगु लिटरेचर)

का प्रकाशन हुआ है। तेलुगु में दूसरी भाषाओं से अनुवाद भी हुए हैं। श्री रामचन्द्र कौण्डिन्य ने "तेलुगु मीरा" नाम से मीरा के २८ गीतों का अनुवाद किया है; श्री सूर्यनारायण मूर्त्ति ने "भ्रमर गीतलु" नाम से सूरदास के भ्रमर गीत के कुछ अंशों का अनुवाद किया है और श्री दाशरथी ने गालिब की कविता का अनुवाद किया है।

कन्नड़ प्रदेश के विश्वविद्यालयों ने बी०ए०, बी०एस-सी० तक की कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार की हैं। "सौर व्यूह", "सजीवगक समस्ये" "आर्थिक रचने", "आयुर्वेद" आदि इस वर्ग की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। कन्नड़ में कुरान का लगभग १००० पृष्ठों में अनुवाद हुआ है। शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'ट्वैल्थ नाइट' का अनुवाद श्री निवास ने 'द्वादश रात्रि' नाम से किया है।

मलयालम ने विज्ञान, विशेषतः अणु, से सम्बद्ध पुस्तकें साहित्य को प्रदान की हैं। इन सबमें श्री एम० ई० चैको की पुस्तक "अणुशक्ति" सर्वश्रेष्ठ है। श्री चैको भारतीय वायुसेना में प्रशिक्षक हैं, उनकी रचना को मद्रास विश्वविद्यालय ने सम्मानित तथा पुरस्कृत किया है। १४ अध्यायों की पुस्तक "अणुशक्ति" में लेखक ने अणु के ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक पक्षों पर गंभीर प्रकाश डाला है। श्री पी०वी० वरीत ने "अणु की आत्मकथा", श्री भास्कर पाणिक्कर ने "प्रगति पथ पर विज्ञान" लिखकर वैज्ञानिक साहित्य की श्री वृद्धि की है।

गुजराती भाषा में डॉ० रमणलाल मेहता का "पुरावस्तुशास्त्र", प्रो० भास्कर भाई देसाई का "प्रमाण शास्त्र", तथा डॉ० जयेन्द्र पाठक का "शरीर विज्ञान" प्रामाणिक वैज्ञानिक रचनाएँ हैं। सामान्य रुचि की पुस्तकों में श्री धनवंत ओझा की "गुजरातनो इतिहास", श्री भोगीलाल गांधी की "गुजरात दर्शन", श्री छोटुभाई सुथार की "आपणुं विश्व" अच्छी रचनाएँ हैं। संस्कृत तथा अंग्रेजी से नाटकों के गुजराती में अनुवाद हुए हैं। श्री सुन्दरम् की "मृच्छकटिक" तथा "कायापलट" उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध नाटक "ब्लैक औन दि मून" का अनुवाद श्री पन्नालाल पटेल ने "चाँदों शें शामलां" नाम से किया है जो वर्ष का विशिष्ट अनुवाद माना जाता है।

पूर्वी भारत में भी योजनाबद्ध साहित्य की ऐसी ही गति रही। असामिया में डॉ० भुवन मोहन दास ने "आदिम जुगर आदि कथा" तथा "मानवर आदि कथा" लिखकर पुरातत्व का भाषा में प्रारम्भ किया। प्राचीन साहित्य, लोक जीवन, बाल-साहित्य आदि के प्रति लेखकों तथा पाठकों की रुचि बनी रही। बंगला भाषा में योजनाबद्ध तथा उपयोगी साहित्य की मात्रा अत्यधिक है। उल्लेखीय रचनाएँ है श्री शैलेशकुमार की "सर्वोदय ओ शासन-मुक्त समाज", तथा श्री प्रभातकुमार मुखोपाध्याय की "भारत जातीय आन्दोलन।" श्री सुशील कुमार दासगुप्त की "ऊनविंश शताब्दीर वाङ्लार नवजागरण" तथा श्री शिवनारायण राय की "मौमाछि तन्त्र" राजनीतिक साहित्य की विशिष्ट रचनाएँ हैं।

उपन्यास-कहानी

लोकरुचि ने जिस साहित्य को प्रोत्साहित किया है वह कथा-साहित्य है। पत्र-पत्रिकाओं के लिए कहानियों तथा पुस्तकाकार प्रकाशन के लिए उपन्यासों की मांग आज साक्षरता तथा शिक्षा के साथ बढ़ती जा रही है। जिन भाषाओं पर प्रादेशिक मोहकता का प्रभाव अधिक है वे कथा-साहित्य की ओर अधिक बढ़ रही हैं। असमिया के कथाकार श्री वीरेन भट्टाचार्य ने "आइ" (माँ) तथा "इयारुइंगम" दो उपन्यास लिखे हैं। "आइ" उपन्यास में एक पुत्रवती ब्राह्मण विधवा की कहानी है जो निर्धनता से संघर्ष करती हुई अपने पुत्र को सुयोग्य बनाना चाहती है। "इयारुइंगम" उपन्यास में नागा जीवन की झाँकी है। जापानी आक्रमण से वर्त्तमान अवस्था तक की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं का यह यथार्थ चित्र है। रुढ़िवादी नेता नाज़ेक की पुत्री खुतिंगला और राष्ट्रवादी युवक रिशंग (नायक) का प्रेम कथा को सुधारवादी रूप प्रदान कर देता है। नागा जीवन के चित्रण से यह उपन्यास अत्यन्त मार्मिक बन गया है। श्री अब्दुल मलिक का उपन्यास "सूरज मुखीर स्वप्न" मुसलिम जीवन का रोमांटिक चित्र है। शरणार्थियों की समस्या को श्री तिलकदास ने "मिलनर पथ रुद्ध करि" उपन्यास में चित्रित किया है। कहानी-संग्रहों में भी निर्मलेश्वर शर्मा का 'जात्री' तथा श्री प्रफुल्लदत्त गोस्वामी का "नित नव रूप तार" प्रसिद्ध हैं। इनमें सुरुचि तथा कला का सुन्दर संयोग है।

सन् १९६० में प्रकाशित बंगला उपन्यासों की संख्या अर्द्धशतक से अधिक है। श्री वनफूल के उपन्यासों "अग्नीश्वर" तथा "ओरा सब पारे" में दुर्बल के प्रति सहानुभूति के साथ ही अन्याय का तीक्ष्ण विरोध भी है। श्री ताराशंकर वन्द्योपाध्याय का "महाश्वेता" एक प्रेमाख्यान है और "योगभ्रष्ट" एक आदर्श मूलक उपन्यास। "योगभ्रष्ट" में मानव को अविश्वास-जन्य विभीषिका से सावधान किया गया है। श्री प्रबोध कुमार सान्याल का "इस्पातेर फला", श्री माणिक वन्द्योपाध्याय का अन्तिम उपन्यास "माझिर छेले" तथा श्री जरासन्ध का नवीन उपन्यास "न्यायदण्ड" अन्य प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास हैं। श्री विमलकर का उपन्यास "अपराह्न", श्री अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त का "राखुन" तथा श्री नरेन्द्र नाथ मित्र के उपन्यास "एकटि नायिकार उपाख्यान" तथा "उत्तर पुरुष" अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। उपन्यास-साहित्य में बंगीय साहित्य को विशेष गौरव प्राप्त है। कहानी-कला में उपन्यास-कला से भी अधिक उन्नति हुई है। नवीन प्रयोगों के साथ-साथ शाश्वत कहानी-तत्व की रक्षा इस कला की विशेषता है। इस दृष्टि से सन् १९६० के प्रकाशनों में श्री अन्नदाशंकर राय का "गल्प", श्री सुबोध घोष का "चित्त-चकोर", श्री प्रेमेन्द्र मित्र का "पाराशर", तथा श्री देवेशदास का "पश्चिमेर जानला" उल्लेख योग्य हैं।

पंजाबी कथा-साहित्य के क्षेत्र में श्री राजेन्द्र सिंह बेदी, श्री नानक सिंह, श्रीमती अमृता प्रीतम, श्री सुरेन्द्रजीत बराड़ तथा श्री सुरजीत सिंह सेठी की रचनाएँ इस वर्ष की उपलब्धियाँ हैं। "इक्क चादर अधोराणी" श्री बेदी का लघु उपन्यास है। "इक्क म्यान बिच दो तलवारां" श्री नानक सिंह का सामाजिक उपन्यास है। इस वर्ष के कहानी-संग्रहों में श्री गुरुमुख सिंह मुसाफिर के "कंधा बोल पाईयाँ", श्री जसवन्त सिंह विरही के "पीड़ पराई", तथा श्री सूबा सिंह के "अग्ग ते पाणी" का नाम लिया जा सकता है। पंजाबी कथा-साहित्य बंगला कथा-साहित्य के समान प्रौढ़ तो नहीं है परन्तु विचित्रतामय अवश्य है, सामान्य पाठकों के बीच यह लोकप्रिय होता चला जा रहा है। श्री राजेन्द्र सिंह बेदी पंजाबी तथा उर्दू दोनों के मूर्धन्य उपन्यासकार माने जाते हैं, उनकी रचनाएँ दोनों भाषाओं में साथ-साथ प्रकाशित होने लगी हैं। "एक चादर मैली सी" को उर्दू में भी इस वर्ष का श्रेष्ठ उपन्यास माना गया है। परन्तु उर्दू का इस वर्ष का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास तो "आग का दरिया" है। इसकी लेखिका श्रीमती कुर्रातुलीन हैदर हैं। ७८६ पृष्ठ के इस उपन्यास में ढाई हज़ार वर्ष पुराने भारत की संस्कृति का चित्र है। चिंतन तथा कला की दृष्टि से उर्दू के आलोचकों ने इस उपन्यास की बड़ी प्रशंसा की है।

गुजराती के सामाजिक उपन्यासों में सबसे अधिक चर्चा इस वर्ष श्री पन्ना लाल पटेल के "पडघा अने पडछाया" और श्री चुनीलाल मडिया के "प्रीत वछोयां" की हुई है। पटेल जी ने यह अंकित किया है कि सन्तान माता-पिता के आन्तरिक और बाह्य जीवन की प्रतिच्छाया होती है। मडिया जी ने बम्बई के वैष्णव धनिक वर्ग के आभ्यन्तर जीवन का चित्रण किया है। ऐतिहासिक उपन्यासों में श्री धूमकेतु का "महाराज्ञी कुमारदेवी" तथा श्री गुणवन्तराय आचार्य का "महामात्य माधव" उल्लेखनीय हैं। कहानी के क्षेत्र में श्री चुनीलाल माडिया के अतिरिक्त श्री सारंग बारोट, और श्री पीताम्बर पटेल के संग्रह अग्रगण्य हैं।

तमिल भाषा में भी कथा-साहित्य की अच्छी वृद्धि हुई है। श्री कवि मणिशेखरन ने "देव देवी" नामक ऐतिहासिक उपन्यास में लंका के इतिहास का चित्रण, 'राजवल्ली' तथा 'महावंश' के आधार पर, किया है। श्री जगसिप्पियन ने ऐतिहासिक उपन्यास "आलवाइ अलगन" में तेरहवीं शती के जीवन को अंकित किया है। श्री के० एन० सुब्रह्मण्यम का उपन्यास "माधवी" पूर्वैतिहासिक काल का काल्पनिक चित्र है। सामाजिक उपन्यासों में श्री पार्थसारथी का "पिरन्द मण" तथा श्री जीव का "नाडुत्तिरु नारायनन" उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों में सत्-असत् का संघर्ष चित्रित करके पाठक को सत् की ओर प्रेरित किया गया है। कहानी के क्षेत्र में श्री पिच्चमूर्त्ति तथा श्री रामामृतम के नाम अधिक लोकप्रिय हुए हैं।

तेलुगु के कथा-साहित्यकारों में विशेष चर्चा इस वर्ष श्री मञ्जुश्री, श्री

अमरेन्द्र, श्रीमती श्रीदेवी तथा श्रीमती जानकी रानी की हुई है। इन्होंने सामाजिक जीवन के सुन्दर चित्र अंकित करके तेलुगु-साहित्य के विकास में योग दिया है। कन्नड़ लेखिका श्रीमती त्रिवेणी के "अवड़ मने" तथा "तावरे कोड़" उपन्यासों में घरेलू जीवन के सुन्दर चित्र हैं। अन्य उल्लेखनीय कन्नड़ उपन्यास हैं श्री कृष्णमूर्त्ति पौराणिक का "वत्सला" श्री अन्ताराव का "येरडुलेज्जे" तथा श्री भा० ना० मूर्त्ति का "टिप्पू सुलतान"।

मलयालम उपन्यास का भी सन् १९६० में पर्याप्त विकास हुआ। प्रसिद्ध उपन्यासों में से "अरबिप्पोन्नु" तथा "तालम" विशेष उल्लेखनीय हैं। "अरबिप्पोन्नु" की कथा का आधार है अरब देश से स्वर्ण का तस्कर-व्यापार। लेखकद्वय—श्री एम० टी० वासुदेवन नायर तथा श्री एन० पी० मुहम्मद —ने एक रोचक सामाजिक विषय को कथावस्तु का आधार बनाते हुए समाज के कतिपय प्रतिष्ठित अधिकारियों को छद्म नाम देकर, उन पर आक्षेप भी किये हैं। "तालम" के लेखक श्री के० सुरेन्द्रन हैं। इस उपन्यास का आधार एक प्रेमकथा है जिसमें भावुकता में बहकने वाले युवक-युवतियों को चेतावनी दी गई है। उपन्यास की अपेक्षा मलयालम कहानी का विकास कम हुआ है। वस्तुतः मात्राधिक्य तथा विकास एक ही वस्तु नहीं है परन्तु कथा-साहित्य की आलोचना में प्रायः मात्राधिक्य से ही विकास का अनुमान कर लिया जाता है। कहानी-लेखकों में श्रीमती माधवी कुट्टी, श्रीमती ललिताम्बिका तथा श्री पुष्पङ्गल के नाम उल्लेख-योग्य हैं।

कविता

कविता-धारा से भारत का कोई भी साहित्य सन् १९६० में विशेष रूप से परिप्लावित नहीं हुआ फिर भी कविता से ही उसकी श्री वृद्धि का अनुमान लगाया जाता है। 'गांधी कविञ्जर' श्री नामक्कल रामलिंगम की स्फुट कविताओं का एक संग्रह "नामक्कलकविञ्जर पाटलकल" इस वर्ष प्रकाशित हुआ, यह उनके कविता-संग्रहों की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। युवक कवि श्री इलामभारती की पुस्तक "चोलइ निड़ल" में प्रकृति-प्रेम तथा भावोच्छास के रम्य दर्शन होते हैं; कवि महोदय से तमिल को बहुत आशाएँ हैं। श्री नाग मुतैय्याह ने बालोपयोगी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित किया है जिसके ६ भाग हैं। कवि ने ऐसे विभिन्न विषियों को लिया है जो शिशुओं को उत्साह, स्वच्छता तथा सक्रियता प्रदान कर सकें। कुछ प्रमुख विषय हैं गौतम बुद्ध, जीसस क्राइस्ट, कम्बर, वल्लुवर, महात्मा गांधी, पोंगल उत्सव, तोता, हाथी, गाय, सदाचार आदि।

इस वर्ष तेलुगु-कविता को वरिष्ठ कविवर श्री रायप्रोलु सुब्बाराव, श्री विश्वनाथ सत्यनारायण, तथा श्री सीताराम मूर्त्ति ने भी समृद्धि प्रदान की है, तथा युवक-

कवि श्री नारायण रेड्डी, श्री दाशरथी आदि ने भी। रवीन्द्र की कविताओं का अनुवाद करने में भी कवि-जन व्यस्त रहे हैं। श्री रंगाराव के "मनोभूमिकलु" तथा श्री रमण रेड्डी के "अंगार वल्लरी" रोमांटिक परम्परा के कविता-संग्रह हैं। श्री नरसिंहाचार्य का "अशोक राज्यम्" तथा श्री दुर्गानन्द की "मधूलिका" प्रसिद्ध कविता-संग्रह हैं। महात्मा गांधी की आत्मकथा का तेलुगु पद्य में अनुवाद करने वाले श्री सीताराम मूर्त्ति चौधरी ने आचार्य विनोवा भावे के जीवन तथा कार्य को अपनी कुछ कविताओं का विषय बनाया है।

कन्नड-कविता की इस वर्ष की सर्वोच्च उपलब्धि "तिरुक्कुरल" का पद्यबद्ध अनुवाद है। तमिल-वेद के अनुवाद का कन्नड में यह प्रथम प्रयत्न तो नहीं परन्तु सब से सफल प्रयास है। श्री एल० गुण्डप्पा ने भाषा, भाव तथा छन्द की दृष्टि से इस अनुवाद को मूल से समीपतम रखा है। श्री नरसिंहाचार्य तथा श्री चेन्नवीर कणवि की इस वर्ष की कविताएं भी उल्लेख योग्य हैं। मलयालम-कविता का क्षितिज इस वर्ष कुछ धुँधला ही रहा। फिर भी श्री के० नायर की "प्रपञ्चम्" तथा श्री के० के० राजा की "मुक्तावली" उल्लेखनीय हैं। श्री नायर ने प्रकृति के सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण किया है। श्री राजा की "मुक्तावली" ३३ कविताओं का संग्रह है। कवि ने संस्कृत छन्दों का प्रयोग किया है, उनकी काव्यकला आकर्षण एवं विषय-चयन नितान्त आधुनिक है।

सन् १९६० के काव्य-ग्रन्थों में गुजराती कवि श्री नान्हालाल के "हरि संहिता" काव्य का विशेष स्थान है। रचना-काल की दृष्टि से पुरानी होती हुई भी यह कृति सन् ६० में ही पूर्ण हुई है। "हरिसंहिता" महाकाव्य ३ खण्डों में विभक्त है। इसकी मूल प्रेरणा महर्षि व्यास का महाभारत है। इसका प्रतिपाद्य भारतीय राष्ट्र की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक अखण्डता है जिसमें भगवान् कृष्ण की देशव्यापी यात्रा का आश्रय लिया गया है। प्रथम खण्ड में द्वारका से मलयागिरि तक, द्वितीय में रामेश्वर से वाराणसी तक, तृतीय में उत्तर भारत की यात्रा का वर्णन है। प्रसंगवश अनेक विषयों की चर्चा आ गई है जो भ रतीय संस्कृति का सार हैं। "हरिसंहिता" का सांस्कृतिक महत्त्व है, इसे युगान्तकारी रचना माना जा सकता है। गुजराती के कविता-संग्रहों में श्री मणियार का "अशब्द रात्रि" श्री उशनसका "मनोमुद्रा", श्री जयन्त पाठक का "संकेत", तथा श्री सुन्दर जी बेटाई का "तुलसी दल" उल्लेखनीय हैं।

बंगला-कविता में फिर से जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति विश्वास की भावना जग रही है। श्री प्रेमेन्द्र मित्र, श्री अलोकरंजन दासगुप्त तथा श्री मणीन्द्रराय ऐसे ही कवि हैं। श्री अलोकरंजन दासगुप्त का "यौवन बाउल" तथा श्री मणीन्द्रराय का "मुखर मेला" इस वर्ग की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। कवियों का दूसरा वर्ग अविश्वासी प्रयोगशील है। इस वर्ग के संकलन हैं—श्री गौरदास का

"मेखला" तथा श्री वागेश्री का "एकाघ्नी।" श्री अरुणकुमार वन्द्योपाध्याय ने "ऊनविंश शताब्दीर गीति-कविता संकलन" तथा श्री अवन्ती सान्याल ने "हाजार बछरेर प्रेमेर कविता" संकलन इस वर्ष प्रकाशित किये हैं। असमिया भाषा में इस वर्ष कविवर पन्त की कुछ कविताओं का अनुवाद संकलित एवं प्रकाशित किया गया है। "तीर्थ-जात्री" नाम से नवीनचन्द्र बारदालोइ के राष्ट्रीय गीतों का संग्रह भी प्रकाशित हुआ है।

पंजाबी में विशेष महत्त्व का कोई काव्य प्रकाशित नहीं हुआ, परन्तु सामान्य कविता-संग्रह अनेक हैं। इस वर्ष के कवियों के नाम हैं—श्री शिव कुमार, श्री दीवान सिंह,, श्री सन्तोखसिंह धीर तथा श्री मन्जीत मधुर आदि। श्री हरभजनसिंह ने कविता में नूतन प्रयोग किये हैं। श्री दीवानसिंह ने गजल को अपनाया है। उर्दू कविता में चर्चा के योग्य हैं—श्री ताबां का संग्रह "हदीसे दिल", तथा श्री अख्तर उल इमान का "आबजू।" श्री सलाम मछली शहरी की फुटकल कविताएं लोकप्रिय हुई हैं। कालिदास, कबीर, मीरा तथा बिहारी के काव्यों से उर्दू में अनुवाद भी हुए हैं। पिछले वर्षों में उर्दू कवि संस्कृत तथा हिन्दी की ओर भी मुड़ा है और भाव एवं भाषा दोनों में भारतीयता की छाप लगती जा रही है।

नाटक

नाटक के क्षेत्र में रेडियोरूपक तथा एकांकी ही इस वर्ष अग्रणी रहे। रेडियो-रूपक देश की प्रत्येक भाषा में पर्याप्त मात्रा में लिखे जा रहे हैं क्योंकि उनका तत्काल उपयोग भी हो जाता है। तेलुगु में श्री नारायण रेड्डी तथा श्री कृष्णशास्त्री इस दिशा में आगे बढ़े। श्री सूर्यराव, श्री राधाकृष्ण मूर्त्ति आदि के एकांकी भी अच्छे बन बड़े हैं। तेलुगु का सबसे महत्त्वपूर्ण रूपक "रागवासिष्ठम्" है, जिसमें ऋषि वसिष्ठ का शूद्रा अरुन्धती के साथ विवाह का वर्णन है। वर्तमान सामाजिक पृष्ठ-भूमि में पौराणिक कथा का यह उपयोग श्री भीमन्ना ने किया है। मलयालम के कुछ रूपक अच्छे हैं। श्री सी० एन० श्रीकण्ठन नायर का "काञ्चन सीता" नाटक रामचरित के उत्तर जीवन का अभिनय रूप है जिसमें आधुनिक समाज का प्रतिबिम्ब मिलता है। श्री सी० जे० टोमस का सामाजिक नाटक "कृपण का विवाह" एक प्रहसन है जिसमें कृपण नायक दहेज के किए उस कन्या से विवाह करना चाहता है जो उसके पुत्र की प्रेयसी है।

गुजराती, बंगला तथा असामिया भाषाएँ भी नाटक की दृष्टि से निर्धन ही रहीं। बंगला नाटकों में श्री उत्पल दत्त का "अंगार", श्री धनञ्जय वैरागी का "रजनीगन्धा", तथा श्री मन्मथराय का "अमृत अतीत" साधारण कृतियां हैं। एकांकियों का संग्रह "एकांक संचयन" नाम से प्रकाशित हुआ है। असामिया नाटकों

में श्री ज्योतिप्रसाद का "रुपालिम" तथा श्री प्रवीरमल्ल का "गणविप्लवर माजत" उल्लेख-योग्य हैं। रुपालिम नाटक की नायिका है जो अपने कबीले के एक युवक से प्रेम करती है, मणिमुग्ध उसका हरण करता है, उसके चंगुल से छूटने वाली युवती को कबीले के लोग चरित्रहीना मानकर मार डालते हैं। समस्या पुरानी परन्तु वातावरण नवीन है। "गण विप्लवर माजत" में अगस्त आन्दोलन का चित्र है। दोनों नाटक करुणापूर्ण होने के कारण प्रभावोत्पादक बन गये हैं। पंजाबी के नाटकों में श्री सन्त सिंह, श्री परितोष गार्गी तथा श्री हरशरण सिंह के कुछ नाटक ही गिने जा सकते हैं। एकांकी नाटकों में सामयिक समस्याओं का चित्रण उर्दू में भी हुआ है।

निबन्ध-आलोचना

स्वतन्त्र निबन्ध ग्रन्थों की रचना इस वर्ष कम हुई परन्तु आलोचना का पथ खुला रहा। मलाया के तमिल भाषियों ने श्री पुदुमैपित्तन की कहानियों की आलोचना पुस्तकाकार प्रकाशित की है जिसमें तमिल-कहानी के उदय का इतिहास समाविष्ट हो जाता है। श्री स्वामी चिदम्बरनार ने तमिल के प्रसिद्ध महाकाव्य "मणि मेखलाइ" पर बृहत् आलोचना लिखी है। 'तमिल नाडु' के सम्पादक श्री टी० माणिक्कवचकम ने तमिल-वेद "तिरुक्कुरल" के अध्ययन का तीसरा खण्ड प्रकाशित किया है। डॉ० एम० दुरै रंगस्वामी ने "तामिड़ नेरि" नामक पुस्तक में प्राचीन तामिल संस्कृति का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है।

तेलुगु साहित्य से सम्बद्ध इस वर्ष दो शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुए। डॉ० डी० वेंकटावधानि ने ११वीं शताब्दी से पूर्व तेलुगु का अध्ययन प्रस्तुत किया है और डॉ० के० वीरभद्रराव ने १६वीं शती से वर्त्तमान काल तक तेलुगु साहित्य पर आंग्ल प्रभाव का। श्री कुटुम्बराय शर्मा ने अंग्रेजी उपन्यास पर, श्री हर्षवर्द्धन शर्मा ने तेलुगु शिला लेखों पर और श्री अप्पा राव ने तेलुगु नाटक पर अनेक लेख लिखे हैं। कन्नड़ में श्री आद्यरंगाचार्य ने "नन्न नाट्य नेनपु" नामक पुस्तक में नाटक-सम्बन्धी तथा अन्य लेख प्रकाशित किये हैं। श्री एम० पी० शिवदास मेनन ने विनोद लेखों का एक संग्रह मलयालम में प्रकाशित किया है, श्री एन० वी० कृष्णवारियर ने अपनी अमरीकी यात्रा के संस्मरण मलयालम में लिखे हैं।

कन्नड़ भाषा में विशेष उल्लेखनीय तीन आलोचनात्मक रचनाएँ हैं—'कन्नड़ साहित्य चरिते", "लक्ष्मीशनः जैमिनि भारत क्के मुन्नडि", तथा "बंकिमचन्द्र"। कन्नड़ साहित्य का बृहद् इतिहास तीन खण्डों में महामहोपाध्याय रा० नरसिंहाचार्य ने लिखा था, उसके उपरान्त डॉ० र० श्री० मुगलि ने "कन्नड़ साहित्य चरित" नामक एक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा। प्रो० मरियप्प भट्ट ने एक लघुतर ग्रन्थ "कन्नड़ साहित्य

चरित्र" इस वर्ष प्रकाशित किया, जो सुबोध, गम्भीर तथा संक्षिप्त है। "लक्ष्मीश-रचित जैमिनि भारत का उपोद्घात" के लेखक कन्नड़ के प्रसिद्ध कवि श्री द० रा० वेन्द्रे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में गम्भीर विवेचन तथा व्यापक अध्ययन का परिचय मिलता है। "बंकिमचन्द्र" ग्रन्थ के लेखक डॉ० ए० आर० कृष्णशास्त्री हैं। यह बंकिम की नवीन आलोचना है। विद्वानों का मत है कि इस पुस्तक का यदि बंगला में अनुवाद कर दिया जाय तो अनूदित पुस्तक बंकिम के अध्ययन के लिए आवश्यक पुस्तक मानी जाएगी।

गुजराती में श्री उमाशंकर जोशी की तीन कृतियाँ—"अभिरुचि", "शैली अने स्वरूपो" तथा "निरीक्षा" समादृत हुई हैं। इन पुस्तकों में सैद्धान्तिक, व्यावहारिक एवं तुलनात्मक गम्भीर निबन्धों का संग्रह है। श्री भाई लाल भाई कोठारी के आलोचनात्मक लेख "विवेचन-संचय" नाम से प्रकाशित हुए हैं। श्री हरिवल्लभ भयाणी का "अपभ्रंश व्याकरण" तथा श्री के० का० शास्त्री का "गुजराती भाषाशास्त्र" भाषा-विषयक अध्ययन के सुन्दर प्रयत्न हैं। श्री अंबालाल पुराणी श्री अरविंद से प्रभावित गुजरात के श्रेष्ठ साधक हैं, उनकी पुस्तक "कला मन्दिर" में कला एवं अध्यात्म का सुन्दर योग है।

असामिया में श्री अतुलचन्द्र बरुआ की "साहित्य दृष्टि" तथा श्री भावानन्द दत्त की "रवीन्द्र प्रतिभा" आलोचनात्मक पुस्तकें हैं। श्री प्रफुल्लदत्त गोस्वामी ने असामिया के प्रथम उपन्यास "कामिनिकान्तर चरित" का सम्पादन किया और आलोचनात्मक भूमिका में उपन्यास लेखक ए० के० गुर्ने तथा ईसाई मिशन की तत्कालीन गतिविधि (सन् १८७७) पर प्रकाश डाला है। बंगला भाषा में कतिपय श्रेष्ठ आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमें आलोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही रूप पाये जाते हैं। उल्लेखनीय रचनाएँ हैं—डॉ० शशिभूषण दासगुप्त की "भारतेर शक्ति-साधना ओ शाक्त साहित्य", श्री राधागोविन्द नाथ की "गौडीय वैष्णव दर्शन", श्री अपर्णा प्रसाद सेन गुप्त की "बांग्ला ऐतिहासिक उपन्यास", तथा श्री अतीन्द्र मजूमदार की "मध्य भारतीय आर्यभाषा ओ साहित्य"।

पंजाबी में दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं—श्री कुलवीर सिंह कांग की "साहित्य चिन्तन" तथा श्री निर्मल सिंह की "कहानीकार करतार सिंह दुग्गल"। दोनों ही अत्यन्त सामान्य कोटि की पुस्तकें हैं। उर्दू में श्री फिराक गोरखपुरी, डॉ० मुहम्मद हसन, तथा सैयद मजवती हुसैन के लेख ही आलोचना के अन्तर्गत आते हैं उनका स्तर भी सामान्य ही रहा है।

संस्मरण एवं जीवनचरित

इस वर्ष गद्य के माध्यम से जीवन-चरित लिखने के भी कुछ सुन्दर प्रयास

हुए। डॉ० जी० वी० सीतापति ने अपने पिता तथा आधुनिक तेलुगु आन्दोलन के जन्मदाता स्वर्गीय जी० वी० राममूर्ति के संस्मरणों की एक माला प्रकाशित की। श्री मोक्षगुण्डम विश्वेश्वरय्या की जीवनी श्री तिरुमले तात्ताचार्य शर्मा ने कन्नड़ में लिखी है, कन्नड़ में दो जीवन चरित और लिखे गये हैं—श्री ह० मा० नायक ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जीवन-चरित लिखा, तथा संगीताचार्य श्री वासुदेवाचार्य ने १९वीं २०वीं शताब्दी के मैसूर-संगीत रत्नों की स्मृतियां अंकित की हैं। मलयाली साहित्यिक श्री केशवदेव ने कथा-शैली पर आत्मचरित लिखा है जिसमें स्वकीय जीवन के साथ-साथ साहित्यिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का भी आकर्षक चित्र प्राप्त हो जाता है।

असामिया में डॉ० सूर्यकुमार भुइयाँ ने "हरिहर आता" नामक जीवन-चरित लिखा है। जिसका आधार १८ वीं शती का वैष्णव ग्रन्थ 'कथा-गुरु-चरित' है। श्री हरकान्त बरुआ ने "आत्मजीवनी" नामक पुस्तक में गत ६० वर्ष की कहानी दी है। यह पुस्तक विशेष महत्त्व की है क्योंकि इसमें बर्मी आक्रमणों का इतिहास समाविष्ट हो गया हैं। जीवन चरित लिखने के प्रयत्न बंगला में भी हुए हैं, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विषय में अनेक लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं में संस्मरण लिखे हैं।

इतर साहित्य

इतर साहित्यिक प्रयासों में दार्शनिक रचनाएँ तथा अभिजात ग्रन्थों के सम्पादन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तमिल-साहित्य-सेवियों ने प्राचीन तथा अर्वाचीन रत्नों के सस्ते सुबोध संस्करण निकालने की योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत एक दर्जन पुस्तकें छप चुकी हैं। इस वर्ष संगम-युग के १८ लघु काव्यों में से २ का प्रकाशन हुआ। ये दो हैं—"नालडियार" तथा "पडमोडि नानूरु"। इनका सम्पादन श्री पुलियूर केसिकन ने किया है। तेलुगु में जो दार्शनिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनमें से दो का उल्लेख आवश्यक है। ये ग्रन्थ हैं श्री सत्यनारायण शर्मा का "महा सौर मन्त्र पाठ" तथा श्री निर्विकल्पानन्द स्वामी का "भारतीय तत्त्वशास्त्रमु"। शर्मा जी ने मूल के साथ तेलुगु अनुवाद तथा भाष्य भी दिये हैं। मलयालम में स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं के सटीक अनुवाद हुए हैं। वस्तुतः अनुवादों की दृष्टि से मलयालम भारतीय भाषाओं में अत्यन्त सम्पन्न मानी जा सकती है। इस वर्ष वाल्मीकीय रामायण तथा मेघदूत के अनुवाद हुए। श्री मैथ्यू एम० कुड़िवेली यूनानी नाटकों का अनुवाद कर रहे हैं।

इस प्रकार परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से सन् १९६० महत्त्वपूर्ण वर्ष माना जा सकता है। दक्षिण भारत की दो संस्थाओं ने इस वर्ष अपनी सफलता का उत्सव मनाया है। दक्षिण भारत शैव सिद्धान्त साहित्य प्रकाशन सोसाइटी मद्रास ने

१००८वीं पुस्तक प्रकाशित कर इस वर्ष को महत्त्व देते हुए एक उत्सव-ग्रन्थ प्रकाशित किया है जिसमें विद्वानों ने गंभीर एवं उच्चस्तरीय लेख लिखे हैं। दक्षिण भारतीय भाषा बुक ट्रस्ट ने अपने २००वें प्रकाशन का उत्सव दिल्ली में मनाया था, जिसमें देश के साहित्यिक तथा नेताओं ने भाग लिया। दिल्ली में इस वर्ष "भारती साहित्य संगम" की स्थापना हुई है जिसका उद्घाटन राष्ट्रपति महोदय ने किया था; 'संगम' का उद्देश्य ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन देना है जो साधन तथा साध्य दोनों की पवित्रता में विश्वास रखता हो। एक दशाब्दी से अधिक की स्वातन्त्र्योत्तर उत्क्रान्ति के अनन्तर आज भारतीय साहित्य जीवन के मूल्यों के प्रति श्रद्धावान् है वह मानव-मन में ऐसे विश्वास का सिंचन करना चाहता है जो जीवन को काम्य-मधुर साथ ही दृढ़ एवं समर्थ बना सके। आशा है आगामी साहित्य पाठक को सन्मार्ग का प्रदर्शन करता हुआ उसे उच्च से उच्चतर की ओर ले जा सकेगा।

विभिन्न प्रकाशन

हमारे पुरस्कृत प्रकाशन

पुस्तक	लेखक	मूल्य
मीरा (महाकाव्य)	परमेश्वर 'द्विरेफ'	५.००
धन्यवाद	'बेढब' बनारसी	२.००
उपहार	,, ,,	१.७५
साकल्य	पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी	४.००
दिगम्बर	,, ,,	२.००
आधान	,, ,,	२.५०
इन से	आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल	२.५०
भारतीय संस्कृति का इतिहास: वैदिक धारा	डॉ० मंगलदेव शास्त्री	७.००
मधुमालती : मंझन कृत	डॉ० शिवगोपाल मिश्र	८.००
हास्य की रूपरेखा	डॉ० एस० पी० खत्री	६.००
हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	डॉ० त्रिभुवन सिंह	८.००
भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि	डॉ० किशोरीलाल गुप्त	१०.००
सूर के सौ कूट	चुन्नीलाल 'शेष'	५.००
हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास	डॉ० शम्भूनाथ सिंह	१२.००
श्रीराधा का क्रमविकास	डॉ० शशिभूषण दास गुप्त	८.००
डॉ० इक़बाल और उनकी शायरी	प्रो० हीरालाल चोपड़ा	३.५०
भारतीय प्रेमाख्यान काव्य	डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव	१०.००
आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा	डॉ० त्रिभुवन सिंह	४.००
रत्नाकर और उनका काव्य	उषा जायसवाल	५.००
छायावाद के गौरव-चिह्न	प्रो० 'क्षेम'	६.००
भारत का राजनीतिक इतिहास (१७५७—१९५६)	राजकुमार	१०.००
नेहरू और भारतीय राजनीति	प्रमोद कुमार	५.००
पुस्तकालय-विज्ञान	द्वारकाप्रसाद शास्त्री	५.००
भारत में पुस्तकालयों का उद्भव और विकास	,, ,,	५.००
मुद्रा और बैंक	सुधाकर पाण्डेय	६.००
मिट्टी का प्रारम्भिक अध्ययन	डॉ० जयरामसिंह : डॉ० लवानिया	२.७५

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-१

हिन्दी-विभाग दिल्ली-विश्वविद्यालय

द्वारा प्रकाशित

समालोचना-साहित्य

काव्यकला	सं०—श्री महेन्द्र चतुर्वेदी तथा डॉ० रांगेय राघव	२ ५०
पाश्चात्य काव्यशास्त्र की भूमिका	सं०—डॉ० सावित्री सिन्हा	१०·००
हिन्दी अभिनवभारती	व्या०—आचार्य विश्वेश्वर	२५·००
हिन्दी नाटयदर्पण	व्या०— ,,	२२·००